हिन्दी भाषा : रूप-विकास

लेखक—

डा० सरनामसिंह शर्मा, 'अरुण'

एम० ए० पीएच० डी० डी० लिट्०,

प्रोफेसर हिन्दी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर

चिन्मय प्रकाशन

प्रकाशक
चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता
जयपुर ३

●

मुख्य विक्रेता
दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
चौड़ा रास्ता   सोजती गेट
जयपुर-३   जोधपुर

●

प्रथम संस्करण
१९६८

●

पुस्तकालय संस्करण १५ रुपया
विद्यार्थी संस्करण १ रुपया

●

मुद्रक
दी युनाइटेड प्रिंटर्स
जयपुर-३

वक्तव्य

'हिन्दी भाषा रूप-विकास' पाठकों के हाथों में है। सामान्यतया रूप-विकास के अध्ययन में ध्वनि अध्ययन सम्मिलित नहीं किया जाता किन्तु ध्वनि-विकास तो रूप-विकास की आधार-भूमि है। 'नामों' और क्रियाओं के रूप में विकास की जितनी भूमिकाएं दृष्टिगोचर होती हैं उन सब में ध्वनि-योग अनिवार्य है। लिंग वचन आदि में समय के प्रवाह के साथ रूप-रूप जो मोड़ परिवर्तन की जो दिशा ग्रहण करते हैं उनकी भूमिका ध्वनि-परिवर्तन में निहित है। इसीलिए लेखक ने रूप-विकास में 'ध्वनि' की विवेचना भी की है।

इस ग्रन्थ के प्रेरणा-स्रोतों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि यह ग्रन्थ उन्हीं के कारण रूपायित हुआ है। इसमें देश-विदेश के अनेक विद्वानों के अनेक मतों का विविध प्रकार से उपयोग किया गया है। जिस मत का मैंने खंडन किया है वह मेरी प्रेरणा का सबसे बड़ा स्रोत बना है।

भाषा के प्रवाह को रोकने के जो प्रयत्न हो रहे हैं मुझे उन्हीं से इस ग्रन्थ के लिखने की प्रमुख प्रेरणा मिली है। यही कारण है कि मैंने वैदिक भाषा से आज तक के भाषा-परिवर्तन की परिस्थितियों और दिशाओंका निरूपण प्रस्तुत किया है। मुझे ऐसा लगा है कि भाषा के सहज प्रवाह को रोकने के जितने प्रयत्न हुए वे सभी तत्काल ही अथवा कुछ पश्चात् निष्फल सिद्ध हुए। यह कौन कह सकता है कि अमुक भाषा को अमुक सांस्कृतिक भौतिक औद्योगिक आदि परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा? और ये परिस्थितियां भाषा को प्रवाह प्रदान करती हैं, इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता।

भारतीय आर्य भाषा के विकास में ऐसी अनेक परिस्थितियों का योग रहा है। हिन्दी भाषा का वर्तमान स्वरूप उन परिस्थितियों को भुला नहीं सकता। युगों की चट्टानों को तोड़ती हुई भाषा धारा मनुष्य के विकास का इतिहास अंकित करती हुई अनन्त की ओर बढ़ती चली जा रही है। क्या मुद्रण-यन्त्र और प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रवाह को अवरुद्ध कर सकेंगे? न जाने कौन परिस्थिति किस समय आविर्भूत होकर भाषा के उपचारकों को अपना अनचाहा सहयोग देने लगेगी। आर्य भाषा के विकास का इतिहास न तो विदेशी आक्रमणों की कहानी को भुला सकता है और न अन्तर्देशीय उत्क्रान्तियों को ही, इसलिए यह कहना दुष्कर ही है कि देश में परिस्थितियों की अनुक्रमणिका स्थिर हो जायेगी फिर यह कहना भी दुष्कर ही होगा कि हमारी भाषा की धारा अब आगे न बढ़ेगी।

भाषा प्रवाह की जिन कल्लोलों में 'असुर' 'मेवभूप' की कहानी सुनायी पड़ती है उसी प्रकार क्या 'बुद्ध' और 'मक्टा' की कहानी सुनायी नहीं पड़ती ? यदि पड़ती है तो आगे भी यह परंपरा रुक नहीं सकती । हो सकता है कि विकास में कुछ मन्दता आ जाये किन्तु व्यक्तिगत ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ भाषा भेद एवं भाषा विकास की भूमिका को आगे बढ़ा ले जायेंगी इसमें सन्देह की कोई बात दिखायी नहीं पड़ती ।

देश में भाषा के अध्ययन-अध्यापन का एक बहुत प्राचीन इतिहास है । लंदन मंडल की प्रवृत्तियों में भाषाध्ययन का विकास हुआ और हो रहा है । प्रस्तुत अध्ययन उसी शृंखला की एक कड़ी है । यह कृति व्याकरणिक ऐतिहासिक अध्ययन होते हुए भी व्याकरण और इतिहास नहीं है । अपनी व्युत्पत्तिक भूमिका में यह अध्ययन विकास का विवरण प्रस्तुत करता हुआ वर्णनात्मक दृष्टि को भी किसी अंश तक समाहित करता है ।

इस कृति के अंत में एक लघु परिशिष्ट है जिसमें (क) 'हिन्दी-पद क्रम (ख) 'भाषा और लिपि' तथा (ग) 'भारतीय भाषा-विज्ञान का इतिहास' दिया गया है । 'अपभ्रंश का विकासक्रम तथा 'हिन्दी की तद्भव शब्दावली के साथ प्रस्तुत अध्ययन पाठकों की भाषा-रुचि को प्रेरित और मार्जित करने में अपना समुचित योग देगा यह अनुमान अनर्गल न होगा । यदि इससे भाषा-ज्ञान के विकास को कुछ भी सहायता मिली तो लेखक अवश्य ही अपने श्रम को सफल समझेगा ।

लेखक

हिन्दी-भाषा: रूप-विकास

अनुक्रमणिका

अध्याय १

अनुनासिकता।

व्यंजन-परिवर्तन परिवर्तन-प्रक्रिया।

संयुक्त व्यंजन—१ सबल संयोग २ मिश्र संयोग, ३ निर्बल संयोग

१ सबल संयोग—स्पर्श+स्पर्श संयोग।

२ मिश्र संयोग—सबल (स्पर्श) + निर्बल (अनुनासिक अन्तःस्थ या ऊष्म) संयोग

३ निर्बल संयोग—(क) अनुनासिक+अनुनासिक संयोग।

(ख) अनुनासिक+अन्तःस्थ संयोग।

(ग) अनुनासिक+ऊष्म संयोग।

(घ) अन्तःस्थ+अन्तःस्थ संयोग।

(ङ) अन्तःस्थ+ऊष्म संयोग।

अध्याय ४

संज्ञा शब्द पृ० १७३-२१२

रचना—धातु, मध्य अनुबंध एवं अन्त्य प्रत्यय।

प्रयोगार्ह शब्द—धातु, शब्दनिर्माणकारी प्रत्यय तथा रूप-निर्माणकारी प्रत्यय।

नाम शब्द-भेद—कृदन्त तथा तद्धितान्त।

कृत् प्रत्यय एवं मूल संज्ञा शब्द—हिन्दी के अकारान्त शब्द।

संस्कृत अकारान्त शब्दों पर अन्त्याक्षरीय बलाघात का प्रभाव

'न' तथा 'मन' प्रत्ययान्त शब्द।

अकारान्त नपुंसक शब्दों का हिन्दी में विभाजन—(१) सरल नामवाचक संज्ञाएँ (२) भाववाचक संज्ञाएँ।

व्यंजनान्त अर्द्धस्वरीय अकारान्त शब्द—(क) यकारान्त (ख) रकारान्त (ग) लकारान्त (घ) वकारान्त।

व्यंजनान्त 'म्' वाले अकारान्त शब्द, कृदन्तस्थ अकारान्त शब्द (ककारान्त शब्द)—

(१) कर्तृबोधक शब्द

(२) कर्तृत्व संकेतक शब्द

(३) कर्तृत्वलोपक शब्द

हिन्दी में संस्कृत के ककारान्त शब्द।

'अक'-पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग शब्द 'क' अन्त (स्त्री वाचक) अन्य 'इक' 'उक'—'ऊ' 'उमा' 'आक ऊक', 'त' 'इक' आकारान्त (स्त्रीलिंग) अकारान्त (स्त्रीलिंग) अकारान्त (पुल्लिंग) 'अन्' 'मन्' 'वत्' तथा 'इन्', 'इ', 'नि' 'कि' 'ककार'

'श्रौटी 'श्रौती' 'अक्कड़' 'एरा' 'श्रोड़ श्रोड़ा' श्रोर, श्रोरा', आड़ी' 'क' 'अक' आस' 'ऐया' हार' 'ह्र' 'ढ़' 'ऐत' 'आई' 'ई 'उ' 'ब', आहट' आवट वट' आव' आवन ऐती' अ', स', आस, त' औवल 'अन्त', आन' 'आप' आव' 'न' 'आ' 'नी'।

तद्धित प्रत्यय एव गौण अथवा यौगिक संज्ञा शब्द—

(क) सर्वनाम शब्द— भाववाचक संज्ञाए ।

(ख) क्रियापद— भाववाचक संज्ञाए ।

आई' 'आका' ई','पन' 'प' 'पा', आवट' 'वट', 'आहट' आट' 'आस 'स' 'आ' 'ई' 'इया' 'वाम' 'वाला' 'वत' 'ई' आर' 'आरी' 'अस' 'आम' आला' 'आली' ऐत' 'एस' 'एली' एरा' 'श्रा', 'श्री

अपत्यवाचक संज्ञाए —'आयेय' आनेय' ।

लघुवाचक संज्ञाए —'श्रौटा' 'श्रौटी' 'ड़ा' 'ड़ी' ला' ली' । 'हर' 'हारा' 'आना' 'वाला', 'खोर' 'गर' 'गीर', गरी 'वा वी' 'वान' 'दानी' दार' 'नवीस', 'बन्द' 'बन्दी' 'मद' 'मंदी 'वान', बाज

अध्याय ५

विशेषण शब्द पृ० २१३—२२६

१ सार्वनामिक विशेषण—

(क) मूल सर्वनाम (ख) यौगिक सर्वनाम

२ गुण वाचक विशेषण—

(क) कालवाचक (ख) स्थानवाचक (ग) आकारवाचक

(घ) रंगवाचक (ङ) दशावाचक (च) गुणवाचक

(छ) दिशावाचक (ज) समयवाचक

(ग) मूल कृदन्त या गुणवाचक विशेषण ।

(क) भूतकालिक कृदन्त विशेषण—

(i) 'त' प्रत्यय (ii) 'न (क्त) प्रत्यय (iii) 'य' (क्त) प्रत्यय

(ख) वर्तमानकालिक कृदन्त विशेषण —

(i) 'मान प्रत्यय

(ग) भविष्यत्कालिक कृदन्त विशेषण —

(i) 'तव्य' प्रत्यय (ii) 'अनीय प्रत्यय, (iii) 'य प्रत्यय

(आ) यौगिक गौण या तद्धितान्त गुणवाचक विशेषण ।
'इक' 'इत' इष्णु' 'इम' ईन (ईण) 'मायु' ईयसुन' व,
'र', ल' 'वी', निष्ठ' 'मान्' 'वान्' 'शील'।

३ कृदन्तवाचक कृदन्तीय विशेषण ।
याऊ', माक' माड़ी' मालू' इया 'ऊ' 'एरा' एत' ऐया'
'ओड़' ओड़ा' 'क' 'क्कड़' ('अक्कड़') 'टा', 'ना 'वन'
'वाला', वैया', 'सार' हार', 'हारा', आदि ।

४ हिन्दी के तद्धितीय विशेषण ।
'आ 'इयल', 'इया' 'ई 'की' (ई), 'ऊ', 'एरा', ऐल', ओ'
ओला' 'वाला 'ला' 'वत' हा' हर' 'हरा' हला
एली 'एलू।'
विदेशी प्रत्यय—'आना गीन' 'नाक', 'वान' मद' 'वर'
'वार 'बाज'

५. संख्यावाचक विशेषण —
(I) निश्चित संख्यावाचक विशेषण— ।
(क) गुणवाचक (पूर्णाङ्कबोधक) विशेषण, (ख) अपूर्णाङ्कबोधक गणनावाचक विशेषण (ग) क्रमवाचक विशेषण (घ) आवृत्ति वाचक (गुणात्मक) संख्यावाचक विशेषण (ङ) समुदाय-वाचक संख्यावाचक विशेषण (च) प्रत्येक बोधक संख्यावाचक विशेषण ।
(ii) अनिश्चितसंख्यावाचक विशेषण (iii) परिमाणबोधक संख्यावाचक विशेषण ।

अध्याय ६

अध्याय ७
अविकारी (अव्यय) शब्द

(अ) क्रियाविशेषण
(१) प्रयोगाधारभेद
(क) साधारण क्रियाविशेषण ।
(ख) संयोजक क्रियाविशेषण ।
(ग) अनुबद्ध क्रियाविशेषण ।

(२) रूपाधार भेद—

(क) मूल क्रियाविशेषण।

(ख) यौगिक क्रियाविशेषण-यौगिक क्रियाविशेषण-निर्माण-पद्धति।

(ग) स्थानीय क्रियाविशेषण।

२ अर्थाधार क्रियाविशेषण

(क) स्थानवाचक क्रियाविशेषण
(i) स्थितिवाचक (ii) दिशावाचक

(ख) कालवाचक क्रियाविशेषण—
(i) समयवाचक (ii) अवधिवाचक
(iii) पौनःपुन्यवाचक

(ग) परिमाणवाचक क्रियाविशेषण—
(i) अधिकताबोधक (ii) न्यूनताबोधक
(iii) पर्याप्तिबोधक (iv) तुलनाबोधक
(v) श्रेणीबोधक

(घ) रीतिवाचक क्रियाविशेषण—
(i) प्रकार (ii) निश्चय (iii) अनिश्चय
(iv) स्वीकार (v) कारण (vi) निषेध
(vii) अवधारण

(आ) संबंधबोधक अव्यय—

प्रमुख भेदाधार—(i) प्रयोग—संबंध अनुबंध।
(ii) अर्थ — (क) कालबोधक
(ख) स्थानवाचक (ग) दिशाबोधक
(घ) साधन बोधक (ङ) हेतुबोधक
(च) विषयबोधक (छ) व्यतिरेकबोधक
(ज) विनिमयबोधक (झ) सादृश्य बोधक (ञ) विरोधबोधक
(ट) सहचारबोधक (ठ) संग्रहबोधक
(ड) तुलनाबोधक

व्युत्पत्ति की दृष्टि से संबंधबोधक के भेद—

१ मूल संबंधवाचक

२ यौगिक संबंधबोधक—(क) संज्ञा से।
(ख) विशेषण से। (ग) क्रिया विशेषण से।
(घ) क्रिया से।

(इ) समुच्चयबोधक अव्यय—

[क] समानाधिकरण समुच्चयबोधक-(i) संयोजक

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

अध्याय ११

अध्याय १

हिन्दी भाषा रूप-विकास

भूमिका

आज वैज्ञानिक सुविधाएं जिसमें से शोधकार्यों को बहुत प्रोत्साहन मिला है। इन्हीं शोध कार्यों में वाणी विज्ञान को भी स्थान मिला है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में 'शब्द' की बहुत भारी गवेषणा हुई है। इसका कारण है यान्त्रिक साधनों की उपलब्धि। प्राचीन काल में जब ये साधन उपलब्ध नहीं थे तब हमारे महर्षियों की सूक्ष्म दृष्टि ने सूक्ष्मतम गवेषणाएं की थी। उन्होंने आत्मप्रत्यक्ष या आत्मानुभव द्वारा अनेक प्रयोग किये थे जिनके सम्बन्ध में परवर्ती पीढ़ियों ने अनेक सिद्धान्त बनाये। भाषा की भूमिका पर 'शब्द' एक महत्वपूर्ण वस्तु है। उच्चरित और लिखित उसके दो रूप होते हैं। इन दोनों की गवेषणा भाषा के इतिहास के लिए अनिवार्य है।

शब्द-स्वरूप —

यह बात सब जानते हैं कि शब्द का ज्ञान श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही हो सकता है। शब्द की मधुरता कठोरता तीव्रता और मन्दता आदि के विषय में प्राय पुस्तकों में अनेक प्रकार की चर्चाएं मिलती हैं किन्तु शब्द के मूल का अनुसन्धान मत भेद के साथ हुआ है।

आपिशलि नामक वैयाकरण ने शब्द की उत्पत्ति के क्रम के सम्बन्ध में लिखा है कि जब कोई बोलने वाला बोलने का प्रयत्न करता है तो सबसे पहले प्राणवायु नाभि-प्रदेश से उठता हुआ उर आदि स्थानों में प्रवेश करता है। बोलने के स्थान आठ हैं—१ उर २ कण्ठ ३ शिर ४ जिह्वामूल ५ दन्त ६ नासिका ७ ओष्ठ तथा ८ तालु। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—आस्य प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। मुख के भीतर का प्रयत्न आस्यप्रयत्न होता है। होठ से लेकर कण्ठमणि तक का भाग मुख कहलाता है। मुख के सिवा शरीर के अन्य कोष्ठ (कोठे) में होनेवाला प्रयत्न बाह्य प्रयत्न होता है। जिह्वामूल मध्यभाग और अग्र भाग ये तीन करण हैं।

किसी एक उच्चारण-स्थान में विनिवेशमान प्राणवायु अपने आश्रय-रूप स्थान के साथ अड़ जाता है—उस स्थान का अभिहनन करता है, जिससे बाहर आकाश में ध्वनि उत्पन्न होती है। वह 'वर्णश्रुति' कहलाती है जो वर्ण का आत्मलाभ' है। इसी ध्वनि का नाम 'शब्द' है। इसी ध्वनि में शब्द की आत्मा निहित है।

इस ध्वनि के उत्पन्न होने के समय जब स्थान करण और प्रयत्न एक दूसरे का स्पर्श करते हैं तब उस स्पर्श को स्पृष्टता प्रयत्न' कहते हैं। जब वे एक दूसरे का थोड़ा-थोड़ा स्पर्श करते हैं तो उस स्पर्श को 'ईषत्स्पृष्टता' कहते हैं किन्तु जब वे एक दूसरे का स्पर्श निकट से करते हैं तब उस क्रिया को 'संवृतता कहते हैं और जब एक दूसरे से दूर रह कर स्पर्श करते हैं तब वह क्रिया विवृतता' कहलाती है। ये चारों प्रयत्न मुख के भीतर होते हैं इसलिए उनको आन्तर प्रयत्न' या आस्यप्रयत्न कहते हैं।

जब ऊपर चढ़ता हुआ प्राणवायु मूर्धा में प्रतिहत होकर लौट कर अपने कोष्ठ (कोठे) का अभिहनन करता है और इस स्थिति से कण्ठबिल विवृत होता है तब उस क्रिया को 'विवार' कहते हैं। यदि इस स्थिति से कण्ठबिल संवृत होता है तो उस क्रिया को 'संवार कहते हैं। जब कण्ठबिल विवृत होता है तब वायु सम्बन्ध से जो क्रिया होती है वह 'श्वास' कहलाती है और जब कण्ठबिल 'संवृत' होता है तब एक 'नाद-रूप' क्रिया को अवकाश मिलता है। 'श्वास' और 'नाद' इन दोनों का एक नाम 'अनुप्रदान है।

जब स्थान-करण के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि में नाद का अनुस्थान (अनुप्रदान) होता है तो नाद और ध्वनि के संसर्ग से 'घोष' की उत्पत्ति होती है और जब श्वास का अनुस्थान (अनुप्रदान) होता है तब श्वास और ध्वनि के संसर्ग से अघोष का जन्म होता है। वायु के अल्पत्व की दशा में अल्पप्राणता और आधिक्य या महत्व की दशा में महाप्राणता होती है। महाप्राणता के कारण ऊष्मत्व' होता है।

जब सर्वांगानुसारी प्रयत्न तीव्र होता है तब गात्र का निग्रह कण्ठबिल का संकोच और वायु की तीव्र गति के कारण स्वर में रूक्षता होती है। उच्चारण की इस क्रिया को 'उदात्त' प्रयत्न कहते हैं। जब यह सर्वांगानुसारी प्रयत्न मंद होता है तब गात्र ढीला पड़ जाता है, कण्ठबिल बड़ा हो जाता है और वायु की मन्दगति के साथ स्वर में स्निग्धता आ जाती है। इस उच्चारण-क्रिया को अनुदात्त' प्रयत्न कहते हैं। जब उदात्त और अनुदात्त दोनों स्वरों का सन्निपात (मिलन) हो जाता है तो उस उच्चारण प्रवृत्ति का स्वरित प्रयत्न कहते हैं।[1] इस

---

१ निरुक्त १ १ १६

प्रकार १ विवार, २ संवार, ३ श्वास ४ नाद ५ घोष ६ अघोष ७ अल्प-प्राण ८ महाप्राण ९ उदात्त १० अनुदात्त और ११ स्वरित—ये ग्यारह बाह्य प्रयत्न हैं। प्रत्येक स्वर और व्यंजन के स्थान करण प्रयत्न (आस्य और बाह्य प्रयत्न) की विवरणिका नीचे दी गयी है —

स्थान भेद —

१ क-वर्ग (क ख ग घ ङ) ह अ आ तथा विसर्ग—कण्ठ्य

२ च-वर्ग (च छ, ज झ, ञ) य श इ, ई, तथा ए, ऐ—तालव्य

३ ट-वर्ग (ट ठ ड ढ, ण) र ष ऋ (तथा ॠ)—मूर्धन्य

४ त-वर्ग (त थ द ध न) ल स (तथा लृ, ळ)—दन्त्य

५ प-वर्ग (प फ ब भ म) उपध्मानीय (प तथा फ से पूर्व रहने वाला महाप्राण विसर्ग)

उ ऊ, तथा ओ औ — ओष्ठ्य

६ व – दन्तोष्ठ्य

७ जिह्वामूलीय (क' तथा 'ख' से पूर्व आने वाला महाप्राण विसर्ग)–
जिह्वामूल

८. अनुस्वार—नासिका

९ अनुनासिक—ङ ञ ण न म—वर्गीय स्थान तथा नासिका

प्रयत्न–भेद—

१ 'क' से 'म' तक के व्यंजन—स्पृष्ट प्रयत्न (आस्य प्रयत्न)

२ य र ल व—ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न

३ श ष स ह, ईषद्विवृत प्रयत्न

४ 'अ' से 'औ' तक के स्वर—विवृत प्रयत्न

५ ए—ओ—विवृततर प्रयत्न

६ ऐ—औ——अतिविवृततर प्रयत्न

७ अ—आ——अतिविवृततम प्रयत्न

सूचना— अ' से ल तक के स्वरों में से प्रत्येक स्वर का भिन्न भिन्न उच्चारण है। नमूने के लिए अ' के भिन्न-भिन्न उच्चारण नीचे दिये गये हैं —

क निरनुनासिक उच्चारण—

१ ह्रस्व उदात्त 'अ'	४ दीर्घ उदात्त 'आ'	७ प्लुत उदात्त 'अ' ३
२ „ अनुदात्त 'अ'	५ अनुदात्त 'आ'	८ „ अनुदात्त 'अ' ३
३ „ स्वरित अ'	६ „ स्वरित 'आ'	९ स्वरित 'अ' ३

ख सानुनासिक उच्चारण—

१० ह्रस्व उदात्त 'अँ'	१३ दीर्घ उदात्त 'आँ'	१६ प्लुत उदात्त 'अँ' ३
११ ,, अनुदात्त अँ	१४ ,, अनुदात्त 'आँ'	१७ ,, अनुदात्त 'अँ' ३
१२ ,, स्वरित अँ	१५ ,, स्वरित आँ	१८ स्वरित अँ ३

सूचना—इसी प्रकार 'ऋ' आदि सब स्वरों का अलग-अलग उच्चारण समझना चाहिये। ए, ओ ऐ, औ—इन चार के संस्कृत-प्रयोगों में ह्रस्व उच्चारण नहीं है। इनमें से प्रत्येक का ह्रस्व के सिवा पूर्वोक्त बार-बार उच्चारण समझना चाहिये।

य ल व—इनमें से प्रत्येक के दो-दो उच्चारण हैं — एक सानुनासिक और दूसरा निरनुनासिक।

१ य ल व—निरनुनासिक
२ यँ लँ वँ—सानुनासिक

बाह्य प्रयत्न

१ क ख च छ, ट ठ त थ प फ श, ष स विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय	विवार, श्वास तथा अघोष
२ ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य र ल व ह और अनुस्वार	संवार नाद तथा घोष
३ क ग ङ च ज ञ ट ड ण त द न प ब म य र ल व	अल्पप्राण
४ ख घ छ झ, ठ ढ, थ ध फ भ श ष स तथा ह	महाप्राण

कितने ही स्वरों और व्यंजनों की उच्चारण-प्रक्रिया में प्राचीनों का मतभेद मिलता है जैसे—

१ अ-वर्ण का स्थान—मुख
२ ह तथा विसर्ग का स्थान—उरस् (छाती)
३ क-वर्ग का स्थान—जिह्वामूल
४ रेफ का स्थान—दन्तमूल
५ ए-ऐ— कंठ और तालु
६ ओ-औ— कंठ और ओष्ठ
७ व का स्थान—मुख-दन्तोष्ठ या दन्तकण्ठ

८ जिह्वामूलीय का स्थान—कंठ

९ अनुस्वार का स्थान— कंठ-नासिका

१० श ष स ह—इन चार ऊष्माक्षरों का आन्तर प्रयत्न विवृत

११ अकार का—संवृत

प्राणवायु और स्थानों के अभिघात से जो उच्चारण-व्यापार होता है उसका नाम आस्यप्रयत्न तथा प्राणवायु और कोठे के अभिघात से जो व्यापार होता है उसको बाह्यप्रयत्न कहते हैं। आस्यप्रयत्न की ध्वनि निकलते समय होती है और बाह्य प्रयत्न की ध्वनि निकलने के बाद होती है। उच्चारण-शास्त्र के अभ्यासी के लिए उच्चारण-सम्बन्धी इतना विवरण उपयोगी है। शुद्धता की दृष्टि से शब्द का उच्चारण शुद्ध शुद्धतर तथा शुद्धतम—इन तीन वर्गों म विभक्त किया जा सकता है।

स्पर्श गन्ध रस और रूप जितने स्पष्ट होते हैं उतना शब्द नहीं होता। शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं।

१ कपिल का मत

सांख्य तत्त्वज्ञान[1] के आद्य पुरुष कपिल मुनि ने शब्द को प्रकृति का विकार बतलाया है। प्रकृति जड़ है व्यापक है। आकाश प्राकृतिक है और उसकी उत्पत्ति शब्द तन्मात्रा से हुई है। तन्मात्रा की कल्पना परमाणु शब्द से हो सकती है।

२ गौतम-कणाद का मत—

न्याय दर्शन के अग्रणी गौतम मुनि ने तथा वैशेषिक दर्शन के पुरोधा कणाद मुनि ने शब्द को आकाश का गुण बतलाया है। कदम्बगोलक न्याय अथवा वीचि तरङ्ग न्याय से शब्द को उससे प्रसारित माना है।

३ जैन मत

जैनमत[2] मुख्य रूप से दो तत्त्वों को स्वीकार करता है चेतन और जड़। जड़ के दो रूप हैं—एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। पुद्गल मूर्तकोटि का जड़ कहलाता है

---

१ देखिये सांख्यतत्त्वकौमुदी—

प्रकृतेर्महान् ततः अहङ्कार तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्य पंचभूतानि" ॥ २२ ॥

व्याख्या-"पंचभ्य तन्मात्रेभ्य पंचभूतानि—आकाशादीनि तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम -(सांख्यतत्त्वकौमुदी)

२ उत्तराध्ययनसूत्र २८. १२

और आकाश अमूर्त कोटि का। शब्द मूर्तिमान् है इसलिए वह पुद्गल का विशेष प्रकार का परिणाम है। शब्द और आकाश में गुण-गुणी अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध को जैन दृष्टि स्वीकार नहीं करती। भाषा की-शब्द की—वर्गणाए लोकाकाश में प्रसृत है। 'वर्गणा' का तात्पर्य 'परमाणु' शब्द से अभिव्यक्त हो सकता है।

मूल द्रव्यग्राही द्रव्यार्थिक नय[1] की दृष्टि से 'शब्द' नित्य कहलाता है और परिणामग्राही पर्यायार्थिक नय[2] दृष्टि से 'शब्द' अनित्य माना जाता है।

शब्द का उपादानकारण शब्द की वर्गणाए है और प्रेरक कारण अथवा संयोजक कारण 'जीव' है। शब्द का अणु-रूप बद्धवद् है। उच्चार्यमाण अथवा उत्पद्यमान शब्द गतिशील है। महाप्रयत्न[3] से उत्पन्न शब्द लोक के छिद्र छिद्र में पहुच जाता है और बाद में टूट जाता है किन्तु मन्द प्रयत्न से उत्पन्न शब्द अमुक माप तक फैलने के बाद बिखर जाता है।

भाषा की वर्गणाए शब्द रूप मे परिणत होती है। उनमें रूप रस गंध और अविरोधी (दो) स्पर्श होते है। वर्गणाए अपने आप में गतिशील नहीं है किन्तु शब्द रूप में परिणत वर्गणाए गतिशील है।

४ बौद्धमत

बौद्धपरपरा[4] की दृष्टि से समग्र विश्व पंचस्कन्धात्मक है। उनमें से रूप स्कन्ध म 'शब्द' का समावेश है। यह मत शब्द के भौतिक स्वरूप को स्वीकारता है।

---

१ सम्मति प्रकरण गा० ३

२ सम्मतिप्रकरण गा० ३

३ आवश्यक सूत्र-नियुक्ति, पृ० १७ तथा—

> चउहि समएहि लोगो भासाइ निरंतरं तु होइ फुडो।
>
> लोगस्स य चरमते चरमंतो होइ भासाए।" १०

४ बौद्धमत मे चार आर्य सत्यों को तत्वरूप बतलाया गया है दुःख समुदय मार्ग और निरोध। दुःख के पांच प्रकार है विज्ञान वेदना संज्ञा संस्कार और रूप। दुःख क प्रकारभूत रूप में ही 'शब्द' का समावेश है।

—षड्दर्शनसमुच्चय—बौद्धदर्शन।

पतञ्जलि और भर्तृहरि का मत

महान वैयाकरण पतंजलि[1] ने और वाक्यपदीय के प्रणेता भर्तृहरि[2] ने स्फोटरूप निरवयव शब्द को नित्य कहा है और मुखादि द्वारा अभिव्यज्यमान शब्द को अनित्य कहा है। इन दोनों वैयाकरणों ने शब्द का परमाणु होना स्वीकार किया है। श्रवणगोचरता को प्राप्त ध्वनियों को उन्होंने 'वैखरी'[3] वाणी नाम दिया है। इतना ही नहीं और भी देखिये —

> "अनादिनिधनं शब्द-ब्रह्मतत्त्वं यद् अक्षरम् ।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥
>
> —वाक्यपदीय श्लोक १

अर्थात् 'अनादि अनंत और अक्षरात्मक शब्दब्रह्म अर्थ रूप में विवर्त पाता है और उससे जगत् की प्रक्रिया चल रही है।" इन शब्दों में 'शब्दतत्त्व' की अपूर्व-अवर्ण्य-प्रतिष्ठा का वर्णन है।

इस प्रकार हमारे महर्षियों ने 'शब्दतत्त्व' के दर्शन को अलग-अलग दृष्टियों से निरूपित किया है।

शब्द और शब्दार्थ —

जिस प्रकार शब्द के स्वरूप के विषय में प्राचीन लोगों ने पृथक्-पृथक् अनुभवों को संघटना की है उसी प्रकार 'शब्द' और 'शब्दार्थ' अथवा 'पदार्थ' के बीच सम्बन्ध की भिन्न भिन्न मान्यताएं प्रचलित हैं।

उक्त विचारों द्वारा प्राचीन चिंतकों ने 'शब्द के स्वरूप के विषय में कोई एक निर्णीत सिद्धांत भले ही न दिया हो, किन्तु जिस समय यांत्रिक शोध की इतनी बड़ी सामग्री न थी और इतनी शिष्ट गिनी जाती हुई प्रजा असंस्कारी जीवन व्यतीत

---

१ देखिये महाभाष्य (अभ्यंकर शास्त्री द्वारा संपादित) पृ० ११

२ अणव सर्वशक्तित्वाद् भेद-संसर्गवृत्तय ।
छायाऽतपतम —शब्दभावेन परिणामिन ॥ ११२
स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिता ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणव ॥ ११३

—वाक्यपदीय प्रथम कांड।

३ 'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक्प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥

—स्याद्वादरत्नाकर प्रथम भाग पृ० ८६, अवतरण।

करती थी उस समय भी हमारे पूर्वज चिन्तकों के चिन्तनीय क्षेत्र में 'शब्द' ने भी एक विशेष स्थान ले रखा था और इस गूढ़ तत्व को समझने के लिए उन चिन्तकों ने जो प्रबल प्रयत्न किया क्या वह अपने गौरव की बात नहीं थी ?

भाषा-स्वरूप —

तुरन्त का पैदा हुआ बच्चा केवल रोने की ध्वनि कर सकता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे हँसने की ध्वनि भी करता जाता है। बाद में तो इस प्रकार की वृत्तियों को व्यक्त करने के लिए शारीरिक चेष्टाओं का आश्रय लेना सीखता है और इस प्रकार करता-करता अर्थ-सूचक टूटे-फूटे शब्द बोलना प्रारम्भ करता है। बाद मे धीरे धीरे स्पष्ट उच्चारण करने लगता है।

अर्जित सम्पत्ति —

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भाषा किसी दिव्य स्रोत से प्राप्त नहीं हुई है जैसा कि धार्मिक ग्रन्थों मे वर्णन मिलता है। धार्मिक भावना चाहे कितना ही मधुर पुट दे दे किन्तु वह वैज्ञानिक सत्य नहीं है। बच्चे की भाषा के उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि बालक समाज से भाषा सीखता है और अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार वह भाषा का प्रयोग कर सकता है। एक हिन्दी-भाषी व्यक्ति अंग्रेजी भाषा का अच्छा लेखक और वक्ता हो जाता है इसका कारण अर्जना-शक्ति है। यही कारण है कि दो मनुष्यों की भाषा शैली में भेद हो जाता है। एक ही स्थान और एक ही वातावरण में पले हुए दो वक्ताओं या लेखकों की भाषा मे जो भेद दिखायी देता है उसका मूल कारण अर्जना ही है अतएव भाषा ईश्वर-प्रदत्त नहीं है वरन् अर्जित सम्पत्ति है। यह समझना भी भ्रम होगा कि भाषा परम्परागत है। पूर्वजों की भाषा ही किसी परिवार में प्रचलित रहे ऐसी बात भी नहीं है। देखा गया है कि एक संस्कृत वक्ता का बेटा संस्कृत का अच्छा वक्ता न होकर अंग्रेजी का अच्छा वक्ता था। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिये कि भाषा परम्परागत है। भाषा अपने सामान्य रूप मे और विशेष रूप में भी विकसित होती है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का इतने रूपों में विकास मिलता है। विकास की गति का अनुमान दो-चार या दस बीस वर्षों में नहीं हो सकता वरन शताब्दियों में उसकी प्रवृत्ति हो पाती है।

भाषा-भेद —

स्पष्ट उच्चारणों के द्वारा भावों या विचारों की अभिव्यक्ति का नाम ही 'भाषा' है। यों तो विचारों और भावों की अभिव्यक्ति संकेतों मे भी हो जाती है किन्तु संकेतों को भाषा की अभिधा नहीं दी जा सकती। यह अलग बात है कि संकेतों मे भी भाषा मे सहायता मिल जाती है। भाषा 'भाष्' धातु से बना

शब्द है जिसका अर्थ है 'व्यक्तवाणी'।[1] इससे सिद्ध है कि विद्वानों ने स्पष्ट उच्चारण को ही भाषा की अभिधा दी है। मैं समझता हूँ कि यह मत भी अपूर्ण ही है क्योंकि यह बहुत संभव है कि किसी स्पष्ट उच्चारण से किसी भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो सके। अतएव किसी शब्द या शब्द-समूह को चाहे वह स्पष्टोच्चरित हो 'भाषा' नाम नहीं दिया जा सकता। जिस शब्द या शब्द-समूह से पूर्ण अभिप्राय व्यक्त होता है उसी को 'भाषा' या 'चार अवयव' कह सकते हैं। भाषा-मनीषियों ने उसे 'वाक्य' नाम दिया है।

भाषा के विकास से भाषा भेद को जन्म मिलता है। कहा जाता है कि १२ कोस पर बोली बदल जाती है। यदि इस न्याय से देखा जाये तो भाषाओं के भेद की कोई सीमा नहीं रहती। भाषा भेद का प्रवाह सनातन है। स्पष्ट रीति से भिन्न-भिन्न भाषा नामों से भाषा-भेद के उद्गम और प्रसार को भले ही युग बीत गये हों किन्तु जब स्पष्ट भाषा का बीजारोपण हुआ तभी भाषा-भेद का बीज भी आरोपित हो गया।

भाषा भेद का कोई-न-कोई निमित्त सदैव विद्यमान रह सकता है। भौगोलिक परिस्थिति ऋतुओं की अनियमितता शीतता का आधिक्य उष्णता की प्रबलता राज्यों की अस्थिरता अन्य अन्य भाषाओं का सम्पर्क स्वच्छ-शुद्ध भाषा के आग्रह का अभाव शरीर और उच्चारणों के साधनों का वैविध्य उच्चारण-स्थान आस्य प्रयत्न करण और बाह्यप्रयत्नों की विविध प्रकार की अशुद्धियाँ अज्ञान एक ही शब्द के अनेक प्रकार के उच्चारण विजयी और विजित लोगों के बीच गाढ़ सम्पर्क पराजितों का ठठ अन्तःपुर तक प्रवेश और रक्त-संबन्ध देशदेशान्तर में भ्रमण और व्यापारादि कार्य के लिए स्थिर वास मिथ्याभिमान अशुद्ध उच्चारण अशुद्ध वाचन और व्याकरण तथा व्युत्पत्ति के प्रति उपेक्षा भाव आदि अनेकानेक कारणों से भाषा भेद उत्पन्न हो सकता है।

उच्चारण —

यदि एक बार यह कल्पना भी कर ली जाये कि किसी एक समाज में शुद्ध उच्चारणों का विशेष ध्यान रखा जाता है बाहर का कोई विशेष सम्पर्क नहीं है और व्याकरण तथा व्युत्पत्ति-शास्त्र के साथ सहानुभूति भी है, किन्तु इन सबके होते हुए भी क्या यह संभव है कि प्रकृति निर्मित मानव उच्चारण स्थान भी सदा एक-से होते हैं या होते रहेंगे? भाषा भेद का निमित्त जितना उच्चारण-स्थान भेद में

---

१ "भाषि व्यक्तायां वाचि" —सिद्धहेम धातुसंग्रह तथा पाणिनीय धातुसंग्रह

निहित है उतना ही प्रकृति विपर्यय—गर्मी सर्दी स्थान-काल के भेद आदि परिस्थितियों में भी निहित है। उस विविध भाषा भेद को जन्म देते ही रहते हैं।[1]

अब तक यह कहा जा चुका है कि शब्द प्रयत्नाधिष्ठित होता है। वायु नाभि से उठता है उर में विस्तार करता है कंठ में विवर्तित होता है मूर्धा को छू कर लौटा हुआ वदन में विचरण करता है और विविध शब्दों को अभिव्यक्त करता है। यहाँ उच्चारणकर्ता का अपराध हो सकता है। जैसे कोई यह कहता हुआ कि 'पूरे स्थान में फिर गा' बीच में गिरता है 'एक बार उपसर्ग कर गा' यह कह कर दो बार करता है ऐसे ही अपराध से गावी आदि शब्दों का प्रवर्तन हुआ है।[2]

यदि एकान्तरूप से जिस प्रकार परम्परा से शब्द सुना जाये उसी प्रकार सदा सबसे उसका उच्चारण किया जाये तो वृद्धव्यवहारपरम्परा के होने से 'गाव्यादि' न होकर 'गवादि' ही होता किन्तु 'प्रयत्ननिष्पत्ति' के कारण ऐसा होता नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि उच्चारण-भेद 'प्रयत्ननिष्पत्ति' के कारण नहीं वरन् 'अप्रयत्ननिष्पत्ति' के कारण होता है। जहाँ शब्द अस्खलित प्रयत्न से अभिव्यक्त हो वहाँ परम्परागत शब्दोच्चारण मात्र से सब समान विधान हों किन्तु शब्द के विषय में अप्रयत्ननिष्पत्ति भी तो हो सकती है।[3] बस यहीं पर रूपान्तर प्रसंग प्रस्तुत हो जाता है और शब्द का समानविधान नियोजित नहीं हो पाता। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि शब्दरूपान्तर में शब्दविषयक प्रयत्न की निष्पत्ति में ही

---

१ "सर्वेषां कारणवशात् कार्यो भाषाविपर्ययः।
माहात्म्यस्य परिभ्रंशे अवस्थातिशयम् तथा॥
प्रत्यावर्तं च विभ्रान्तिं यथालिखितवाचनम्।
कदाचिद् अनुबध्नन्ति कारणानि प्रचक्षते॥"

—रूपपरिभाषा (षड्भाषाचन्द्रिका में अवतरण)

२ शाबरभाष्य

३ यस्य प्रयत्ननिष्पत्तावपराधः कृतास्पदः।
शब्दे स तदभिव्यक्तये प्रयत्नं केन वार्यते?
प्रयत्नापराधेन व्यज्यमानेषु साधुता।
आपराधेऽप्यसाधुत्वं अवस्थैवं च तत्त्वता॥

× × ×

अपराधस्य भागित्वादुभयं साधकात्मकम्।
मात्रोरभियता प्राप्तिरसाधोश्च प्रमोक्ष्यता॥

घोष निहित मानना चाहिये । इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि अभिव्यक्तिकरण वाले सुनिपुणों का भी अनिपुणों और विमुखकरणों का सा उच्चारण (प्रमाद के कारण) हो जाता है ।

एक ही शब्द पुरुष की अशक्ति-प्रमादकारणादिभेद के कारण वर्णसम्मूलन-व्यतिरेक—क्रमान्यत्व आदि अवस्थाओं को प्राप्त होकर अपभ्रंशरूप से प्रयुज्यमान अपने मूल अर्थ को प्रतिपादित करता है यह पर्यायकल्पना से वाचकत्वशास्त्रत्व की एकान्तसिद्धि नहीं है ।

यहाँ 'अशक्ति' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे कभी कभी बड़ घातक एवं उपहास्य परिणाम प्रकट होते हैं । अशक्ति के कारण ही ब्राह्मणी के मुख से 'स्तनक' के स्थान पर 'मृतक' निकल गया था ।[1] यह अशक्तिज अनुकरण का उदाहरण है ।

उच्चारण-परिस्थितियाँ एवं प्रमाद —

वर्ण के उच्चारण के समय बल के बढ़ने-घटने से वह विवृत या संवृत घोष या अघोष अथवा नासिक्य हो सकता है । यह भी संभव है कि दन्त्याक्षर के उच्चारण की अशक्ति से तवर्ग के बदले टवर्ग बोला जावे अथवा दन्त्य 'ल' के बदले 'र' निकल जाये मूर्धन्य 'ण' के बदले 'न' आ जाये अथवा बोलते-बोलते एक के बदले दूसरा सवर्ण वर्ण भी फिर पड़े कितनी ही बार वर्णों का विपर्यास भी हो जाये दीर्घ उच्चारण के स्थान पर ह्रस्व उच्चारण उदात्त अनुदात्त और स्वरित के भेद के अज्ञान से तीव्र के स्थान पर मंद उच्चारण हो जाये श' 'ष' और स' या 'ब' का भेद जाता रहे 'ऋ' के विविध उच्चारण प्रचलित हो जायें 'ऐ'-'अई' और 'औ'— अउ' के भेद का ध्यान जाता रहे अव्यवहित रीति से दो स्वरों[2] के साथ आने पर उनका उच्चारण बदल जाये त्वरा से बोलने के कारण शब्द के

---

1 महाभाष्य अ० आ० पृ० ४५

2 इस संदर्भ में पाणिनि आदि वैयाकरणों ने एक स्वर-संधि का प्रकरण प्रमुख बताया है जो इस बात को पुष्ट करता है —

इन्द्र+अग्रम=इन्द्राग्रम । तव+एषा=तवैषा । देव+इन्द्र=देवेन्द्र ।
प्र+ऊढ =प्रौढ । प्र+ऋणम्=प्रार्णम् । इह+एव=इहैव इहेव ।
बिम्ब+ओष्ठी = बिम्बोष्ठी / बिम्बौष्ठी । प्र+एजयति=प्रेजयति । दधि+अत्र = दध्यत्र / दधियत्र
ने+अनम्=नयनम् । गै+अक =गायक । लो+अनम्=लवनम् ।
पौ+अक=पावक । ते+अन=तेन । गो+अक्ष =गवाक्ष ।

बीच या अन्त के वर्ण अनुच्चरित रह जायें या बदल जायें विसर्ग और 'ḫ उपध्मानीय और ḫ' तथा जिह्वामूलीय और 'ḫ' के कारण शब्द के बीच का भाग लुप्त हो जाये दो व्यंजनों[1] के अव्यवहृत रीति से साथ आने से उनका उच्चारण बदल जाये संयुक्त[2] व्यंजनों का उच्चारण करने के लिए आगे अथवा बीच का स्वर बढ़ जाये तथा 'देव' के स्थान पर 'दएव'[3] उच्चरित हो जाये—इन अनेक कारणों से उत्पन्न भिन्न-भिन्न उच्चारणों से भाषा भेद का प्रवाह जन्म लेता है।

---

१ पाणिनि आदि वैयाकरणों ने अपने व्याकरणों में व्यंजन-संधि का एक प्रमुख प्रकरण रखा है। उससे इस बात का समर्थन होता है —
ककुप्+मण्डलम्=ककुम्मण्डलम् ककुब्मण्डलम्
वाक्+मयम्=वाङ्मयम्। वाक्+हरि=वाग्घरि। वाक्+शूर=वाक्छूर।
कः+खनति=क ꣵखनति। कः+पचति=क ꣵपचति। कः+पेठे=कष्पेठ।
कः+चरति=कश्चरति। भवान्+चर=भवांश्चर। पुम्+कामा=पुंस्कामा।
सम्+कर्ता=संस्कर्ता। त्वम्+करोषि=त्वंकरोषि त्वङ्करोषि।
सम्+राट=सम्राट। भवान्+साधु=भवान्त्साधु।
कः+अर्थ=कोऽर्थ। देवा+आप्ति=देवायाप्ति।
अम्मय्+आति=अम्मयाति। वृक्षो+इह=वृक्षाविह, वृक्षाइह।
कः+उ=कमु। देवा+आसते=देवायासते।
सुगण्+इह=सुगण्णिह। कस्मा+अशम=कस्माच्छशम्।
पुनर्+रात्रि=पुनारात्रि। गूह्+सम्=गूढम्
उद्+स्थानम्=उत्थानम्। सः+एष=सैष (पादपूरणे)
तद्+डेते=तड्डेते। तद्+टकार=तट्टकार।
तद्+श्लनम्=तच्छ्लनम्। भवान्+शुनाति=भवाञ्शु नाति।

२ स्त्री का इस्त्री। स्टेशन का इस्टेशन। स्थिति का इस्थिति। भार्या का भारजा आदि उच्चारण बहुत प्रसिद्ध हैं।

३ यह उच्चारण संस्कृत और अवेस्ता के उच्चारण भेद को व्यक्त करता है। ऐसे ही अन्य उदाहरण देखिये —

संस्कृत उच्चारण		आवेस्तिक उच्चारण
एषाम्	=	अएषाम
प्रति	=	पइति
पृषु	=	पेरेसु
मेधज	=	मएधज

शुद्ध-अशुद्ध उच्चारण —

अमुक प्रकार का उच्चारण शुद्ध है और उससे उल्टा अशुद्ध है, इस प्रकार प्रामाणिकता का निर्धारण करने वाले तथा प्रमाण के अनुरूप आचरण करने वाले भाषा-संस्कृति के कितने ही प्रेमियों द्वारा स्वीकारे हुए शुद्ध उच्चारणों के ही प्रचार और उनके द्वारा माने हुए अशुद्ध उच्चारणों के समूल ध्वंस के प्रयत्न होते हुए भी समाज में अनेक कारणों से अशुद्ध उच्चारणों का अभाव नहीं है ।

शुद्ध उच्चारण की दिशा में प्राचीन काल से ही अनेक प्रयत्न होते आये हैं । प्राचीनों ने 'शिक्षा' की रचना की स्वरों के भेद[1] प्रभेद की खोज की उच्चारण

---

[1] व्याकरण शास्त्र में ए ऐ, ओ, औ के सिवा सब स्वरों का पृथक-पृथक भेद बतलाया गया है तथा ए, ऐ, ओ औ का बारह-बारह भेद कहा गया है –

ह्रस्व—अ

दीर्घ—आ

प्लुत-अ३ (तीन का अङ्क त्रिमात्रिक उच्चारण का द्योतक है) ।

१ ह्रस्व 'अ'–उदात्त २ ह्रस्व अ–अनुदात्त ३ ह्रस्व अ–स्वरित ४ दीर्घ आ'–उदात्त ५ दीर्घ आ'—अनुदात्त ६ दीर्घ आ स्वरित ७ प्लुत 'अ३'–उदात्त ८ प्लुत 'अ३'—अनुदात्त ९ प्लुत अ३–स्वरित ।

ह्रस्व 'अ'—उदात्त सानुनासिक और निरनुनासिक ।

ह्रस्व अ'—अनुदात्त , ।

ह्रस्व 'अ'-स्वरित ,, ,, ।

इसी प्रकार दीर्घ और प्लुत 'अ' के भी सानुनासिक और निरनुनासिक–ये दो भेद समझने चाहियें । जिस प्रकार एक ही अ के अलग-अलग उच्चारण होते हैं, उसी प्रकार 'इ' आदि स्वरों के भी अलग अलग उच्चारण होते हैं ।

'ए' आदि चार स्वरों के ह्रस्व उच्चारण को पाणिनि आदि वैयाकरणों ने स्वीकार नहीं किया है ।

सम्बन्धी अनेक दोषों[1] की गवेषणा की। शुद्ध शब्द को ही 'कामधेनु' का पद प्रदान किया गया अशुद्ध शब्द को घातक बतलाया शुद्ध उच्चारण को मोक्ष का[2] असाधारण साधन कहा और एक ऐसे श्रोत्रिय वर्ग की स्थापना की जो सर्वथा शुद्ध उच्चारण करता था। इस प्रकार शुद्ध उच्चारण की प्रतिष्ठा के लिए अनेकानेक प्रयत्नों के होते हुए भी अशुद्ध उच्चारण की शिकायत मिट न सकी। शब्द को कहीं कामधेनु[3] और कहीं दुष्ट[4] कहा गया है। 'शिष्टों की उच्चारण पद्धति विविधा है' इस नारे के मध्य से प्राकृत उच्चारणों—स्वाभाविक उच्चारणों—के पक्ष का ही पोषण हुआ।

---

१ स्वर-दोष—

'ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्
संदष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावना ।'

—(महाभाष्य पृ० १० बा० म०)

अर्थात् संवृत आदि क्या हैं ?

"संवृत कल ध्मात, एणीकृत अम्बूकृत, अर्धक ग्रस्त, निरस्त, प्रगीतः उपगीत, क्ष्विण्ण रोमश ।"

२ 'एक शब्द सम्यग्ज्ञात सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।"

(सर्वदर्शनसंग्रह पाणिनिदर्शन पृ० २१६, बा० म०)

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वड्रथा गिरः ।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कभितभाषिणः ।"

(सर्वदर्शन सं० पाणिनिदर्शन पृ० २१६ बा० म०)

३ क्या शब्द कामधेनु है ?
४ दुष्ट शब्द क्या है ?

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

(महाभाष्य- पृ० ४ बा० म०)

संस्कृत एवं अन्य उच्चारण —

आज जिस भाषा को संस्कृत नाम से अभिहित किया जाता है उसमें भी अनार्यजनसम्पर्क के कारण भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द प्रविष्ट हो गये हैं तथा अनेक उच्चारणों के होने से उनमें उत्पन्न शब्द[१] भेद बढ़ गया है ।

महान् शब्दशास्त्री यास्क और आद्य वैयाकरण महर्षि पाणिनि द्वारा संगृहीत शब्द-समूह के देखने पर विदित होता है कि उनमें अन्य भाषाओं के कितने ही धातु शब्द प्रविष्ट हो गये हैं और कितने ही धातु-शब्द उच्चारण-वैविध्य के प्रताप से एक से अनेक-जैसे हो गये हैं । दोनों के उदाहरण नीचे देखिये ।

यास्क के निरुक्त[३] से दिये गये उदाहरण —

लोटते—लोठते । पिस्मति—विस्मति । प्रवते—प्लवते । भवते—मवते । रजति—मजति । ऋच्छति—ऋणोति । इर्मति-ईर्ते । धृति—धृति—धृमति । जवति—जवति । द्रमति—द्रवति । इन शब्दों का प्रयोग मत्यर्थ में होता है[४] । इसी प्रकार 'दान अर्थ में 'दादति' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अन्य रूप 'दासति' मिलता है[५] । भिन्नोच्चारण वाले शब्द निरुक्त में और भी बहुत से मिलते हैं । कुछ नीचे दिये जाते हैं —

मद्म्—मध्यम } मया } निरुक्त पृ० २४४
मूलम् —मूलमम् }

हरित —सरित } नदी } पृ० १६१

सोमम्—सूमम } पानी } पृ० १६०

उपर —उपल } मेघ } पृ० १५४

---

१ 'पिक' और 'तामरस' जैसे अनार्यपद वेद में प्रविष्ट हो गये हैं तथा शाहि (शाहि शाह) तुरुष्क (तुर्क—तरक) मिस्स और म्लेच्छ (मलेच्छ—मलेछ—मुलक) आदि अनार्य पद भी विशिष्ट संस्कार पाकर संस्कृत-साहित्य में प्रचलित हो गये हैं ।

२ क्षुर-खुर, हर्य-हरिप चन्द्र-चन्दिर आदि शब्दों में उच्चारण भेद स्पष्ट है ।

३ निरुक्त (वेंकटेश्वर प्रेस की आवृत्ति) पृ० १६८

४ „ „ , पृ० १६८

५. „ „ पृ० २४१

लोक—लोच्=दर्शन करना देखना।

वृध्—ऋध्—एध्=बढ़ाना।

श्रीम्—धीम्=श्लाघा करना। म्न—ऊम्=बुनना।

ग्रस्—ग्लस्=खाना। भक्ष्—म्लक्ष्=भक्षण करना।

टल—ट्वल=विह्वल होना। पृच्—पृञ्—पिञ्ज्=मिश्रित होना मिलना।

चुण्—छुद्=छेदना।

भ्रज्—भ्रस्ज्=सज्जित होना। छद—छण्ड=भेदना।

एठ्—हेठ्=बाधा करना। दस—दस=क्षीण होना।

दश—दस=देखना। यज्—मक्ष्=पूजा करना।

तिम—तीम—ष्टिम्—ष्टीम=भीगना आर्द्र होना।

अपनी—मोण=दूर करना। प्युष्—प्युस्—पुस्=विभाग करना।

मृष्—म्र ष्=मध पान होना।

(पाणिनि धातुसंग्रह)

धातु-रूपों में —

करति—करोति अपनमति-भोणति। कामते-काम्यते। धुवति—ध्रु वति। नौति—नुवति। कौति—कुवति। धूनोति—धूनाति। मानते—मानयते। मुष्टति—मुष्टयति। भणति—श्राणयति। बोपति—बोपयति। ब डति—बोक्षयति। पूर्यते—पूरयति। चेतति—चेतयति। महति—महयति। स्तनति—स्तनयति। बोपति—बोपयति। मूपति—मूपयति।

ऊपर कहे हुए नामों धातुओं और धातु-रूपों में उत्पन्न हुई उच्चारण-विधि सदा अक्षुण्ण रही ऐसी बात भी नहीं है।

इनमें से कितने ही उच्चारण पहले के और कई पीछे के अथवा कई उच्चारण शुद्ध और कई अशुद्ध हैं इसका विभाग किस रीति से किया जा सकता है? इस संग्रह को देख कर यह तो कल्पना की जा सकती है कि संग्रहकार ने जिन शब्दों का प्रथम उल्लेख किया है उनका उच्चारण आद्य उच्चारण हो सकता है और जिन शब्दों को पीछे लिया है वे आद्य उच्चारणों के द्वितीय उच्चारण हैं।

यदि यह कल्पना असंगत नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि उक्त शब्द संग्रह के आधार पर यह उच्चारण-भेद हुआ है —

१ कहीं-कहीं यह भेद हुआ है —

ट	को	ठ,
प	को	ब
र	को	ल
क	को	ग
ब	को	भ
इम	का	ई

८ कहीं-कहीं —

न्यूनाक्षरता आ गयी है

९ कहीं कहीं —

स्फ को स्म
त को थ
क को ख
थ को स, ध तथा भ
म को व
य स व और स का आगम हो जाता है।

१० कहीं-कहीं —

थ को ध
क को घ
द को त
ए को ऐ
क को ग

११ कहीं-कहीं —

आद्य अ का लोप हो जाता है।
ऋ को इ फिर 'ए' हो जाता है।

१२ कहीं-कहीं —

क को ग
श को ऊ
थ को ब तथा ध
ए को है
त को द

१३ कहीं-कहीं —

'य का आगम हुआ है

१४ कहीं-कहीं —

प को स
ऋ का र

१५ कहीं-कहीं :—

अपनी के अप उपसर्ग का 'ओ' होकर अपनी का 'आए' बन गया है।
(अपनी के स्थान पर 'ओणी' बनना चाहिये था किन्तु 'ण' गिर गया है।)

इस प्रकार संस्कृत के उपर्युक्त शब्दों में और उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये कितने ही क्रियापदों में उच्चारण भेद का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से बहुत दीर्घ काल से चला आ रहा है किन्तु प्राकृत भाषाओं में तो यह प्रवाह निरन्तर बह रहा है।

संस्कृत एवं विजातीय धातुएँ

धातुओं के उल्लिखित संग्रह में अन्य भाषाओं की धातुओं का प्रवेश भी हो गया है। इसके प्रमाण में स्वयं यास्क और महाभाष्यकार की उक्तियाँ प्रमाण हैं। इस संबंध में यास्क की यह उक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है—"शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु एव भाष्यते" × × × विकारमस्य आर्येषु भाषन्ते 'शव' इति"—(यास्क निरुक्त पृ १०४)। 'स एव शवतिर्गतिकर्मा अस्मर्थो धातु कम्बोजेष्वेव भाष्यते—म्लेच्छेषु प्रकृत्या प्रयुज्यते शवति-गच्छति—इत्यथ" (दुर्गाचार्यकृत निरुक्त वृत्ति पृ १०५ तथा महाभाष्य आह्निक १, पृ २१) अन्य-अन्य देशों में इस शब्द के विभिन्न उच्चारण प्रकार मिलते हैं।

सर्वे देशान्तरे' भाष्य से भाष्य में यह बताया गया है कि "हम्मति सुराष्ट्रेषु, रंहति प्राच्यमध्येषु, गमिमेव तु आर्याः प्रयुञ्जते।" अर्थात 'जाने' के अर्थ में शव् धातु का प्रयोग अनार्य और कम्बोज देश में प्रचलित है। आर्यलोक तो 'शव' का अर्थ 'मुर्दा' करता है। 'जाने' के अर्थ में 'हम्म' का प्रचलन सुराष्ट्र देश में है और इसी अर्थ में प्राच्यमध्य देश में 'रंह्' का प्रयोग प्रचलित है किन्तु आर्य-लोक इस अर्थ में 'गम' का प्रयोग करता है।

भाष्यकार के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि 'गम' धातु आर्य शाखा का है 'शव्' कम्बोज प्रदेश का है 'हम्म' सुराष्ट्र की ओर का तथा 'रंह' धातु प्राच्यमध्य-देश (पूर्व के मध्यदेश—मगध आदि) का है।

अनार्य शब्द और वेद

वेदों में पिक आदि अनेक शब्द इस प्रकार के हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वे म्लेच्छ-परम्परा के हैं। महर्षि जैमिनि के मीमांसा-दर्शन में एक सूत्र यह मिलता है—"चोदितं तु प्रतीयत अविरोधात् प्रमाणेन।[1] इसके भाष्य में शबरमुनि ने लिखा है—

जिन शब्दों का प्रयोग आर्यों ने किसी अर्थ में नहीं किया म्लेच्छ लोग किसी अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं। जैसे पिक-नेम सत-तामरस आदि शब्दों का प्रयोग आर्य-लोक में नहीं होता है किन्तु म्लेच्छ-लोक करता है तो फिर अनार्य शब्दों का

---

१ मीमांसा दर्शन अध्याय १ पाद १ सूत्र ९ अधिकरण ५।।

अर्थ किस प्रकार समझा जाये। क्या इनके अर्थ का ज्ञान निगम-निरुक्त के व्याकरण द्वारा होना चाहिये अथवा म्लेच्छ-प्रयोगों के अनुसार? इस सम्बन्ध में भाष्यकार का कहना है कि जहाँ वैदिक परम्परा के साथ कोई विरोध न आता हो वहाँ म्लेच्छों द्वारा माने हुए अर्थ को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है।

इस उद्धरण से यही प्रकट होता है कि आर्य भाषा में अनार्य भाषा के बहुत से शब्द मिल गये थे और उनकी दीर्घ परम्परा थी। तात्पर्य यह है कि उच्चारणों की शुद्धि को जानने वाले समाज में भी इस प्रकार के भाषा-भेद का निमित्त सदा से प्रस्तुत रहा है। इससे यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा की उत्पत्ति और उसके भेदक कारणों की उत्पत्ति—ये दोनों सहभू हो सकते हैं।

व्यापक प्राकृत

मूलभूत प्राकृत का आदिम स्वरूप अपने सामने नहीं है किन्तु विशेष परिवर्तन वाला उसका साहित्यिक स्वरूप वर्तमान में उपलब्ध है। प्राचीन प्राकृत में लिपिबद्ध हुई अशोक की धर्मलिपियों आदि से सम्बन्धित शिलालेख आचारांग आदि जैन ग्रन्थ-उपांग ग्रन्थ और मज्झिमनिकाय आदि बौद्ध पिटक-साहित्य में जो प्राकृत हमें पढ़ने को मिली है उसके द्वारा आदिम मूलभूत प्राकृत के स्वरूप की कल्पना भलीभाँति की जा सकती है।

आदिम प्राकृत स्वरूप और समय

आदिम प्राकृत के समय के विषय में यह कहा जा सकता है कि जिस समय वेदों की भाषा जीवित थी वह समय आदिम प्राकृत का आविर्भाव-काल था। वेदों की ऋचाओं में जो भाषा वर्तमान में पायी जाती है आज से हजारों वर्ष पूर्व उसका प्रचलन बन्द हो गया था किन्तु जब वह मात्र शिष्टों की ही नहीं वरन् सवसाधारण में प्रचलित साधारण भाषा रूप से जीवित थी उसके उस समय के रूप को आदिम प्राकृत नाम दिया जा सकता है।

जीवित वैदिक भाषा और आदिम प्राकृत

उक्त परिवर्तन-कारणों को लिये हुए प्रवाह में पड़ी हुई जीवित वैदिक भाषा को आर्यों की 'जीवित भाषा' कहना उचित होगा अथवा 'आदिम प्राकृत' कहना? जब भाषा बोलने वालों के व्यवहार में आती है तब वह प्राणवती होती है और वह भाषा कभी एक रूप में जकड़ी नहीं रहती। उसमें एक शब्द के अनेक उच्चारण प्रवर्तित होते हैं। इस प्रकार का उच्चारण-वैविध्य ही भाषा का जीवंतपना है।

हम एक ऐसे समय की कल्पना भी कर सकते हैं जब वैदिक भाषा बोलने और लिखने दोनों उपयोगों में आती थी। यहाँ यह बात विस्मरणीय नहीं है कि जो भाषा लिखने के रूप में रूढ़ हो गयी हो लिपिबद्ध साहित्य में अवतरित हो गयी

ही उसमें परिवर्तन का अवकाश नहीं वे बराबर होगा । किन्तु जो भाषा निरन्तर बोलचाल के प्रवाह में बहती है। जिसका उपयोग आबालवृद्ध नर-नारी की वाणी में होता हो वह भाषा परिवर्तन के प्रवाह में पड़े बिना नहीं रह सकती।

जीवित वैदिक भाषा : उच्चारण भेद

अमुक स्वर उदात्त बोला जाय और अमुक अनुदात्त—इस प्रकार के उच्चारण नियमों के होते हुए भी यह बात सिद्ध होती है कि जब वैदिक भाषा अपने पूर्ण प्रवाह में थी तब नियम का अनुशासन कायम नहीं रहा होगा । आज संस्कारी लोगों में भी वैदिक स्वरों का उक्त उच्चारण असंभव जैसा हो गया है तो फिर यास्क के पहले साधारण जनसमूह में आज की भांति अराजकता की कल्पना दुष्कर नहीं है प्रत्युत पाणिनि द्वारा प्रवर्तित स्वरप्रक्रिया का नियम यह सूचित करता है कि उसके समय साधारण जनसमूह में उच्चारणों की अराजकता प्रवर्तित थी और वह अराजकता वैदिक कर्म काण्ड में प्रविष्ट न हो जाय, इसलिए उसको उक्त स्वर-प्रक्रिया की रचना करनी पड़ी।

उच्चारण व्यवस्था

किसी भी जीवित भाषा में उच्चारण-व्यवस्था दुष्कर है। हिन्दी भाषा में भी कई शब्दों के सम्बन्ध में स्वरगत उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जैसे—काम—कॉम नाम—नाँव दीखता—दिखता कोयला—कोइला—कौला नीम—नींम-नीव धागा—धागा ताली—तारी गड्ढा—गढा भैंस—भैंस मिस—मीस आदि।

ऐसे ही अनेक दूषणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। संवृत कल ध्मात एणीकृत अम्बूकृत अर्धक ग्रस्त निरस्त प्रगीत उपगीत क्ष्विण्ण रोमश अवलम्बित निर्हत संदष्ट और विकीर्ण आदि उच्चारण-विषयक भिन्न दोषों का विवरण महाभाष्यकार ने दिया है उससे आगे आने वाली उच्चारण-अराजकता का समर्थन ही होता है।

उच्चारणों की अराजकता ही भाषा के देहरूप मूल शब्दों को अनेक आकारों में परिणत करती है।

उच्चारण-दोष —

१ संवृत—जब उच्चारण-स्थान पर लगने के नियम का व्यतिक्रम करके जीभ शुद्ध उच्चारण को ढक लेती है तब संवृत दोष होता है। संवृत से तात्पर्य है आच्छादित।

२ कल—उच्चारण करते समय जब जीभ अशुद्ध उच्चारण की ओर झुके तब 'कल' दोष होता है।

३ ध्मात—उच्चारण के समय जब श्वास-वायु प्रमाण से अधिक संचार करती है तब 'ध्मात' दोष होता है। इस दोष के कारण 'ह्रस्व' वर्ण 'दीर्घ' जैसा भासित होता है।

४ एणीकृत—संशययुक्त उच्चारण को कहते हैं।

५ अव्यक्त—जब उच्चार्यमाण शब्द मुह का मुह में ही रह जाये और बाहर व्यक्त न हो तब अव्यक्त दोष होता है।

६ अर्धक—जब उच्चार्यमाण शब्द के लिए प्रमाण से कम श्वास-वायु का संचार हो तो अर्धक' दोष होता है। इस दोष के कारण 'दीर्घ वर्ण' 'ह्रस्व' जैसा भासित होता है।

७ ग्रस्त—जब उच्चारण स्पष्ट न होकर निमीर्ण हो जाता है तब ग्रस्त' दोष हो जाता है।

८ निरस्त—जब उच्चारण में निष्ठुरता आ जाती है तब 'निरस्त' दोष होता है।

९ प्रगीत—उच्चारण जब गीत-जैसा होता है तब 'प्रगीत' दोष होता है।

१० उपगीत—जब उच्चारण उपगीत-जैसा भासित हो तब 'उपगीत' दोष होता है।

११ क्ष्विण्ण—जब उच्चारण कंपायमान प्रतीत हो तब 'क्ष्विण्ण' दोष होता है।

१२ रोमश—यह दोष वहाँ होता है जहाँ उच्चारण में प्रमाण से अधिक विराम' होता है।

१३ अविलंबित—बहुत वेग से उच्चारण करने पर अविलंबित दोष होता है।

१४ निर्हत—जहाँ उच्चारण में 'रूक्षता' आ जाये वहाँ निर्हत' दोष होता है।

१५ संदष्ट—सभी स्वर-राग द्वारा उच्चारण करने से संदष्ट दोष होता है।

१६ विकीर्ण—विवक्षित वर्ण के बदले उससे मिलते दूसर वर्ण के उच्चारण के समय विकीर्ण दोष होता है जैसे—

'भ' के बदले 'ब'

'प' के बदले 'फ'

जीवित भाषा तथा उच्चारण वविध्य

१ कोट—कोठ
२ प्रव्—प्लव
३ हरित्—सरित्
४ शुक्र—सुग्ग
५ मुत्कल—मुक्कल
६ पश्चात्—पश्चा—पच्छा
७ युष्मासु—तुम्हासु
८ युष्मे—तुम्हे
९ अस्मासु—अम्हासु
१० अस्मे—अम्हे
११ मह्यम—मम्हं मज्झ, मह
१२ त्वा—त्वया—तइ
१३ त्वे—तुवे
१४ त्वयि—तमि—तइ

आर्य-भाषा में परिवर्तन

पहले जिस समय की भाषा की चर्चा की गयी है वह आर्यों की प्रथमावस्था की भाषा है। उस समय आर्य-निवास एक परिमित स्थान पर था अतएव उनकी जीवित भाषा में परिणामान्तर के लिए विशेष अवकाश नहीं था किन्तु जब आर्यों की संख्या बढ़ी और अनेक राजनीतिक कारणों से उनका विस्तार हुआ तो विविध उच्चारणों की गति बढ़ी जिससे भाषा में परिणामान्तर को प्रसार मिला। इस क्रिया को चालू स्थिति में जब आर्यों का विस्तार हुआ—सिंधु-पंचनद-सरस्वती—दृषद्वती और गङ्गायमुना के समीप के समस्त आर्यावर्त में फैल गये और ठेठ दक्षिण तक जा पहुँचे उस समय उनकी जो भाषा किसी समय एक परि-णामान्तर से मुक्त थी वह वैसी न रह सकी। ज्यों-ज्यों अन्यान्य भाषा-भाषियों के साथ अनेक प्रकार से आर्य-सम्पर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों मूल भाषा का परिणामान्तर होता चला गया।

विजयिनी प्रजा जैसे-जैसे अपनी विजय-पताका को फहराती चलती है त्यों-त्यों उस लोकप्रिय शासक की रीति-नीति का निर्वाह भी करना ही पड़ता है और अनेक लोगों के गाढ़ सम्बन्ध में भी आना ही पड़ता है। दो जातियों के सम्पर्क से—विजित विजयी-सम्पर्क से—भाषा प्रवाह बाधित नहीं हो सकता तथा परिणामान्तर सहज रूप से होता रहता है। विजयी भाषा को कुछ उदारता बरतनी पड़ती है और विजित-भाषा को कुछ स्वातन्त्र्य-अवसर मिलता है जिससे नये शब्दों का आगम नयी ध्वनियों का समावेश और नये शब्दों का विकास होता है। सम-विषम उच्चारणों का प्रभाव धीरे-धीरे इस प्रकार अन्तर्निहित हो जाता है कि दोनों भाषा प्रवाह गङ्गायमुनी त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित होते चले जाते हैं।

आर्यों और अनार्यों का सम्बन्ध विजयी और विजित का ही नहीं था प्रत्युत पारिवारिक एवं सेव्य-सेवक का भी था। विस्तार के साथ आर्य-जाति आदिम जातियों के सहवास में आती गई और विविध जाति की आदिम जनता आर्यों के अन्तःपुर तक जा पहुंची। आदिम जाति की अनेक रमणियों ने आर्य-गृहिणी-पद सुशोभित किया शासक और शासित के मध्य रक्त-सम्बन्ध बढ़ा और अनेकानेक आर्य-जातियां आदिम जातियों में ओतप्रोत हो गयीं। दोनों में विविध व्यवहार प्रवर्तित हुए। लेनदेन प्रेम विवाद कलह मनोभाव-पारस्परिकता गृहकार्यगत आदेश प्रत्यादेश आदि अनेक प्रसंगों में एक सामान्य भाषा के प्रवाह को अवसर मिला।

आर्य-भाषा और म्लेच्छ-शब्दार्थ

कुमारिलभट्ट[1] की उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो पद

---

[1] कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्तिक पृ० २२७

वेदवेदाङ्गों में उपलब्ध होते थे वही यदि म्लेच्छ भाषा में भी उपलब्ध होते थे और उनका अर्थ आर्यभाषा द्वारा सिद्ध नहीं होता था तो ऐसे स्थल पर दोनों भाषाओं में प्रयुक्त अविकल अविकृत पद का अर्थ समझने के लिए म्लेच्छ भाषा का आश्रय भी लेना पड़ता था। इससे म्लेच्छ भाषा के शब्दार्थ-ग्रहण करने के सम्बन्ध में आर्यों की नीति का अनुमान भी किया जा सकता है। आर्य लोग म्लेच्छ भाषा के शब्दों का अर्थ अपनी रीति से ग्रहण नहीं करते थे। उदाहरण के लिए 'पिक' 'नेम' आदि म्लेच्छ-शब्दों को ले सकते हैं। ये शब्द अविलुप्त-अविकल रूप में आर्य भाषा में भी प्रचलित थे। आर्यों ने इन पदों को विशेष रीति से बरता नहीं था वरन् इनका तथा इसी प्रकार के रूपान्तरित तथा जिनका अर्थ आर्यभाषा में उपलब्ध न था उन पदों का अर्थ समझने के लिए म्लेच्छ-भाषा की किसी भाषा का आश्रय लिया जाता था किन्तु यह ध्यान रखना पड़ता था कि ऐसा करने से वैदिक विधि किसी प्रकार बाधित तो नहीं होती थी। जो पद म्लेच्छों की अपनी परम्परा में अवधारित थे और वही पद आर्यभाषा में भी उपलब्ध होते थे उनके अर्थ के निर्णय करने के लिए आर्य और म्लेच्छ दोनों भाषाओं के जानने वाले द्वैभाषिक आर्य की सहायता ली जाती थी जो उन विवादास्पद पदों की परीक्षा करता था। परख करते समय यदि दोनों पदों की अविलुप्तता प्रकट होती थी तो अर्थ म्लेच्छ-परम्परा के अनुसार किया जा सकता था।

उदाहरण के लिए वेदों के 'क्लोम' शब्द को ले सकते हैं। इसका प्रयोग वेदों में पशु के किसी अवयव के लिए होता था किन्तु वैदिक अध्वर्यु को ज्ञात नहीं था कि यह शब्द पशु के किस अवयव के लिए प्रयुक्त होता था। 'क्लोम' आदि शब्दों का ठीक अर्थ न जानने पर वैदिक विधि को दूषण लगता था। ऐसे प्रसंग में वैदिक विधि की शुद्धि के लिए, जो लोग रात दिन पशुहनन में अभियुक्त थे ऐसे वधिकों के पास जाकर अध्वर्यु इन 'क्लोम' आदि शब्दों के अर्थ का अवधारण करता था। यहां जिस प्रकार वधिक के पास जाकर भी अर्थ समझने में बाधा नहीं थी उसी प्रकार जिस-जिस पद का अर्थ आर्यभाषा द्वारा गम्य नहीं था और वह पद म्लेच्छ भाषाओं में प्रचलित था तो म्लेच्छ भाषाओं द्वारा उसका अर्थ ग्रहण करने में भी कोई बाधा नहीं थी।

म्लेच्छ–पद तथा आर्य-उच्चारण-पद्धति

आर्य लोग प्रसंग के अनुसार म्लेच्छ-भाषाओं के पदों की कल्पना प्रायः अपनी रीति से करते थे। म्लेच्छ भाषाओं के कितने ही पदों में अन्य पद के अक्षर को मिलाकर आर्य लोग बोलते थे कितने पदों को रूपान्तर करके तथा कितने ही पदों को अधिकाक्षर करके प्रयुक्त करते थे। द्रविड़ आदि भाषाओं में जो पद व्यंजनान्त थे उनको आर्य 'स्वरान्त' बनाकर बोलते थे। कितने ही द्रविड़ पदों को आर्य

लोग अपनी भाषा में आने वाली विभक्तियों को लगा कर बोलते थे और कितने ही म्लेच्छ-पदों को आर्य अपनी भाषा में आने वाले स्त्रीलिंग सूचक प्रत्यय लगाकर बोलते थे और इसी प्रकार म्लेच्छ भाषाओं के अनेक पदों को आर्य लोग अपनी रीति से अनेक प्रकार से संयुक्ताक्षर करते थ। ऐसा करके वे उन पदों द्वारा स्वभाषा का अनुसरण करने वाले अर्थ का ग्रहण करते थे।

आर्य-लोक तथा द्रविड़ शब्द

द्रविड़ भाषा में ओदन अर्थ का सूचक रकारान्त 'चोर्' शब्द है। आर्य लोग इस शब्द का प्रयोग अकारान्त —'चोर' बनाकर करते थे। इसी प्रकार द्रविड़ भाषा का लकारान्त 'माल्' आर्य भाषा में 'माला' करके बोला जाता था। इसी प्रकार द्रविड़ शब्द 'पाप्' है। यह सर्प अर्थ का सूचक है। आर्य इसको 'पाप' रूप से जानते थे और 'सर्प पाप रूप है, इसलिए उसको पाप कहना उचित ही था। यह कह कर पाप का निर्वचन किया है। द्रविड़ भाषा में एक अन्य शब्द 'ततर्' नाम के अर्थ में आता है। आर्यों ने उसका 'धत्तर' बना लिया है और उसका अर्थ 'दुस्तर' कर लिया है। आर्यों ने ततर को तृ (तरना) धातु से व्युत्पन्न माना है। द्रविड़ भाषा का एक 'वैर्' शब्द 'पेट' के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु आर्य लोग 'वैरी शब्द को 'शत्रु'-अर्थ में प्रयुक्त करते थे। इस प्रकार वरी' और द्रविड़ 'वैर्' के बीच में साम्य साध कर आर्यों ने 'वर्' को 'पेट' के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। इस प्रकार आर्य-लोग विजातीय भाषाओं के अनेक शब्दों को अपनी रीति से फेर कर काम में लेते थे।

आर्य-लोग तथा अन्य भाषाओं के शब्द

तंत्रवार्तिककार का कहना है कि आर्यावर्त के पड़ौस में आने वाली द्रविड़ आदि भाषाओं के शब्दों में आर्यों ने अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने में स्वच्छन्दता से काम लिया है। क्या यही बात पारसीक बर्बर यवन और रोमक आदि देशों की भाषा के शब्दों के लिए भी कही जा सकती है? जैमिनि शबर तथा कुमारिलभट्ट के उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक विधियों से विहित विधानों तक में म्लेच्छ भाषा के शब्द मिल गये थे। जब ऐसी क्रियाओं में भी जिनमें म्लेच्छों की छाया भी अग्राह्य थी म्लेच्छ-भाषा के शब्दों का समावेश हो गया था तो फिर आर्यों-अनार्यों के मध्य प्रचलित जन-साधारण की भाषा में तो अनार्य शब्दों का प्रभाव और भी अधिक रहा होगा। इस प्रभाव के कारण ही आर्यों और आदिम जातियों की भाषा एकमेक-जैसी हो गयी थी।

आदिम जातियाँ और आर्य-शब्दावली

जिस प्रकार आर्य लोग आदिम जातियों की भाषा के शब्दों को बदल कर बोलते थे उसी प्रकार अनार्य लोग आर्य शब्दों को बदल कर बोलते थे। इस बात

का अनुमान हम हुएनसांग (वि० की सातवीं शती) के उच्चारणों से कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने देश और नगरों के नामों को लेते हैं जिन्होंने हुएनसांग की वाणी में अपना रूप बदल दिया है —

अपने शब्द	हुएनसांग के उच्चारण
गुर्जर	क्युचेलो
सुराष्ट्र	सुलच
आनन्दपुर	ओनंतोपुलो
वलभी	फलपि
मालवा	मोलपो
महाराष्ट्र	मोहोलच
कच्छ	कीच
अन्ध्र	अ तल
जालंधर	चेलंतोलो
मतङ्ग	मेवातुमु
भृगुकच्छ	पोलुकीचेपो
उज्जयिनी	उशेयन
सिन्धु	सिन्तु
कोसल	किओसलो
ताम्रलिप्ति	तम्मालिति
चम्पा	चंपो
नेपाल	नेपालो
वैशाली	फीशेली
मगध	मोकीटो
वाराणसी	पोलोनिस्से
कौशाम्बी	किओशंम्मि
प्रयाग	पोलायेकिय
अयोध्या	ओयुटो
मथुरा	मातुलो
कश्मीर	किअशिमिलो
तक्षशिला	तचशिलो
गान्धार	कीतोलो

यह स्थिति पहले ही नहीं आज भी मिलती है। जिस प्रकार हुएनसांग ने हमारे देशों और नगरों के नामों के विलक्षण उच्चारण किये हैं उसी प्रकार अ प को

से भी किये हैं। उदाहरण के लिए इन शब्दों को देखिये—मद्रौच (म्र ग्रेजी—ब्रोच) लमात (म्र०—केम्ब) मथुरा (म्र०—मुत्रा) बडोदरा (म्र०—बरोडा) मुंबई (बोम्बे) आदि।

जिस प्रकार अनार्यों की वाणी में आर्य शब्दों की दशा की अवगति हमें ऊपर के कुछ शब्दों से हो जाती है उसी प्रकार कुछ अनार्य शब्दों की स्थिति को आर्य वाणी में कुछ अधिक विस्तार से नीचे देख सकते हैं —

अनार्य शब्द	आर्यों द्वारा परिवर्तित शब्द
तरकुश	मपुस[1]
तुर्क	तुरुष्क[2]–तुरुक्क (अमर तथा हेमचंद्र)
फारस	पारसीक[3]–पारसीम ( )
शाह	साहि (हेमचंद्र)
शाह-शाह	साहानुसाहि–साहसाही (कालककथा)
	साहानुसाही–साहानसाहि (जिनदत्त)
रिश्वत् अथवा रावत	आतरप[4]
जीन	जमन[5]–जमण

इसी प्रकार एक श्वेतपिङ्गल घोड़े के लिए आर्य भाषा में 'खोङ्गाह' आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं — यथा

सेराह हरिय कुकाह किशाह नीलक त्रियूह बोरमाह उराह सुरूहक बोरखान कुलाह उक्नाह घोण हरिक हालक पङ्गुल और हलाह।

इसी प्रकार आर्यों ने खिदमत के लिए खतमत् रहमान के लिए रहमाण सलाम के लिए सलाम् हराम के लिए हराम् जानवर के लिए जानूवर आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

---

१ 'यवि–मपुसं प्रत्ययो स्वर' —महाभाष्य अ १ पा १ आह्निक ८ सूत्र ५१

२ "तुरुष्क पिण्डक सिल्हो"—(अमर० कां० २ श्लोक १२८–मनुष्यवर्ग) तुरुष्क —(हैमकोश कां० ३ श्लो० ३१२)

३ 'वनायुजा पारसीका काम्बोजा बाल्हिका हया (अमर० कां० २ श्लोक ४५ क्षत्रियवर्ग तथा हैमकोश कां ४ श्लो० ३०१)

४ "आतरप उल्लोचो लम्बा" —(हैम अनेकार्थ० कां ४ श्लोक १२१)

५ "जवनं विजये–अश्वादि संनाहे — 'जयति जवनत्रासा आजिना राजकीया"

(हैम–अनेकार्थ० कां ३ श्लोक ११८)

लौकिक संस्कृत घटना और प्रयोजन

मूल वैदिक भाषा के जीवन-काल में ही समाज का एक अंग 'आर्यता' का प्रबल पक्षधर था। उसको जिस प्रकार आर्य भाषा में हुआ परिवर्तन अक्षम्य लगता था उसी प्रकार यह प्रतीति भी स्वाभाविक हो थी कि सर्वसाधारण की भाषा के प्रभाव के बढ़ते रहने पर भी आर्यों की भाषाविषयक विशिष्टता को बताने वाला एक भी साधन न मिले तो आर्य-संस्कृति नष्ट हो सकती है और साथ ही आर्य भाषा के पतन से मूलगत आर्यता का भी भ्रंश होता है। इस प्रकार संस्कृति के रक्षण की प्रबल प्रेरणा को लेकर इन्द्रादि ऋषियों ने बचे हुए मूल रूप से तथा विकृतजन्य लोक से जो कुछ मूल रूप जीवित हो सकता था आर्यों की भाषा का एक बाँध निर्मित करने का निर्णय किया।

उक्त बाँध का निर्माण इतना सरल नहीं था। यह एक बड़ी भारी गवेषणा का प्रश्न था। इसके लिए मूल शब्दों की परीक्षा तथा विकृत प्रयोगों का शोध – इन दोनों कार्यों—की एक ही साथ आवश्यकता थी। साथ ही मूल तथा विकृत प्रयोगों की संख्या हजार-दो हजार नहीं थी वरन् लाखों-करोड़ों के आसपास थी अतएव पहली आवश्यकता तो प्रयोग-संग्रह की थी और दूसरी उनके तुलनात्मक परीक्षण की थी। मूल रूप के बाध तथा विकृत रूप के अवलक्षण के पश्चात् ही दोनों की तुलना हो सकती थी और तभी आर्यभाषा का बाँध निर्मित हो सकता था किन्तु इस महाप्रयाससाध्य आयोजन के लिए दीर्घकाल अपेक्षित था। इसके पहले तो मूल भाषा अनेक परिणामान्तर को प्राप्त कर चुकी थी।

अनार्य शब्दों का प्रवेश वेदों तक में हो गया था और बोलचाल के प्रवाह में पड़ी हुई उस मूल भाषा का नमूना मात्र वेदों की ऋचाओं में अवशिष्ट था। वह भी सर्वथा अविकृत नहीं था दूसरी ओर जन साधारण की भाषा का प्रवाह प्रभावशाली होता चला जा रहा था। इस स्थिति में परम्परा तुलनात्मक परीक्षण प्राविक निकष का आश्रय लेकर इन्द्रादि वैयाकरणों ने परिवर्तित भाषा के ढाँचे में ही मूल भाषा के बांध का निर्माण करने की धारणा पूरी की। यह बाँध संस्कृत भाषा की देह की घटना थी। आज इन्द्र का बनाया हुआ ऐन्द्र व्याकरण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु उसका प्रतिनिधि रूप पाणिनि का रचा हुआ व्याकरण अवश्य उपलब्ध है।

लौकिक संस्कृत

लौकिक संस्कृत का अर्थ यह नहीं था कि वह समग्र लोक में व्यापक भाषा थी किन्तु उसकी घटना वैदिक संस्कृत से कुछ २ भिन्न थी। वैदिक संस्कृत से उसका पृथग्भाव बताने के लिए इन्द्र पाणिनि आदि ऋषियों ने घटित भाषा को 'लौकिक संस्कृत' नाम दिया है।

लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत

एक मत यह भी प्रचलित है कि विकार पाकर लौकिक संस्कृत ही प्राकृत रूप मे परिणत हो गयी है किन्तु यह प्रामाणिक नही है क्योंकि इस मान्यता के विरोध में अनेक बाधक कारण उपस्थित होते है, जिनमे से प्रमुख ये हैं —

(१) लौकिक संस्कृत की व्यवस्थित एवं नियन्त्रित घटना के होने के समय तथा उसके पश्चात् जनसाधारण की भाषा क्या थी ?

(२) लौकिक संस्कृत की नियत घटना के समय आर्यों की मूल भाषा अनेक परिणामान्तरों को प्राप्त हो चुकी थी। इस घटना के समय वर्तमान जनसाधारण की भाषा को क्या नाम दिया जा सकता है ?

(३) लौकिक संस्कृत की सुबद्ध घटना इस प्रकार की है कि जिस रूप में वह नियमाबद्ध की गई है उस रूप के आधार पर जनसाधारण की भाषा नहीं बन सकती। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि संस्कृत को जनसाधारण की भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया था तो यह भी मानना पड़ेगा कि जन साधारण में शब्दों का एक-सा उच्चारण प्रचलित था और फिर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री वृद्ध बाल नट तथा अन्य लोगों मे (जैसे लोमी मोची बढ़ई, सुनार कोली अहीर भील आदि) सर्वत्र सदा एक-सा उच्चारण प्रचलित था किन्तु अनुभव ऐसी मान्यताओं का विरोधी है और भिन्न भिन्न उच्चारणों वाले शब्द भी इस मान्यता का विरोध करते हैं।

(४) लौकिक संस्कृत की घटना के प्रमुख पुरुष महाभाष्यकार का कहना है कि एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रंश रूप विद्यमान हैं जैसे 'गौ' के गावी गोणी गोता गोपोतलिका आदि अपभ्रंश रूप है।[1] इससे सिद्ध होता है कि इन अपभ्रंश की आधारभूत कोई भाषा थी। यदि इसका आधार न तो वैदिक भाषा थी और न लौकिक तो फिर वह कोई सी भाषा तो थी वह कौन सी भाषा थी ? मेरी समझ मे यही वह भाषा थी जिसे 'व्यापक प्राकृत' नाम दिया जा सकता है।

(५) लौकिक संस्कृत की घटना के समय आर्यों की मूल भाषा का रूप तो सुरक्षित था नही यदि वह सुरक्षित होता तो भाष्यकार यह क्यो कहता कि "एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप हैं।" ये अपभ्रंश रूप कहा से आये ? क्या ये आदिम जातियों की भाषा से आये ? सच तो यह है कि जिस भाषा से ये अपभ्रंश उतरे वह आर्यों की मूल भाषा थी और उसी से 'व्यापक प्राकृत' का प्रादुर्भाव हुआ।

---

१ (महाभाष्य आ० म० पृ० ११)

लौकिक संस्कृत पर प्राचीन जातियों की भाषा का प्रभाव

अनेक प्राचीन जातियों की भाषा का प्रभाव लौकिक संस्कृत पर पड़ा है। जिस प्रकार लौकिक संस्कृत का मूल स्रोत वैदिक भाषा में है उसी प्रकार प्राचीन जातियों की भाषा से प्रभावित हुई 'व्यापक प्राकृत' का मूल स्रोत भी प्राचीन वैदिक भाषा में है।

जीवित वैदिक भाषा और व्यापक प्राकृत

वेदों में प्रयुक्त पदों और पाणिनि द्वारा प्रदर्शित उन पदों का कथन तथा व्यापक प्राकृत साहित्य में आने वाले पदों और कच्चायण वररुच एवं हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रदर्शित व्यापक प्राकृत के कथन—इन दोनों व्याकरण-कथनों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस जीवित वैदिक भाषा की धरोहर 'व्यापक प्राकृत भाषाओं' में संचित है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि वैदिक भाषा के जीवंत स्रोत के साथ 'व्यापक प्राकृत' का गाढ़ संबंध है। इस संबंध का प्रतिपादन इन बातों से होता है —

(१) वैदिक प्रक्रिया में 'बहुलं छन्दसि'[1] जैसे कई सूत्र आये हैं। उनका अर्थ यह है कि वैदिक रूपों में सर्वत्र बहुलाधिकार प्रवर्तित है बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार 'व्यापक प्राकृत' में बहुलाधिकार[2] प्रवर्तित है। यह बात कच्चायण और हेमचन्द्रादि के व्याकरणों से स्पष्ट हो जाती है। लौकिक संस्कृत में इस प्रकार का बहुलाधिकार विरल है।

(२) लौकिक संस्कृत में अमुक धातु का प्रथम गण अमुक का द्वितीय तथा अमुक का तृतीय गण है इस प्रकार धातुओं के दस विभाग किये गये हैं। इन विभागों के अनुसार प्रथम गण के धातुओं में विकरण प्रत्यय 'अ' लगता है दूसरे के तथा तृतीय गण के धातुओं में विकरण प्रत्यय नहीं लगता तथा चौथे गण के धातुओं में विकरण प्रत्यय 'य' लगता है। इस प्रकार गणानुसार धातुओं में अलग-अलग विकरण-विधान देखने में आता है जब कि वैदिक प्रक्रिया के तथा व्यापक प्राकृत के क्रिया-रूपों में इस प्रकार का कोई विशेष गण भेद या विकरण विधान नहीं था। तीनों भाषाओं के उदाहरणों से इस बात का ज्ञान हो सकता है —

धातु	लौकिक संस्कृत	वैदिक संस्कृत	व्यापक प्राकृत
हन्	हन्ति	हनति	हनति-हणइ
शी	शेते	शयते	सयते-सयए

---

१ वैदिक प्रक्रिया २ ४ ३६ तथा ७३

२ कच्चायण पालि व्याकरण (विधा भूषण-पृ २७ तथा ३७)

(११) दोनों में 'ह' को 'ध' हो जाता है —

सौ॰ सं॰	वैदिक	व्यापक प्राकृत
सह	सध	×
सहस्थ	सधस्थ	×
गाह	गाध	×
बहु	बधू	×
शृणुहि	शृणुधि	×
इह	×	इध
तामह	×	तामध

(१२) दोनों में 'थ' को 'ध' हो जाता है —

माथव	माधव	×
नाथ	×	नाध
सार्थम्	सार्धम्	सध

(१३) वैदिक भाषा और व्यापक प्राकृत दोनों में 'द' को 'ज' हो जाता है —

द्योतिस्	ज्योतिस्	×
द्योतते	ज्योतते	×
द्योतय	ज्योतय	×
प्रद्योतयति	प्रज्योतयति	×
प्रद्योत्य	प्रज्योत्य	×
द्युति	×	जुति
उद्योत	×	उज्जोत

(१४) उक्त दोनों भाषाओं में 'ह' को 'भ' तथा 'म' हो जाता है —

वाह	×	वाभ
विह्वल	×	भिब्भल
जिह्वा	×	जिब्भा
गाहृणि	गाभृणि	×
विदेह	विदेभ	×
मेह	मेभ	×
गृहीत	गभीत	×
गृहाण	गृभाय	×
जहार	जभार	×

(१५) दोनों में 'ड' को 'ल' तथा 'ळ' हो जाता है —

लौ॰ सं॰	वैदिक	व्यापक प्राकृत
ईडे	ईळे	ईड-ईल-ईळ (पै॰)
महडमान	महेळमान	महेडमाणो-महेळमाणो
दृढ	दृळ्ह	दळ्ह (पालि॰)
सोढा	सोळ्हा	सोळ्हा

(१६) अनादिस्थ 'य' और 'थ' का लोप दोनों भाषाओं में समान रूप से मिलता है —

लौ॰ सं॰	वैदिक	व्यापक प्राकृत
प्रथम	पढम	पढम
सिधु	सीमहि	×

(१७) 'र' का आगम दोनों में मिलता है —

पृथुजय	पृथुज्रय	×
व्यास	×	व्रास (अपभ्रंश)
चैत्य	×	चैत्र
अभिगु	अभ्रिगु	×

(१८) दोनों भाषाओं में अनादिस्थ असंयुक्त 'थ' और 'क' लुप्त हो जाते हैं —

लौ॰ सं॰	वैदिक	व्यापक प्राकृत
याचामि	यामि	
प्रत्तिके	अप्ति	
कचग्रह	×	कयग्गाहो
लोक	×	लोओ

(१९) दोनों भाषाओं में आन्तर अक्षर का लोप मिलता है —

शतक्रतव	शतक्रत्व	×
पशवे	पश्वे	×
आमता	आता	×
निविविविरे	निविविम्रे	×
राजकुल	×	राउल
भाजन	×	भाय भाण
प्राकार	×	पार

सूचना—जिस प्रकार व्यापक प्राकृत में 'सस्वर व्यञ्जन' लुप्त हो जाता है उसी प्रकार वैदिक पदों में मात्र 'स्वर' लुप्त होता है। जैसे 'आमता' से आता ।

(२०) दोनों भाषाओं में 'स्वर भक्ति' की स्थिति हो जाती है —

लौ० सं०	वैदिक	व्यापक प्राकृत
तन्वम्	तनुवम्	×
स्वर्ग	सुवर्ग	×
त्र्यम्बकम्	त्रियम्बकम्	×
विभ्वम्	विभुवम्	×
सुध्यो	सुधियो	×
रात्र्या	रात्रिया	×
सहस्यः	सहस्रियः	×
सुध्यासु	सुधियासु	×
क्षमा	×	छमा
रत्नम्	×	रतनं–रयणं
स्नेहः	×	सनेहो
पद्म	×	पदमो
अर्हति	×	अरिहइ

(२१) वैदिक भाषा और व्यापक प्राकृत दोनों में प्रायः 'ऋ' के बदले 'रि' बोला जाता है तथा दोनों के कितने ही शब्दों में 'ऋ' का 'उ' हो जाता है —

लौ० सं०	वैदिक	व्यापक प्राकृत
ऋजिष्ठम्	रजिष्ठम्	
ऋजु		रिजु–रिजु
वृन्द	वुन्द	×
तृ	ततुरि	×
भृ	जभुरि	×
वृणीत	वुरीत	×
कृत	कुट	×
वृन्द	×	वुन्द
ऋषभ	×	उसभ–उसह
ऋतु	×	उतु–उउ

(२२) दोनों भाषाओं में 'द' को 'ड' हो जाता है —

दूदभ	दूडभ	×
पुरोदाश	पुरोडाश	×
दण्ड	—	डंड
[illegible]	×	डंभ

(२३) दोनों भाषाओं में 'अव' को 'ओ' और 'अय' को 'ए' बोला जाता है —

अवणा —	ओणा	×
अन्तरयति	अन्तरेति	×
अवहसित	×	ओहसिय
नयति	×	नेति

(२४) दोनों भाषाओं मे संयुक्ताक्षर के पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व उच्चरित होता है —

रोदसीप्रा	रोदसिप्रा	×
अमात्र	अमत्र	×
मात्रा	×	मत्ता
मात्रा	×	मत्ता

(२५) दोनों भाषाओं में 'क्ष' की परिणति 'क्ख' में हो जाती है —

अक्ष	अक्ख	×
अक्षि	×	अक्खि

(२६) दोनों में अनुस्वार के पूर्व दीर्घ स्वर ह्रस्व उच्चरित होता है —

युवाम्	युवम्	×
मासाम्	×	मासं
देवानाम्	×	देवानं

(२७) व्यापक प्राकृत में साधारणतया 'अ' के पीछे के विसर्ग का 'ओ' हो जाता है उसी प्रकार वैदिक पदों में 'अ' के बाद के विसर्ग को 'ओ' होना तो संभव नहीं था फिर भी विसर्ग के स्थान पर 'ओ' मिलता है —

देवः	×	देवो
पुनः	×	पुणो
सः चित्	सोचित्	×
संवत्सर अजायत	संवत्सरो अजायत	×
उपप्रयन्तः अध्वरम्	उपप्रयन्तो अध्वरम्	×
उरः अन्तरिक्षम्	उरो अन्तरिक्षम्	×
आपः अस्मान्	आपो अस्मान्	×
जुषाण अग्नि	जुषाणो अग्निः	×
वृष्ण अंशु	वृष्णो अंशु	×
प्राण अंगे	प्राणो अंगे	×

(२८) दोनों भाषाओं में संयुक्त व्यंजन का लोप होने पर पूर्व स्वर का दीर्घ उच्चारण प्रचलित है —

निःश्वास	×	नीसासो
दुर्भग	×	दूहवो
दुस्सह	×	दूसहो
दुर्दम	दूदम	×
दुर्लभ	दूलभ	×
दुर्नाम	दूनाम	×

(२९) दोनों भाषाओं के कुछ निपातों में रहने वाला ह्रस्व स्वर दीर्घ बोला जाता है —

मनुष्य	×	मानुस
प्रकट	×	पायड
प्रसिद्धि	×	पासिद्धि
एव	एवा	×
मच्छ	मच्छा	×
सु	सू	×
नु	नू	×
च	चा	×
मधु	मधू	×
कु	कू	×
अथ	अथा	×
यथ	यथा	×

निपात के अतिरिक्त अन्य शब्दों में भी दीर्घ उच्चारण का नियम दोनों भाषाओं में अनियत रीति से प्रचलित है —

पुरुष	पूरुष	×
परकीय	×	पारक्क
चतुरन्तम्	×	चातुरंत

(१) शब्द में रहने वाला अक्षर-व्यत्यय दोनों भाषाओं में प्रचलित है —

निस्-कर्ष	निष्कर्ष	×
दुस्-कर्तु	दुक्कु	×
नमसा	ननसा	×
तद्रूप	तद्भूत	×

सघुक	×	हलुम
समाट	×	एाहास-एासाड
मासाम	×	मारणाम

(११) हेत्वर्थ कृदन्त प्रत्यय 'तवे' जिस प्रकार वैदिक भाषा में प्रयुक्त होता है उसी प्रकार व्यापक प्राकृत में भी प्रयुक्त होता है —

लौ० सं	वै० भा०	व्या० प्रा०
कर्तुम्	कर्तवे	करतवे कातवे
नेतुम	×	नेतवे
निधातुम	×	निधातवे
गणयितुम	×	गणेतुये
द्रष्टुम	दृशे	दक्खितवे

लौ० संस्कृत का एतुम् ('इ' धातु का हेत्वर्थक) अर्थवाले रूप के लिए व्यापक प्राकृत मे 'एतसे' (पालि प्र० सलीर्ज क० कृ० पृ० २३८) पद आता है। वैदिक प्रक्रिया के 'तुमर्थक 'स' सेन् और असे' जैसे प्रत्ययों का इससे साम्य देखा जा सकता है।

इसी प्रकार अपभ्रंश में 'तुमर्थ' में 'एवं' (है० व्या ८ ४ ४४१) आता है और वैदिक प्रक्रिया में (तुमर्थक 'तवे' 'तव' या कृत' रूप में लगा हुआ) तुमर्थक अन्त्य 'ए' प्रत्यय लगता है। इनमें साम्य देखा जा सकता है।

(१२) आज्ञार्थक मध्यमपुरुष एकवचन प्रत्यय 'हि' या 'स्व' के बदले अपभ्रंश प्राकृत में 'इ' 'उ' और 'ए'-ये तीन प्रत्यय आते हैं। इनका 'इ' प्रत्यय वैदिक प्रक्रिया में आये हुए आज्ञार्थक मध्यमपुरुष एक वचन सूचक 'बोधि'[१] पद के 'इ' प्रत्यय के साथ मिला सकते हैं।

(१३) सम्बन्धक भूतकृदन्त को सूचित करने के लिए वैदिक और व्यापक प्राकृत में प्रयुक्त प्रत्ययों में समता मिलती है

लौ० सं	वै० सं	व्या प्रा
श्रु त्वा	×	सुणित्वान
गृहीत्वा	×	गहाय
इष्ट्वा	इष्टवीनं	×
पीत्वा	पीत्वी	×

---

१ बोध+इ—निरुक्त पृ १०१, पं १

गत्वा	गत्वाय
विष्कुत्य	निष्कूय
विपुत्य	विपूय

उक्त दोनों प्रकार के रूपों में विशेष समानता दृष्टिगोचर होती है किन्तु अपभ्रंश[1] के इस वर्ग में प्रयुक्त 'इ' प्रत्यय का साथ वैदिक 'पीत्वी' का अधिक साम्य दीख पड़ता है।

संबंध भूतकृदन्त सूचक वैदिक रूप[2] 'परिधापयित्वा' के साथ व्यापक प्राकृत का 'उवसंकमित्ता' 'निक्खमित्ता' 'आगमेत्ता' आदि रूपों के साथ स्पष्ट साम्य है।

(१४) व्यापक प्राकृत के 'पोसहीहि' रूप में वैदिक 'आपयोभि'[3] रूप का बहुत साम्य है। स्पष्ट है कि वैदिक 'भि' ही व्यापक प्राकृत के 'हि' रूप में बदला जा रहा है।

(१५) अन्य पुरुष बहुवचन का 'रे' प्रत्यय भी दोनों भाषाओं में बहुत मिलता है। व्यापक प्राकृत में 'गच्छरे' 'विच्छुहिरे' आदि रूपों में 'रे' या 'इरे' प्रत्यय आता है। वैदिक[4] प्रक्रिया के 'दुह्रे' (दुह+रे) रूप के 'रे' प्रत्यय के साथ इसके साम्य को देख सकते हैं।

(१६) नीचे लिखे कारकरूपों को देख कर भी दोनों भाषाओं के क्रम प्रवाह का अनुमान लगाया जा सकता है —

लौ० सं	वै० सं०	व्या० प्रा०
पत्या	पतिना	पतिना पइणा
गवाम्	गोनाम्	गोनं गुन्नं
युष्मासु	युष्मे	तुम्हे
अस्मभ्यम	अस्मे	अम्हे
यूयम्	युष्मे	तुम्हे
वयम्	अस्मे	अम्हे
त्रयाणाम्	त्रीणाम	तिण्णं तिण्हं
माला	मालया	मालाय मालाए
देवैः	देवेभि	देवेहि
इतरत्	इतरं	इतर

---

१ हैम व्याकरण—८ ४ ४३९
२ वै० प्र०—७ १ ४८
३ वै प्र०—६ ३ १३२
४ वै प्र —७ १ ८

(३७) हिन्दी की भलाई चतुराई आदि भाववाचक संज्ञाओं में प्रयुक्त 'आई' प्रत्यय का मूल वैदिक 'ताति' में खोजा जा सकता है। वैदिक प्रक्रिया में बताया गया है कि 'भावेचार्थे सन्तपि विषये शिवादिभ्य तातिश्च' प्रत्ययो भवति"[१]— 'शिवस्य भाव 'शिवताति'। वेदों में यह प्रत्यय शिव', 'शम् और 'अरिष्ट' शब्दों के साथ विशेष रूप से लगता है तथा अन्य शब्दों में सामान्य रूप से लगता है, जैसे ज्येष्ठताति सर्वताति। इसी प्रकार हिन्दी में यह प्रत्यय गुणवाचक शब्दमात्र में लगता है। 'ताति का रूपान्तर 'ताइ'– आइ–आई' है। व्यापक प्राकृत में 'त्तन'– 'त्तण' 'इमा' और 'प्पण' का प्रयोग ही मिलता है।

(३८) वैदिक भाषा और व्यापक प्राकृत दोनों में कहीं-कहीं अनुस्वार का लोप होता देखा जाता है —जैसे-मांस (लौ० स) मास (वै०) मास (व्या० प्रा०)।

(३९) व्यापक प्राकृत में द्विवचन और बहुवचन के रूप एक से बनते हैं। वैदिक परम्परा में भी यह बात दीख पड़ती है —

लौ० स०	वै० भा०	व्या० प्रा०
	उभा देवा वेनम्ता[१]	जिमा देवा
	इन्द्रावरुणा मित्रावरुणा	कुवा आदि
	सुरथा दिविस्पृशा	
	अश्विना सृम्मा	

व्यापक प्राकृत में तो द्विवचन का प्रयोग ही नहीं है। उसके बदले बहुवचन रूप प्रयुक्त होता है किन्तु वैदिक रूपों में द्विवचन सूचित किया जाता है। फिर भी कितने हो ऊपर कहे गये-जैसे शब्दों के द्विवचन और बहुवचन क रूप एक–से होते हैं।

(४०) लिङ्ग आदि का विपर्यय

यह प्रवृत्ति जितनी व्यापक प्राकृत में मिलती है उतनी ही वैदिक भाषा में मिलती है। वैदिक प्रक्रिया[२] में बताया गया है कि नाम की विभक्तियों क्रियापद

---

१ वै० प्र०—४ ४ १४४

२ देखिये—ऋग्वेद सं० ७—८२–१–२ तथा

१ व० प्र० ७ १ ३९

१ सुप् तिङ —उपग्रह-लिङ्ग–नराणां
काल–हल–अच्–स्वर–कर्तृ —यङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषा
सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ —वै० प्र० ३ १ ८५

की विभक्तियों आत्मनेपद-परस्मैपद लिंग पुरुषों काल व्यंजनों, स्वरों कारकों और कारकवाची प्रत्ययों का वैदिक रूपों में विपर्यास हो जाता है किन्तु व्यापक प्राकृत में यह विपर्यास साधारण है।

(४१) 'अन' (वै०) तथा 'अणअ' (व्या० प्रा०) दोनों भाषाओं में समता के सूचक हैं। लौकिक संस्कृत में एक कर्तृ-सूचक प्रत्यय 'तृन्' है। प्राकृत में इसी के स्थान पर 'अणअ' तथा वैदिक भाषा में 'अन' का प्रयोग मिलता है —

लौ० सं०	वै० भा०	व्या० प्रा०
×	×	मारणउ मारकणा
×	×	बोल्लणउ बोलकणो
×	×	भसणउ भसकणा
×		भसणारो
×	वह्+अन=वाहन	×
×	पुरीषवाहन	×
×	पुरीष्यवाहन	×
×	हव्यवाहन	×

(४२) लौकिक संस्कृत में ह्यस्तन और अद्यतन भूतकाल में क्रियापदों के आदि में 'अ' लगाने की पद्धति है। अभूत अगमत् आदि शब्द इसी पद्धति से बने हैं। यह पद्धति कितने ही वैदिक रूपों में नहीं थी उसी प्रकार व्यापक प्राकृत में भी नहीं है

लौ० सं०	वै० भा०	व्या० प्रा०
अमथ्नात्	मथीत्	मथीअ
अस्नात्	स्नात	स्नीअ
अभूत्	भूत	भवीअ

(४३) कितने ही पदों के बीच संधि जिस प्रकार वैदिक भाषा में नहीं मिलती वैसे ही व्यापक प्राकृत में भी कई शब्दों में नहीं मिलती।

वै० भा	व्या० प्रा०
ईषा+अक्षो	विसम+आयवो
क्या+इयम्	राय+इसी
पूषा+अविष्टु	साउ+उअयं

(४४) कई धातुएं वैदिक भाषा और प्राकृत में समान अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं —

वै० भा०	व्या० प्रा०
कृण (करना)	कुण (करना)
जिन (जीतना)	जिण (जीतना)

(४५) व्यापक प्राकृत में इकारान्त उकारान्त नरजातिक नामों के प्रथमा के बहुवचन में एक 'ओ' प्रत्यय भी लगता है। यह प्रत्यय प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप 'अग्निए' में उपलब्ध है —

लौ० सं०	वै० भा०	व्या० प्रा०
अग्नयः	अग्निए	अग्गिणो

(४६) व्यापक प्राकृत में कितने ही पद विभक्ति-बिना भी चलते हैं यह प्रवृत्ति कुछ वैदिक पदों में भी काम करती है। देखिये—

वैदिक भाषा—

आर्द्रेचमन् (सप्तमी), परमे व्योमन् (सप्तमी) लोहिते चर्मन् (सप्तमी) मीळ्हु (द्वितीया) चळ्हा (द्वितीया)

अभिशु (द्वितीया)

व्या० प्रा०—

बहुगत बालिकाना
संगीति सोजनेथा
ईदृश ते निमित्ता
धरणि कंपयमान
गय (गजानाम्)
एइ (एते)

(४७) व्यापक प्राकृत में कितने ही पद विभक्ति-बिना भी चलते हैं। यह प्रवृत्ति वैदिक पदों में भी काम करती है।

(४८) कुछ शब्द दोनों भाषाओं में यथावत् प्रयुक्त होते हैं। व्यापक प्राकृत में 'प्रति दिन' अर्थ में दिविदिवि'[1] शब्द प्रयुक्त होता है जो वैदिक दिवेदिवे[2] का स्पष्ट अनुकरण है।

(४९) व्यापक प्राकृत में अकारान्त नामों के लिए तृतीया बहुवचन में 'हिं' प्रत्यय का

---

१ तासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ सत्यु पमाणु।
मायहं चलण नवन्ताहं 'दिविदिवि' गङ्गाण्हाणु ।।

—है० व्या० ८ ४ ३९९

२ "दधाति मघवे दिवेदिवे" (वेदभाष्यकार (ऋग्वेद—पृ०२२
'दिवेदिवे प्रतिदिनम्"— महाराष्ट्र वैदिक संशोधन मंडल

विधान है। यह 'हि' प्रत्यय अकारान्त नामों के अतिरिक्त नामों के लिए भी लगता है। यह व्यवस्था वैदिक प्रक्रिया में भी मिलती है। इसी प्रकार अका रान्त नामों के लिए तृतीया बहुवचन का 'एस्' प्रत्यय वैदिक प्रक्रिया में ईकारान्त नामों में भी लगता है, जैसे नदी के तृतीय बहुवचन 'नद्य में'[1]।

(२०) व्यापक प्राकृत में 'कुह' अव्यय 'कहाँ' अर्थ में और 'न' अव्यय उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद की भाषा में भी 'कुह'[2] (कहाँ) तथा 'न' (उपमा अर्थ में) का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है।

उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यापक प्राकृत के प्रवाह का सीधा सम्बन्ध वेदों की जीवित मूल भाषा के साथ है। अतएव इस भ्रम के लिए कोई अवकाश नहीं है कि व्यापक प्राकृत का सम्बन्ध पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा निर्धारित संस्कृत के साथ है।

प्रकृति संस्कृतम

कई प्राचीन वैयाकरणों ने "प्रकृतिः संस्कृतम्—तत्र भवम् तत आगतम् वा प्राकृतम्" यह कह कर 'संस्कृत' को प्राकृत की जननी कहा है। एक प्रकार से तो उनका बताया हुआ अर्थ ठीक है किन्तु दूसरे प्रकार से असंगत है। यदि यहाँ 'संस्कृत' शब्द का अभिप्राय 'वैदिक संस्कृत' लें तो प्रकृतिः संस्कृतम् व्युत्पत्ति संगत है किन्तु संस्कृत का अर्थ पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा निर्धारित संस्कृत लें तो भाषा तत्व के विकास की दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता।

प्राकृत और संस्कृत

इस विषय में विचारने पर मुझे ऐसा लगा है कि जब व्याकरणों की रचना हुई तब गण्यमान्य वर्ग में संस्कृत भाषा का प्राबल्य उसी प्रकार था जिस प्रकार आज से कुछ दिन पूर्व अंग्रेजी का। किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि सामान्य जन समाज में प्राकृत का ही प्रचलन था। उस समय भी प्राकृत के दो रूप होंगे जन-प्रचलित प्राकृत तथा साहित्यिक प्राकृत बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार आज हिन्दी के दो रूप मिलते हैं एक बोल-चाल की हिन्दी तथा दूसरी साहित्यिक हिन्दी। यदि प्राकृत भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति के समझने के लिए तुलनात्मक दृष्टि से प्राकृत व्याकरण की रचना में बाहन-रूप से परिमार्जित संस्कृत भाषा का उपयोग किया हो और उसको बताने के लिए उन वैयाकरणों ने 'प्रकृतिः संस्कृतम्' कहा हो तो यह समय तक संगत है

---

१ पाणि० वार्तिक ७–१ १०
२ निरुक्त पृ० ५२० तथा ऋ वे —पृ ६१०—६१२—५२८ म० मु)

प्राकृत के समझने के लिए संस्कृत बिल्कुल उसी प्रकार वाहन का काम करती है जिस प्रकार वैदिक भाषा के समझने के लिए वह वाहन का काम करती है। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की जिसमें लौकिक संस्कृत का विधान किया। बीच-बीच में 'छन्दसि बहुलम्, छन्दसि उभयथा' आदि निर्देशों से वैदिक विधान को भी बतलाया। पाणिनि ने किसी भी विधान के समय प्रथम लौकिक संस्कृत का विधान किया है उस के बाद विशेष परिवर्तन बताने के लिए वैदिक विधान का उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह नहीं था कि लौकिक संस्कृत वैदिक भाषा की प्रकृति है अथवा लौकिक संस्कृत में से वैदिक भाषा का जन्म हुआ। शब्दों की परस्पर तुलनात्मक परीक्षा के लिए अमुक भाषा को वाहन रूप से रखना आवश्यक है इस दृष्टि से पाणिनि ने वेदों की भाषा का व्याकरण बनाने के लिए लौकिक संस्कृत को अग्रस्थान प्रदान किया।

पाणिनि का समय एवं संस्कृतप्रिय शिक्षित वर्ग

यदि पाणिनि ने वेदों की भाषा का व्याकरण पहले रचा होता और उसके बाद लौकिक संस्कृत में हुए विशेष परिवर्तन को दिखाया होता तो भाषा-तत्व के विकास की दृष्टि से यह बात अधिक उचित होती किन्तु पाणिनि के समय वेदों की भाषा जीवित न थी तथा उस समय का मध्यमवर्ग समाज विशेष रूप से याज्ञिक समाज लौकिक संस्कृत का विशेष पक्षपाती था अतएव उस वर्ग की रुचि की ओर ध्यान देते हुए पाणिनि ने अपने व्याकरण में लौकिक संस्कृत को प्रथम स्थान दिया और वैदिक भाषा को उसके बाद का स्थान दिया। तात्पर्य यह है कि पाणिनि ने वैदिक भाषा की पद्धति समझाने के लिए लौकिक संस्कृत को वाहनरूप स्वीकार किया है। उसी प्रकार प्राकृत भाषा का व्याकरण रचने वालों ने तुलनात्मक दृष्टि से प्राकृत भाषा की रचना को समझाने के लिए लौकिक संस्कृत को वाहन रूप से प्रयुक्त किया है, किन्तु इससे लौकिक संस्कृत को प्राकृत-जननी मान लेना अनुचित होगा।

आदिम प्राकृत और लौकिक संस्कृत

वेदों की ऋचाओं में संचित भाषा का नमूना हमारे सामने है। वह जब लोगों की बोलचाल की भाषा थी और बोलचाल की होने के लिए अपने आप जो परिवर्तन हो रहे थे जिनके संस्कार के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुए वह अबालगोपाल फैली हुई भाषा आदिम प्राकृत या व्यापक प्राकृत है। ऋचाओं की भाषा और उक्त आदिम प्राकृत भाषा के प्रयोगों को ध्यान में रख कर संस्कृत-भक्तों की दृष्टि में जो प्रयोग शुद्ध प्रतीत हुआ उसमें से लौकिक संस्कृत की घटना करने वालों ने जिस प्रकार की जिस भाषा की संघटना की वह लौकिक संस्कृत भाषा कहलायी।

स्पष्ट रूप से आदिम प्राकृत और लौकिक संस्कृत ये दोनों प्रवाह पृथक्-पृथक्

बहे चले गये। तो भी उन दोनों का मूल किसी एक प्रवाह में है यह संदेहास्पद नहीं है।

व्यापक प्राकृत और वैदिक भाषा इन दोनों में गाढ़ संबंध है। ये दोनों एक ही प्रवाह से निकली हुई माँ-बेटी नहीं वरन् बहिनें हैं। लौकिक संस्कृत का क्षेत्र परिमित होने से वह छोटी बहिन है और प्राकृत का क्षेत्र विशाल होने से वह बड़ी बहिन है। दो बहिनों में जो स्नेह-संबंध हो सकता है वही इन दोनों भाषाओं में है। आज न तो प्राकृत बोलचाल की भाषा है और न संस्कृत ही किन्तु दोनों भाषाओं का विपुल साहित्य उपलब्ध है जिससे इन दोनों के संबंध को समझा जा सकता है। जिस प्रकार बड़ी बहिन अपने अलंकारों से छोटी बहिन को सजाती है उसी प्रकार प्राकृत भाषा ने अपने मृदु आभूषणों से छोटी बहिन संस्कृत का मंडन किया है।

इस स्नेह-संबंध को 'साला' अर्थ में प्रयुक्त 'स्याल' और 'श्याल' शब्दों के उपयोग से समझ सकते हैं। गवेषणा से ज्ञात हुआ है कि 'स्याल' शब्द मूल रूप है और 'श्याल' उसका दूसरा उच्चारण है। ऋग्वेद के "अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्"[1] इस मंत्र में 'स्याल' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है।[2] मागधी प्राकृत में 'स' का 'श्' उच्चारण प्रचलित है। इस प्रकार मागधी के सहवास से 'स्याल' का 'श्याल' हो गया और बाद में ये दोनों शब्द लौकिक संस्कृत में यथेच्छ विहरने लग गये और कोशकारों ने इन दोनों को संस्कृत का शब्द समझ कर कोश में स्थान दे दिया। किसी-किसी[3] कोश में केवल 'श्याल' का ही निर्देश है और किसी-किसी[4] में दोनों का निर्देश है।

---

१ ऋ० वे० पृ० १६१—सूक्त २

२ "स्यात् लाजान् आवपति—इतिवा' 'स्यम्' इति 'शूर्पम्' उच्यते तस्मात् असौ गृहीत्वा कन्यकाया अग्निम्या विवाहकाले लाजान् भृष्ट धान्यान् आवपति—प्रक्षिपति अग्नौ तस्मात् अयं 'स्याल' उच्यते—

—निरुक्त अ० ६ पा० २ खंड १० नैगमकांड—

पृ० २६१—निर्णय सा० प्रे०

३ "श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः"

(अमर० कां० २ श्लोक ३२ मनुष्यवर्ग)

४ स्यालश्यालावुभावपि पत्न्या भ्रातरि कथ्यते"—

शब्दरत्नाकर कां० ३ श्लोक १४६

इसी प्रकार 'सूप' अर्थ के सूचक 'शूर्प' और 'सूप' शब्द हैं। ये दोनों शब्द संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं। निरुक्त मे 'शूर्प' का निर्देश है, इसलिए यह शब्द प्राचीन होगा ऐसा प्रतीत होता है। प्राकृत प्रभाव से 'शूर्प' से 'सूर्प' शब्द प्रचलित हुआ। साधारण प्राकृत में 'श' और 'ष' दोनों के बदले अकेली 'स'-ध्वनि प्रयोग में आती है।

संस्कृत में जिन शब्दों के द्विधा उच्चारण हैं वे प्राकृत के प्रभाव से हैं —

१ श-स—]

काशी—कासी	शाक—साक	शब्दरत्नाकर
शम्—सम्	शर्करा—सर्करा	
शुम—सुम	श्वान—स्वान	
शाम्बरी—साम्बरी	शूर—सूर	
शर्वरी—सर्वरी	शची—सची	
उर्वशी—उर्वसी		

२ स—श]

स्याम—श्याम	शब्दरत्नाकर
सम—शम	
दासी—दाशी	
सूरि—शूरि	

३ ष—स]

वृषी—वृसी	मषी—मसी	"
चाष—चास		

४ स—श]

शुर—सुर

५ त—ट]

विकट—विकृत

६ र का लोप]

प्रियाल[1]—पियाल[2]

---

१ अमर० कां० २ श्लोक ३६, वनौषधीवर्ग—राजादनं प्रियालः स्यात्

२ हेम० कां० ४ श्लो० २०८—"राजादन पियाल स्यात्"

७ स्वरभक्ति]

बर्ह—बरह

भ्रम—भमर

गर्म—गरम

वर्षा—वरिसा

वर्ष—वरिस

पर्यत—परियत्

मनोऽर्थ—मनोरथ

८ अनुस्वारयुक्तता]

मद्र—मन्द्र

मदन—मान्दन

प्रतिभा—प्रन्तिभा

९ आ—अ]

कुमार—कुमर

फाम—फम

कमाल—कमल

१० इ—ए]

मुहिर— मुहेर (मूर्ख)

११ अ—आ]

पति—पाति

१२ ऋ—रि]

ऋज—रिज (पति)

१३ म—व]

करम्म—करम्ब

१४ ण—न]

श्लेष्मण—श्लेष्मन

१५ औ—उ]

कौकक्ण—कुकक्ण

कौतुक—कुतुक

१६ द—ध]

दस्यती—धस्यती (वैदिक)

१७ ह—भ]

हृट—भट्ट

१८ त—ट—ड]

कर्तक—कट्टक (वैदिक)

पत्तन—पट्टन

१९ श्म—म्भ
श—म }

काश्मरी—कम्भारी—गम्भारी

२० ट—ड]

तटाक—तडाक

पेटा—पेडा

कुटी—कुडी

२१ व—ब
तथा द का लोप }

द्वार—बार

२२ ड—ल]

ताडक—तालक

बालिश—बाडिश

जड—जल

पुलि—पुडि

बिडाल—बिलाल

कलेवर—कडेवर

कलभ—कडभ

वडिश—बलिश

नाडी—नाळी

२३ 'स' का लोप]

स्तूप—थूप

२४ 'य' का लोप
और
'र' की वृद्धि }

चैत्य—चैत्र

पामर—प्रामर

२५. 'क' का लोप]

मामक—मोत्र

२३ म—ब]

तम्मा—तम्बा (गाय)

२४ अन्त्य लोप]

धामन्—धाम
तमस्—तम
सोमन्—साम
रोचिस्—रोचि
शोचिस्—शोचि
चमस्—चम
यशस्—यश
होमन्—होम
तपस्—तप

२५ स्वर तथा संयुक्त वर्ण]

कितने ही एकार्थक शब्दों का उच्चारण इस प्रकार से विविध दीख पड़ता है कि उन उच्चारणों से उन की प्राकृतता सिद्ध होती है —

चन्द्र—चन्दिर—चन्द
विकुस—विकस—विकस्व
पुल्कस—पुक्कस—पुल्कस
उषिज—उषिप—तापिप
वनीपक—वनीयक—वनक
घोट—घाट—घोर
वराणसी—वाराणसी—वाणारसी
हुण्डे—हुम्भे
सुवासिनी—स्ववासिनी
मौक्तिक—मुक्तिक—मक्तिक
मस्तक—मस्तिष्क
प्रपाद—प्रापाद
एतश—ऐतश
विकोशा—विकौशा
निघण्टु—निर्घण्टु
नेष्टृ—नेष्ट्र
पिपोका—पिपीका

२९ ण – न]

पाणिनि[1] के धातु-संग्रह में 'णो न' सूत्र आया है अर्थात् कहीं-कहीं धातु मूल में 'णोपदेश' आदि में हो जाता है उसी प्रकार 'न' भी निर्वचनीय है।

२७. प – स]

'प' और 'स' आपस में बदल जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि छोटी बहिन संस्कृत को बड़ी बहिन प्राकृत ने कितने पुराने समय से अपनी मृदुता और विविध उच्चारणों की रीति अर्पित की है जिससे वैविध्य का विकास हुआ है।

संस्कृत के अभ्यासियों ने प्राकृत के अभ्यास की उपेक्षा करके भाषा के अध्ययन की पूर्णता में ही बाधा नहीं डाली वरन् साहित्य के समुचित प्रस्तुतीकरण में भी बाधा डाली है। उनके दुर्लक्ष्य का ही परिणाम है कि नाटकों की प्राकृत में भारी अशुद्धियाँ समाविष्ट हो गयी हैं। नाटकों के विद्वान् संपादकों ने नाटकगत प्राकृत की शुद्धि की ओर ध्यान नहीं दिया अतएव नाटकगत प्राकृत के पाठ स्थिरता से वंचित हो गये हैं। नाटकों के कुछ संस्करणों में तो मूलपाठ रूप प्राकृत को नीचे टिप्पणी में रख दिया है और ऊपर उनका संस्कृत रूप दे दिया है। इतनी सी ही बात नहीं है, अपितु कितने ही नाटक-टीकाकारों ने नाटकों की प्राकृत की दुर्दशा कर डाली है। इसका अनुमान हम शिवराम महादेव परांजपे (पूना) द्वारा संपादित 'प्रतिमा' नाटक के कुछ उदाहरणों से कर सकते हैं।

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
इयम्हि	इम म्हि
किदं त्ति	किदं त्ति
ओमेण	ओमेन
मुणहाधराहो	मुणहाधराहो
किस्स	कीस
अम्मरेणा	अम्मरेणा
अह्मे हि	अम्हेहि
रोविदम्मे	रोविदम्मे

इन उदाहरणों को देख कर प्राकृतज्ञ विद्वानों को यह पता चल जाता है कि नाटकगत प्राकृत प्रयोगों में शौरसेनी प्राकृत का कंठावरोध करके पैशाची का गड़बड़

---

१ पाणिनीय ६–१–६५

भुटासा किया गया है। अन्य उदाहरण रत्नावली[1] से लेकर इसकी पुष्टि की जा सकती है —

प्रा०	सं०	शुद्ध
भासोएदु	भवलोक्यतु	भासोक्यतु
दासीए – धीए	दास्या – पुत्रि	दास्या: – दुहित:

१ रत्नावली—स० एम आर काले बी ए। इसमें मूलपाठ नीचे टिप्पणों में दिया है और ऊपर संस्कृत में समान रूप दिया है।

प्रा०	सं०	शुद्ध
केत्तिम-दूरो	कियद् रे	कियद् दू:
गुम्मंतरिदाभो	गुल्मान्तरिते	गुल्मान्तरितात्
सुहामदि	सुखमति	सुखायते
गुरुभो	गुरु	गुरुक
मउलीकिद	मुकुलायित	मुकुलीकृत

इन पाठों को देख कर भी यही अनुमान होता है कि प्राकृत-रूप ही उपेक्षित नहीं हैं प्रत्युत संस्कृत-रूपों के साथ भी अन्याय हुआ है। इन अशुद्धियों के सम्बन्ध में श्री विधुशेखर शास्त्री की यह आलोचना द्रष्टव्य है —

"संस्कृत दृश्यकाव्यसमूहे स्थाने-स्थाने प्राकृत-अंश विभिन्न-विभिन्न पाठे एत व्याकुल हइया उठियाछे ये ताहा बलिवार नहे × × × संस्कृत-पाठकगणेर प्राकृतेर दिके अनादरइ एइ पाठविपर्ययेर अन्यतम प्रधान हेतु। इहार संस्कार हओया नितांत आवश्यक।"[२]

प्राकृत और नीच पात्र

यह कल्पित भ्रम है कि प्राकृत भाषा नीच पात्रों की भाषा है। आज इस भ्रम के निवारित होने की आवश्यकता है। जो भाषा एक समय सर्वसाधारण में प्रचलित थी जिसे राजा भी बोलता था और रङ्क भी ब्राह्मण भी बोलता था और चाण्डाल भी उसे नीच पात्रों की बतलाकर उपेक्षित रखना उचित नहीं है। जिस भाषा को पक्का आर्य-संस्कृति के असाधारण प्रतिनिधि भगवान् महावीर और बुद्ध के मुख-रूप हिमाचल से बही जिस भाषा ने कविवर हाल वाकपतिराज रुद्रट और राजशेखर जैसे विद्वानों से आदर प्राप्त किया जिस भाषा में आर्य-संस्कृति से सम्बद्ध विपुल साहित्य सुरक्षित है जिस भाषा के परिचय के बिना आर्य-संस्कृति का इतिहास

---

२ पालिप्रकाश प्रवेशक पृ० १८ टिप्पण ४२

अपूर्ण रहता है और जिस भाषा के ज्ञान के बिना अपने देश में प्रचलित हिन्दी मराठी गुजराती बंगला मारवाड़ी आदि भाषाओं का इतिहास भी अज्ञात रहता है तथा जिसके बिना सर्वधर्म-समभावना जैसे जीवनहितकर सिद्धांत का आचरण सहज नहीं बन सकता उस भाषा को नीच पात्रों की भाषा' अथवा संप्रदाय विशेष की भाषा' कह कर अपनी जाति और अपने राष्ट्र का ज्ञान विज्ञान एवं संशोधन से वंचित रखना ही नहीं अपितु राष्ट्रीय साहित्य का बड़ा भारी अनिष्ट करना है।

प्राकृत (जनवाणी) और समाज

आज देश के नागरिकों और ग्रामीणों के बीच जो अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है उसका एक कारण शिष्ट समाज द्वारा प्राकृत-भाषा की उपेक्षा है। उपेक्षकों में देश के स्नातकों और अध्यापकों का प्रमुख स्थान है। वे भूल जाते हैं कि हिन्दी गुजराती बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं भी तो सर्वसाधारण की भाषाएं हैं। जिस प्रकार इनको नीचों की भाषा नहीं कहा जा सकता है वैसे ही प्राकृत भाषा को नीच पात्रों की भाषा नहीं कहा जा सकता। प्राकृत में व्यापक भारतीय संस्कृति का इतिहास निहित है। आज देश स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वे ऐसे रत्न भंडार की खोज कराके रत्नों का स्तरीकरण एवं गौरवपूर्ण व्यवस्थापन करें। इस दिशा में अध्यापकों और स्नातकों को विशेष रुचि लेनी चाहिये।

व्यापक प्राकृत में समाविष्ट भाषाएं

देश-भाषा के विविध रूपों को देखकर यह अनुमान हो सकता है कि यह विविधता अनेक कारणों और प्रादेशिक सम्बन्धों को सूचित करती है। संस्कृत भाषा के ऊपर भी अनेक भाषाओं का प्रभाव सूचित होता है। व्यापक प्राकृत के अङ्ग प्रत्यङ्ग का निर्माण करने वाली अनेक भाषाएं हमारे सामने आती हैं जिनकी अपनी अपनी विशेषताएं हैं। व्यापक प्राकृत में पालि अर्द्ध मागधी या आर्षप्राकृत धर्म लिपियों की भाषा चक्रवर्ती खारवेल आदि के प्राकृत शिलालेखों की भाषा साधारण प्राकृत शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिकापैशाची और अपभ्रंश का समावेश है।

१ पालि

अनेक विद्वानों ने 'पालि' शब्द को 'पंक्ति' या 'पल्ली' शब्द से व्युत्पन्न माना है। पालि का तात्पर्य है शास्त्र की पंक्ति—सद्ग्रन्थ श्रेणी। बौद्ध-धर्म के मूल ग्रन्थों—'पिटकों'—में जो अक्षर-पंक्ति है उसका नाम पालि भाषा है। पल्ली' का तात्पर्य है गामड़ा' और जिस भाषा का प्रचलन गामड़ों या छोटे छोटे गांवों तक में है वह भाषा 'पालि' है। 'पालि' शब्द के मूल रूप और व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों ने इसका सम्बन्ध 'पाटलिपुत्र' से जोड़ा है और किसी ने

भाषा-गुणों से। जहां तक मैं समझता हूं 'पालि' के सम्बन्ध में विभिन्न मत अनेक अटकलबाजियां ही हैं। मूल में 'पालि' शब्द किसी जाति की भाषा के अर्थ का वाहक नहीं था किन्तु बौद्ध साहित्य में यह शब्द भगवान् बुद्ध की 'धर्मदेशना' के अर्थ में बार-बार प्रयुक्त हुआ है और भगवान् बुद्ध जिस भाषा में लोगों को उपदेश देते थे उस भाषा के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग हुआ है बाद में भगवान् बुद्ध की देशना' और मागधी भाषा का अभेद माना गया और उस प्रकार की अभेद-कल्पना के साथ देशना-उपदेशवाचक 'पालि' शब्द लक्षणा के कारण 'भाषा' अर्थ में रूढ़ हो गया। ऐसा होने पर भाषावाचक 'पालि' शब्द के मूल की शोध करना व्यर्थ है, परन्तु देशनावाचक 'पालि' पद के मूल की शोध आवश्यक है।

बौद्ध-साहित्य के मूलरूप पिटक-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर 'देशना' के अर्थ के लिए 'परियाय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अशोक की धम्मलिपियों में 'देशना' के पर्याय के रूप में 'पलियाय' पद भी आया है। इसी 'पलियाय' शब्द में 'पालि' शब्द का मूल निहित प्रतीत होता है।

एक अन्य मत यह है 'प्राकृत भाषा में 'प्राकृत' शब्द का पायय और पायड— ये दो उच्चारण प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों ने 'पाउम' को भी एक उच्चारण बताया है। स्वभाववाचक 'प्रकृति' के भी 'पयइ' और पयडि'—ये दो रूपान्तर ही बतलाये हैं। 'पयडि' शब्द का तद्धितान्त रूप 'पायड' है और उसका स्त्रीलिंग रूप 'पायडी' है। उससे स्वाभाविक भाषावाचक 'पालि' शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

षड्भाषाचन्द्रिका में भी लक्ष्मीधर द्वारा बताये हुए रूपक—परिभाषा के प्रक रण में प्राकृत भाषा के लिए 'प्राकृती' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'प्रकृति' से बना हुआ जिस प्रकार प्राकृत शब्द आता है उसी प्रकार 'प्राकृतिक' भी आता है। 'प्राकृतिक' उच्चारण ही 'पायडम' और 'पायडिम' हैं। इनमें से 'पायडिम' उच्चारण से 'पाय- लिम' और फिर उससे 'पालि' शब्द व्युत्पन्न हो सकता है। इससे अर्थ-बाध भी नहीं होता। पालि अर्द्धमागधी या आर्ष प्राकृत—इन तीनों शब्दों द्वारा सूचित भाषा में भेद नहीं था। मेरठ और हरियाणा की बोली में जितना अन्तर हो सकता है उतना ही अन्तर पालि अर्द्धमागधी और आर्ष प्राकृत में हो सकता है।

यह भाषा अशोक की धर्मलिपियों बौद्धधर्म के मूलभूत पिटक-ग्रन्थों तथा अट्ठकथाओं और जातककथाओं आदि में संचित है। इन रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि समग्र बौद्ध साहित्य में जो साहित्य जितना प्राचीन है उसकी भाषा में पीछे के साहित्य की भाषा से उतनी अधिक प्राचीनता है। बाद के साहित्य में व्याकरण के नियन्त्रण का जितना प्रभाव है उतना पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं है। कच्चायण नाम के विद्वान् ने इस भाषा का एक सविस्तर व्याकरण लिखा है। उसके उपरान्त बालावतार महारूपसिद्धि आदि ने अनेक बड़े बड़े व्याकरण और वृत्त

ग्रन्थों की रचना सिंहल आदि लिपियों में की। कुछ लोग पालि भाषा को बौद्ध मागधी भी कहते हैं।

क्या पालि और बौद्ध-मागधी एक ही भाषा के दो नाम हैं? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। बौद्ध-मागधी नाम से यह सूचित होता है कि वह भाषा जिसे बुद्ध भगवान् ने अपने उपदेशों के लिए चुना और जिसका संबन्ध मगध से था बौद्ध-मागधी थी अथवा वह मागधी जिसको बुद्ध ने उपदेशों के लिए अपनाया बौद्ध-मागधी थी। यदि बौद्ध-मागधी का तात्पर्य यह है कि वह किसी क्षत्र विशेष की भाषा थी तब तो उसे बुद्ध ने निश्चित रूप से व्यापक भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया होगा। यदि बौद्धमागधी से तात्पर्य मगध की उस भाषा से है जो क्षेत्रीयता के संकीर्ण बन्धन से मुक्त थी और थोड़-बहुत भेद-प्रभेद से समग्र मगध राज्य और उसके परि-पार्श्वों में प्रचलित थी तो वह भाषा अवश्य ही मध्यदेश की व्यापक भाषा थी जिसे अशोक ने अपने धर्मलेखों की भाषा के रूप में प्रयुक्त किया था। वह भाषा शौरसेनी की पूर्वजा मध्यदेशीय भाषा ही हो सकती है, क्योंकि मध्यदेश की भाषा सदैव थोड़े बहुत अन्तर से एक व्यापक भूभाग में प्रचलित रही है। अतएव 'पालि' मगध-क्षेत्र की भाषा न होकर मगध साम्राज्य के व्यापक भूभाग की भाषा थी।

मागधी के जो लक्षण उपलब्ध हैं पालि में वे उपलब्ध नहीं हैं। 'र' के स्थान पर ल' 'स' के स्थान पर 'श' तथा प्रथम एकवचन में ए प्रत्यय का प्रयोग—ये तथा ऐसी ही अनेक विलक्षणताएं जो मागधी की अपनी विशेषताएं हैं पालि में कहाँ हैं? अतएव बौद्ध-मागधी मागधी भाषा नहीं थी वरन् शौरसेनी की पूर्वजा मध्यदेशीय व्यापक भाषा थी जो मगध साम्राज्य में बोली-समझी जाती थी। बौद्ध-मागधी केवल मागधी भाषा न होकर वह मागधी थी जिसे बुद्ध ने अपने उपदेशों की भाषा के रूप में चुना। बौद्ध-मागधी में मागधी भी समाविष्ट हो सकती थी किन्तु वह मागधी क्षत्रीयता से मुक्त थी।

२ आर्ष प्राकृत (अर्द्धमागधी)

प्राचीन ऋषियों के प्राकृत भाषामय वचनों में जो प्रयोग प्राकृतव्याकरण विहित नियंत्रण से मुक्त हैं उनको आर्ष प्रयोग अभिधा प्रदान की गयी है। जो आर्षप्रयोग प्राकृत में मिलते हैं उनको 'आर्षप्राकृत' कहते हैं। जैन परम्परा के ऋषि प्रवर तीर्थङ्करों ने ऐसी ही सर्वजन सुगम अर्द्ध मागधी भाषा द्वारा धर्मदेशना प्रव-र्तित की थी। परम्परा से जिस प्राकृतभाषा को अर्द्ध मागधी कहा गया है उसमें आर्षप्रयोगों की बहुलता है। इसलिए 'आर्षप्राकृत' और अर्द्धमागधी में विशेष भेद नहीं हुआ। वैदिक प्रयोगों की साधना के लिए पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वैदिक प्रक्रिया की रचना समाविष्ट की है उसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी परम्परासाम्य अर्द्ध मागधी के प्रयोगों की साधना के लिए कोई विशेष भिन्न व्यवस्था न करके

अपनी अष्टाध्यायी में 'आर्षम्' का नाम नीचे दे दिया है। इस प्रकार आचार्य हेम-चन्द्र की दृष्टि में भी अर्द्धमागधी और आर्षप्राकृत के बीच कोई विशेष भेद नहीं था। अर्द्धमागधी का कोई विशिष्ट रूप अवश्य होना चाहिये इसका ज्ञान वर्तमान जैन आगमों में मिलने वाले कितने ही विशिष्ट प्रयोगों द्वारा हो सकता है।

किन्तु मूल अर्द्धमागधी भाषा कालक्रम से जैसे घिस गयी है और वर्तमान जैन-आगमों में उसका जैसा रूप मिलना चाहिए वैसा रूप सुरक्षित नहीं है और जो रूप सुरक्षित है विशेष देखने पर ही उसका पता चलता है। अतएव उसको मात्र 'प्राकृत' न कहकर 'आर्षप्राकृत' कहा जाये तो असङ्गत नहीं और भूतपूर्वन्याय से 'अर्द्धमागधी' कहने में भी कोई बाधा नहीं है। 'पालि' और 'आर्षप्राकृत' बहुत कुछ समान हैं। दोनों की समानता का विवरण नीचे देखिये—

पालि	आर्षप्राकृत
१ अनादि असंयुक्त व्यंजन सुरक्षित है।	१ अनादि असंयुक्त व्यंजन अनेक प्रयोगों में सुरक्षित हैं।
२ सप्तमी एकवचन का प्रत्यय 'स्मि' है।	२ सप्तमी एकवचन का प्रत्यय 'सि' वा 'स्सिं' है।
३ 'पुच्छिंसु' आदि क्रियापदों में 'इंसु' प्रत्यय पालि में भी है।	३ 'पुच्छिंसु' आदि क्रियापदों में 'इंसु' प्रत्यय आर्षप्राकृत में भी है।
४ पालि में सि' 'ई' और 'इत्थ' प्रत्यय मिलते हैं।	४ अब्बवी' अकासी' विहरित्था' आदि क्रियापदों में 'ई' सी' और 'त्था' प्रत्यय मिलते हैं, जो पालि-प्रत्ययों से मिलते हैं।
५ पालि में 'सुग' 'सागस' आदि शब्दों में 'क' के बदले 'ग' की ध्वनि प्रवर्तित होती है।	५ इसी प्रकार आर्षप्राकृत में भी 'सिलोग' 'सुएग' 'सोवाग' आदि शब्दों में 'क' के बदले 'ग' का उच्चारण होता है।
६ 'कृत' अर्थ के लिए 'कट' शब्द का प्रयोग पालि में प्रचलित है।	६ आर्षप्राकृत में भी कट शब्द का प्रयोग इस अर्थ में मिलता है।

अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वर्तमान जैन अङ्ग-उपाङ्ग साहित्य में उसकी मूल भाषा अर्द्धमागधी की झांकी अच्छी तरह मिल जाती है और मूल भाषा विशेष घिस गयी प्रतीत होती है। आर्षप्राकृत की एक प्रमुख विशेषता यह

है कि जिस प्रकार साधारण प्राकृत में मनारिस्य और धर्मयुद्ध क ग च ज त द प ब और य तथा व लुप्त हो जाते हैं और उनके बदल कई प्रयोगों में 'य' श्रुति आ जाती है और कई प्रयोगों में उद्वृत्त स्वर—शेष स्वर—कायम रहता है उस प्रकार आर्षप्राकृत में नहीं होता। उसमें तो कई प्रयोगों में वे व्यंजन सुरक्षित रहते हैं और कितनों ही में उन उन व्यंजनों के बदले कोई दूसरा व्यंजन आ जाता है और बहुत से प्रयोगों में उन बहुत-से व्यंजनों के बदले 'त' श्रुति आती है जैसे—

कणिक – कूणित आरागक – माराहत अधिक – अहित आतुमिर – साउणित बर्मकि – बद्दति सामायिक – सामायित अन्तिक – अ तित नाराच – नारात बचन् – वति वय – वतिर – वतिर पूजा – पूता र जेश्वर – रातीसर आत्मज – अत्तते जितेन्द्रिय – जितिंदिय सतत – समत मना – जना पार – पात नदी – नती मृषावाद – मुसावात यदि – जति मायति – मातति स्वामित – ठातित नैरयिक – नैरतित परिवार – परिमाल कवि – कति आदि।

इस भाषा की-सी 'त' श्रुति न तो पालि में ही और न मागधी आदि अन्य भाषाओं में। मात्र एक द के बदले 'त' का उच्चारण पैशाची में प्रवर्तित है यथा दामोदर—तामोतर।

अर्द्धमागधी के स्वरूप के सम्बन्ध में जैन परम्परा में भी एक-सा विचार नहीं मिलता। निशीथचूर्णि में केवल एक उल्लेख इस सम्बन्ध में यह मिलता है— "पोराणं अद्धमागहभासानियमं हवइ सुत"। इसका अर्थ है—"पुरातन सूत्र अर्द्ध मागध भाषा में नियत है।"

श्री जिनदास महत्तर ने "अद्धमागह" पद की व्याख्या दो प्रकार से की है १ मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं" (मगध के अर्द्ध भाग में प्रचलित भाषा में निबद्ध शास्त्र 'अर्द्धमागध' कहलाता है) अथवा २ 'अट्ठारस देसीभासाणियतं अद्धमागधं" (अठारह देशी भाषाओं में प्रणीत शास्त्र अर्द्धमागध है)। इन दोनों विचारों से अर्द्धमागधी के स्वरूप के विषय में कोई प्रकाश नहीं मिलता। समग्र मगध देश की भाषा और मगध के अर्द्ध भाग की भाषा क्या भिन्न-भिन्न थी? इसी प्रकार दूसरा विचार भी अस्पष्ट है। अठारह देशी भाषाओं में किस किस की गणना की जाये और उनमें से प्रत्येक का रूप किस प्रकार समझा जाये?

नवाङ्गीवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने अर्द्ध मागध्या —अर्द्धमागधी' यह व्युत्पत्ति दिखलायी है अर्थात् जिस भाषा में बराबर आधी मागधी भरी हो वह अर्द्ध मागधी है। मेरी समझ में ये सब मत धुंधले हैं। इनसे किसी स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं होता।

कुछ लोगों की मान्यता है कि अर्द्ध मागधी का अर्थ 'पालि' के प्रसंग में ही [illegible] सकता है। पालि भाषा तो बौद्ध पिटकों की मागधी भाषा है और जैन

सूत्रों की भाषा आर्ष प्राकृत है। आर्ष-प्राकृत में कुछ तो पिटकों की सामग्री का रूप मिलता है और कुछ उसकी अपनी विलक्षणताएं भी हैं। इन दोनों प्रवाहों के सम्मिलित स्वरूप को व्यक्त करने वाली भाषा अर्ध-मागधी कही जा सकती है।

जैनों के मूल अ ग-उपांगों कलिंगराज खारवेल के लेख सूत्रों के ऊपर हुई प्राकृत व्याख्याओं वसुदेव हिंडी समराइच्चकहा आदि कथा-ग्र थों प्राकृत में लिखे तीर्थ कर-चरित्रों आदि ग्र थों में आर्ष-प्राकृत संचित है। हस्तलिखित प्राचीन ग्र थों में संचित जैन आगमों की भाषा में तथा खारवेल के लेख की भाषा में घनी समानता है। आज मुद्रित आगमों में जो भाषा मिलती है उसमें व्यजन अधिक घिसे पिटे मिलने हैं खारवेल के लेख में भी यह घिसावट मिलती है किन्तु कम।

३ साधारण प्राकृत

'प्राकृत' शब्द की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। वह स्वाभाविक भाषा या लोक-भाषा थी। कालक्रम से प्राकृत का रूप बदलता चला गया। वेदों में संचित भाषा जिस समय बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी उसका वह रूप 'आदिम प्राकृत' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसको पहले स्तर की प्राकृत भी कह सकते हैं। धीरे-धीरे इसका रूप बदला और भगवान् महावीर और बुद्ध के समय लोगों की बोलचाल की भाषा ने जो रूप धारण किया और जिसमें वैदिक भाषा से परम्परागत सम्बन्ध दिखायी पड़ता है और जिसका नमूना बौद्ध पिटकों और जैन आगमों में मिलता है वह दूसरे स्तर' की प्राकृत थी। इसको द्वितीय प्राकृत भी कहते हैं। इसके अन्य नाम 'पालि' एवं आर्ष प्राकृत' भी प्रसिद्ध हैं। अशोक की धर्मलिपि की भाषा और कलिंग राज महाराजा खारवेल के लेख की भाषा द्वितीय प्राकृत' है। इसमें आदिम प्राकृत की अपेक्षा कई विशेषताएं मिलती हैं कुछ भेद मिलता है। समयभेद और स्थानभेद से जो विशेषताएं व्युत्पन्न हो सकती हैं वे द्वितीय प्राकृत में दृष्टिगोचर होती हैं।

कर्पूरमजरी आदि ग्रन्थों में जिस प्राकृत भाषा का उपयोग मिलता है वह दूसरे स्तर की प्राकृत भाषा से अवतीर्ण हुई है। द्वितीय स्तर से अवतीर्ण इस प्राकृत में असादि व्यजनों का उच्चारण विशेष रूप से घिस गया है और यह उसकी प्रमुख विशेषता है। आज हमें जो प्राकृत व्याकरण मिलता है और उसमें जिस भाषा की चर्चा की गयी है वह दूसरे स्तर की भाषा का परिणामस्वरूप रूप है। यही 'सामान्य या साधारण प्राकृत' है। इस प्राकृत के कई रूप मिलते हैं जिनमें से विख्यात ये हैं महाराष्ट्री मागधी शौरसेनी तथा पैशाची।

(क) महाराष्ट्री

'महाराष्ट्र' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। किसी ने इसका अर्थ प्रदेश-

विशेष किया है और किसीने 'महान् राष्ट्र' किया है। आचार्य दण्डी[1] ने देश (प्रदेश) विशेष की भाषा को महाराष्ट्री कहा है। आचार्य दण्डी महाराष्ट्री के समकाल भाषा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने ऐसा कहा हो। दूसरा अर्थ संकीर्णता से मुक्त है अर्थात् वह भाषा जो विशाल देश में बोली जाती है 'महाराष्ट्री' है। यदि महाराष्ट्री का यह अर्थ लिया जाये तो इसके अन्तर्गत समग्र साधारण प्राकृत समाविष्ट हो जाती है। चण्ड और हेमचन्द्र ने 'प्राकृत' के साथ किसी विशेषण को नहीं जोड़ा है। अतएव 'साधारण प्राकृत' का अर्थ विशाल देश में व्याप्त भाषा' उचित ही है। जैन सूत्रों की प्राचीन प्राकृत के लिए 'आर्षप्राकृत' और उसके बाद की प्राकृत के लिए 'साधारण प्राकृत' या जिसका व्याकरण विद्यमान है वह प्राकृत नाम दिया गया है।

यह कहा जा चुका है कि समग्र साधारण प्राकृत देश भर में एक सी नहीं थी। चण्ड के व्याकरण और हेमचन्द्र के व्याकरण में दी गई भाषाओं में विशेष भेद मिलता है। उदाहरण के लिए 'घट्टु' ('कृत्वा' अर्थ में प्रयुक्त) शब्द को लिया जा सकता है। हेमचन्द्र[2] इस शब्द का 'आर्ष प्राकृत' कहते हैं किन्तु चंड[3] ने ऐसा कोई भेद न करके उसे सामान्य प्राकृत में सम्मिलित किया है। चंड के व्याकरण में आर्षप्राकृत का भेद नहीं था। 'पिशाची' के बदले 'पिसाजी' और 'तीर्थ कर' के बदले 'तित्थयर' शब्दों के लिए 'प्रथमस्य तृतीया' यह सूत्र बनाकर चंड ने प्रयोगों को सिद्ध किया है किन्तु आचार्य हेमचन्द्र इन प्रयोगों को अनेक प्रकार से बतलाते हुए उनकी विरलता घोषित करते हैं। इससे यह भी सूचित होता है कि हेमचन्द्र द्वारा दत्त प्राकृत में अनादि व्यंजनों की जितनी घिसावट मिलती है उतनी चंड द्वारा बतायी हुई प्राकृत में नहीं थी। इस प्रकार 'साधारण प्राकृत' में भी कालकृत विशेषताएं मिलती हैं।

चंड के व्याकरण में पहले साधारण प्राकृत फिर अपभ्रंश फिर पैशाची पीछे मागधी और पीछे शौरसेनी—यह रचना क्रम रहा है किन्तु हैमव्याकरण में पहले साधारण प्राकृत फिर शौरसेनी फिर मागधी पीछे पैशाची चूलिका पैशाची और बाद में अपभ्रंश—यह रचना-क्रम है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का पृथक् निर्देश

---

१ "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः"—काव्यादर्श १.३४
(आचार्य दंडी छठी शताब्दी में वर्तमान थे)।

२ "घट्टु इति तु आर्षे"—हेम० ८.२.१४६

३ "तु-ता-त्वा-ट्टु-त-तूण-तुआण-मो-प्पि वि पूर्वकालेऽर्थे"

—(चंड-सूत्र १८)

करके सविस्तार नियम दिया है किन्तु चंड ने अपने सूत्र में अपभ्रंश का नाम-निर्देश करके केवल यह कहा है—

"न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य।"

प्राकृत के सम्बन्ध में चंड का यह निर्देश बहुत महत्त्वपूर्ण है—

संस्कृतं प्राकृतं चैवा अपभ्रंशोऽथ पिशाचिका।
मागधी सूरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिता ॥[1]

यही मत लक्ष्मीधर आदि विद्वानों का है—

षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिका पैशाची-अपभ्रंश इति क्रमात् ॥[2]

इस प्रकार 'प्राकृती' से प्राकृत शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश—इस क्रम से छै भाषाओं की सूचना मिलती है। इस प्रकार चंड और पीछे के वैयाकरणों में रचनाक्रम की जो विशेषताएं हैं वे सब साधारण प्राकृत में रहने वाली विशेषताओं की सूचक प्रतीत होती हैं। सामान्य रूप से 'साधारण प्राकृत में एकरूपता मिलती है किन्तु भेद-दृष्टि से परीक्षा करने पर उसमें स्थान और काल भेद से हुए परिवर्तनों की सीमा नहीं है।

मध्य युग के जैन पंडितों ने साधारण प्राकृत का विशेष उपयोग किया है। उस युग के ब्राह्मण पण्डितों ने भी उसका कुछ कम उपयोग नहीं किया। उनके नाटकों में तथा गउडवहो रावणवहो सेतुबंध गाथासप्तशती आदि अनेक ग्रंथों में उन्होंने साधारण प्राकृत का ही उपयोग किया है। जैन पण्डितों के प्राकृत में आर्ष के छींटे मिलते हैं किन्तु ब्राह्मण पण्डितों के प्राकृत में आर्ष के छींटे विशेषरूप से नहीं मिलते। यह दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है।

(ख) शौरसेनी

शौरसेनी से तात्पर्य उस भाषा से है जो शूरसेन प्रदेश में बोली जाती थी और जिसका मुख्य केन्द्रस्थान मथुरा और उसके आस-पास का प्रदेश था। इसका उद्भव-स्थान वह आदिम प्राकृत है जो कभी शूरसेन देश में प्रचलित थी। साधारण प्राकृत और शौरसेनी प्राकृत की शब्द-देह का स्वरूप लगभग एकसा है। विशेषता 'द' श्रुति की है। शब्द में रहने वाला असंयुक्त और अनादिभूत 'त' द-रूप में परिणत

---

१ देखिये चंड का प्राकृत लक्षण पृ० ४६।

२ लक्ष्मीधर, षड्भाषाचन्द्रिका पृ० ४—प्राकृतविनियोग

हो जाता है जैसे—पूरित—पूरिद मारुति—मारुदि मंदिर—मन्दिर। शूरसेन-प्रजा घमोष 'त' के बदले घोष 'द' की ध्वनि करने वाली है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शूरसेन प्रदेश प्राचीन काल से ही अपने उत्कर्ष के लिए विख्यात है। यहां की संस्कृति ने विशेष स्थान प्राप्त कर रखा है। शूरसेन-प्रजा के तेज और साहित्य के सम्बन्ध से शौरसेनी भाषा विश्रुत हो गई थी। भाज शौरसेनी में विशिष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं है। भास आदि महाकवियों द्वारा निर्मित नाटकों में कई पात्रों की भाषा के रूप में शौरसेनी सुरक्षित है। जैन परम्परा की दिगम्बर शाखा के मध्ययुगीन साहित्य में भी शौरसेनी भाषा प्राप्त होती है। प्राचीन शौरसेनी प्राकृत में व्यंजनों की घिसावट कुछ कम है बाद में उसकी वृद्धि हुई।

पालि भाषा में दो शब्दों के मध्य कई स्थानों पर 'र' का आगम हो गया है[1] जैसे—यथा+एव=यथरिव। इसी प्रकार जैन शाखा की शौरसेनी में दु+अधिय =दुराधिय' जैसे पदों में 'र' का आगम हुआ है।[2] दिगम्बरीय साहित्य में भणित-भणिय विस्तृत-वित्थड इत्यादि प्रयोगों में 'य' श्रुति नहीं थी और जैन जैन्द्र तत्त्वज्ञ-तच्चण्हु इत्यादि प्रयोगों में 'ण' के बदले 'न्ह' ध्वनि का प्रयोग होता था। वर वररुचि हेमचन्द्र सिंहराज लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय इन सभी ने शौरसेनी भाषा का उच्चारण की दृष्टि से पृथक्-पृथक् ढंग से विवेचन किया है। इससे शौर सेनी भाषा की विविधता समझी जा सकती है।

शूरसेनी देश में किसी समय शौरसेनी बोलचाल की भाषा थी और जब वह बोल चाल की भाषा थी तो उसकी उक्त विविधरूपता असमंजस भी कैसे हो सकती थी। शौरसेनी भाषा पालि जितनी प्राचीन नहीं है क्योंकि उसका उद्भव पालि के प्रवाह में ही हुआ था।

(ग) मागधी

जो प्राचीन प्राकृत मगध देश में प्रचलित थी वह मागधी का उद्भव स्थान है। बौद्ध भिक्षुओं ने उस भाषा को 'मागधी' नाम दिया है जो बौद्ध पिटकों में पायी है और कच्चायन जैसे महान् वैयाकरण ने जिसके स्वरूप को व्यवस्थित किया। मेरी दृष्टि में वह भाषा मागधी न होकर शौरसेनी की पूर्वजा पालि भाषा' है। हम

---

१ देखिये—"एव-मादिस्स रि पुब्बो च रस्सो"—पालि व्याकरण संधिकप्प २—काण्ड सूत्र ११

२ देखिये—प्रवचनसार, अधि २ गा ७१ "समवोदुराधिया हाभ्यां गुणाभ्यां अधिका"—प्रव० टीका।

मागधी के स्वरूप की कल्पना 'अर्द्धमागधी' के आधार पर कर सकते हैं जिसमें मागधी भाषा मिश्रित है।

साधारण प्राकृत शौरसेनी और मागधी का वर्ण विकार लगभग समान है। मागधी में 'र' के बदले 'ल' और 'स' के बदले 'श' के व्यवहार की विशेषता है। इसके अतिरिक्त मागधी में स्त स्प स्क स्म स्ख स्ट आदि संयुक्त व्यंजन भी मिलते हैं। ज द्य और य— इन तीनों के बदले 'य' ध्वनि प्रवर्तित है। 'न्य ण्य' 'ज्ञ और 'ञ्ज'— इन चारों के बदले 'ञ्ञ' का उच्चारण आता है। अनादि 'छ' का 'श्च' उच्चारण होता है और क्ष के बदले क की जिह्वामूलीय ध्वनि का प्रयोग होता है। मागधी में विजातीय संयुक्त व्यंजनों का प्रवर्तन विशेष रूप से होता है। इसमें व्यंजन कम घिसे हैं। आचारांग सूत्र में अकस्मात् तथा 'अशोक की धर्मलिपि' में 'अनुसस्टि' अन्न प्रियद्रशि 'पुलुव आदि प्रयोगों में मागधी उच्चारणों का पुट है। उच्चारण की दृष्टि से वररुचि आदि वैयाकरणों ने मागधी के स्वरूप में विभिन्नता बतलायी है। हेमचन्द्रादि वैयाकरणों द्वारा निरूपित मागधी का विशेष साहित्य नहीं मिलता तो भी नाटकों में अनेक पात्रों की भाषा में मागधी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और जैन स्तोत्रों में भी इसका पुट मिलता है।

पैशाची तथा चूलिका-पैशाची

षड्भाषाचन्द्रिका में रूपकपरिभाषा से उद्धरण देकर लक्ष्मीधर ने पाण्ड्य केकय बाह्लीक सिंह अथवा सह्य नेपाल कुन्तल सुदेष्ण भोज गांधार हैव कन्नोजन—इन सभी देशों को 'पिशाच देश' बतलाया है। इन देशों में स्थान भेद से भिन्न भिन्न भाषाएं प्रचलित थीं। अन्य देशों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना कठिन है किन्तु पाण्ड्य, केकय नेपाल गांधार—इन देशों का जो परिचय है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्ड्य दक्षिण में केकय-नेपाल आदि पूर्व-उत्तर में और गांधार-बाह्लीक पश्चिम उत्तर में हैं। अतएव इनकी भाषा एक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सही बात यह हो सकती है कि 'पिशाच' नाम की मनुष्य जाति पैशाची की जन्मदात्री है। शोधकों के मतानुसार इस जाति का मूल निवास-स्थान उत्तर-पश्चिम का पंजाब प्रदेश अथवा अफगानिस्तान का पूर्व प्रान्त भाग है।

(घ) चूलिका-पैशाची

चूलिका-पैशाची और पैशाची में निकट सम्बन्ध होना चाहिये यह बात उन दोनों के नाम से ही प्रकट होती है। 'चूलिका' शब्द शिखा-सूचक है। इससे भासित होता है कि 'पैशाची' भाषा वाले देश से आगे बढ़कर पूर्व में चूलिका-पैशाची का प्रचार होगा। ये दोनों भाषाएं ऐसी हैं कि जिनमें असंयुक्त व्यञ्जनों की घिसावट नहीं थी। पैशाची का यह स्वरूप उसे 'पालि' के निकट पहुंचा देता है। कहा जाता

है कि पंडित गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची में ही है। चंड ने पैशाची के लिए एक ही नियम बताया है कि "पैशाचिक्यां र-णयो ल-नौ"।[१] वररुचि ने पैशाची के विषय में चौदह सूत्र बनाये हैं।[२] हेमचन्द्र[३] सिंहराज[४] और लक्ष्मीधर[५] ने पैशाची के लिए चौबीस सूत्र बनाये हैं।

मार्कण्डेय ने तो अपनी रीति से पैशाची का भिन्न प्रकार से वर्णन किया है।[६] संस्कृतनाटकों के कई पात्रों की भाषा पैशाची है और कितने ही जैनस्तोत्रों में इस भाषा का थोड़ा-थोड़ा रूप झलक गया है।

वररुचि[७] ने प्राकृत प्रकाश में कहा है कि पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है मागधी की प्रकृति शौरसेनी है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है। हेमचन्द्र[८] के अनुसार शौरसेनी को प्राकृतवत् समझना चाहिये मागधी को शौरसेनीवत् और पैशाची को भी शौरसेनीवत् समझना चाहिये।

वर्णविकारों की दृष्टि से निर्धारित भाषा क्रम में सबसे पहले पालि या आर्षप्राकृत पीछे पैशाची पीछे अशोक की लिपि, खारवेल का शिला-लेख पीछे मागधी शौरसेनी और साधारण प्राकृत है। धीरे-धीरे वर्णों के परिवर्तन और घिसावट के बढ़ने से उसकी अवनति साधारण प्राकृत में सबसे अधिक हुई।

अपभ्रंश

भ्रंश का अर्थ है पतन अपने मूलस्थान से च्युति। अपभ्रंश का अर्थ हुआ 'अधिक नीचे पड़ना'। जिस प्रकार 'प्राकृत' शब्द 'अमुक देश' या अमुक काल की भाषा के लिए न होकर स्वाभाविक भाषा का सूचक है, उसी

---

१ चण्ड का प्राकृत लक्षण पृ० २४ (सत्य०)

२ वररुचि प्राकृत प्रकाश दशमो पैशाचिक परिच्छेद पृ० १११ ११३

३ हेमचन्द्र ८ ४ ३०३ ३२८

४ सिंहराज प्राकृतरूपावतार परिच्छेद २०-२१

५ लक्ष्मीधर षड्भाषाचन्द्रिका पैशाची निरूपण पृ० २१०-२११ (मुंबई सं०)

६ मार्कण्डेय प्राकृतसर्वस्व पृ० १२३ १२७ (विजयापट्टम्)

७ "प्रकृतिः शौरसेनी" —प्रा० प्रकाश परि० १० सूत्र २
"प्रकृतिः संस्कृतम्" — प्राकृत प्रकाश परि० १२ सू० २

८ हेमचन्द्र "शेषं प्राकृतवत्"—८ ४ २८६
"शेषं शौरसेनीवत्"—८ ४ ३०२
"शेषं शौरसेनीवत्"—८ ४ ३२३

प्रकार अपभ्रंश शब्द भी अमुक देश या अमुक काल की भाषा के लिए न होकर उस भाषा का सूचक है जो भ्रंश को प्राप्त हो गयी थी ।

जिस प्रकार एक समय वेद भाषा लोक-भाषा रूप में प्रचलित थी उसी प्रकार 'अपभ्रंश' नामवाली भाषा भी एक समय समस्त भारत में प्रचलित थी। यह 'अपभ्रंश' शब्द कहां से आया यह प्रश्न भी जिज्ञासा प्रेरित है। प्राचीन पंडितों की वाणी में अपभ्रंश शब्द भाषा के लिए और 'भ्रष्ट' शब्द 'उच्चारणों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में लोकभाषा के लिए साधारण भाषा' 'लोकभाषा 'जनपदभाषा' 'देशीभाषा या 'प्राकृतभाषा'—ये नाम ही उपयुक्त हैं।

'अपभ्रंश' नाम संस्कृत-पद से च्युत या भ्रष्ट भाषा को संस्कृत के पक्षधरों ने दिया होगा यह बात असामान्य नहीं है। ऐसे लोगों ने यहां तक कहा है—

'इस लोकभाष में जो-जो शास्त्र रचे गये हैं वे भ्रष्ट भाषा में होने से प्रामाणिक नहीं भले ही इन शास्त्रों में अहिंसा आदि सत्तत्त्व हों। जिस प्रकार कुत्ते के चमड़े की कोथली में भरा गाय का दूध भी भ्रष्ट होता है उसी प्रकार भ्रष्टभाषा में निरूपित यह सत्तत्त्व भी हेय एवं त्याज्य है।[1]

अपभ्रंश सामान्य अर्थ

'मागधी' और 'शौरसेनी' शब्द अमुक प्रदेश की भाषा का बोधक है पैशाची शब्द अमुक जाति की भाषा का बोधक है इसी प्रकार अमुक देश या जाति की भाषा के लिए अपभ्रंश' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ बल्कि लौकिक संस्कृत का भ्रष्टरूप आर्षप्राकृत का भ्रष्टरूप या साधारण प्राकृत का भ्रष्टरूप मागधी का भ्रष्टरूप शौरसेनी का भ्रष्टरूप पैशाची का भ्रष्टरूप—इन सब विशेष भाषाओं का भ्रष्टरूप अपभ्रंश के भाव में समाविष्ट हो जाता है।

---

१ देखिये तंत्रवार्तिक पृ २१७ (आनन्दाश्रम)

"असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्य-जैनागमादयः ।
असन्निबन्धनत्वात् च शास्त्रत्वं न प्रतीयते ॥
ततश्च असत्यशब्देषु कुतस्तेष्वर्थसत्यता ।
दृष्टापभ्रष्टरूपेषु कथं वा स्याद्-अनादिता ।'

"अम्भूमम्- अपि अहिंसादि श्वदृतिनिक्षिप्तक्षीरवत् अनुपयोगि अपि अस्मरणीयं च ।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से देखने पर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भाषा का जन्म वैदिकयुग की आदिम प्राकृत से सम्बन्धित है। वैदिकयुग में जो बोल-चाल की भाषा थी उसका नाम *आदिम प्राकृत* था। इसके बोलने वाले आर्य थे। जब उनका सम्पर्क आदिम लोगों से हुआ तो भाषा में सम्पर्क-जन्य स्खलन या विकास स्वाभाविक था। यही कारण था कि भिन्न भिन्न उच्चारणों और शब्द रूपों को जन्म मिला। आदिम प्राकृत के जिन उच्चारणों में *विशेष भ्रंश प्राप्त किया* उनका एक समग्र नाम 'अपभ्रंश' हुआ। अतएव जो समय आदिम प्राकृत का है वही समय भ्रष्ट उच्चारण रूप अपभ्रंश का है किन्तु यह बात ध्यान में रखी जाय कि आदिम प्राकृत के भ्रष्ट उच्चारणों का सूचक अपभ्रंश शब्द एक भाषाविशेष का सूचक नहीं था फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि विशिष्टभाषा रूप अपभ्रंश का बीज भ्रष्ट उच्चारणों में ही था।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग

महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा प्रयुक्त 'अपभ्रंश शब्द' मात्र अशुद्ध या विकृत उच्चारणों का सूचक है। महाभाष्यकार ने कहा है कि "कोई ब्राह्मणी अपनी प्रकृति के कारण 'ऋ' के बदले 'ऌ' का उच्चारण करती है और वह 'ऋतक' के बदले 'ऌतक' बोलती है। ब्राह्मणी का यह उच्चारण भ्रष्ट है।[1]

इस प्रकार 'अपभ्रंश' शब्द सामान्य अशुद्धि या विकृति का सूचक था। अपभ्रंश पद का साधारण एवं यौगिक अर्थ वैदिककाल में भी गृहीत था।

अपभ्रंश का स्वार्थ

नाट्यशास्त्रकार[2] भरत मुनि ने अपने शास्त्र के सत्रहवें अध्याय में अतिभाषा *आर्यभाषा जातिभाषा योन्यन्तरीभाषा भाषा विभाषा* आदि अनेक *भाषाओं* का उल्लेख किया है। बाद में मागधी अवन्तिजा प्राच्यभाषा शौरसेनी अर्द्धमागधी

---

१ देखिये महाभाष्य पृ० ४१ (प्रथम)

२ संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषा आर्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ॥२७
तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता ॥२८
मागधी अवन्तिजा प्राच्या शौरसेनी अर्धमागधी।
बाह्लीका *दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ॥४६*
शकार-आभीर चण्डाल शबर-द्रमिल-आन्ध्रजा।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥५ (नाट्यशास्त्र अध्याय १७)

बाह्लीका और दाक्षिणात्या इन ७ भाषाओं को भाषा नाम से अभिहित किया है तथा अनेकों भाषा को विभाषा बताया है। फिर शकारी चांडाली आभीरोक्ति, शाबरी द्राविडी आदि शब्दों से विशेष-विशेष भाषाओं को सूचित किया है।

भरत मुनि द्वारा प्रयुक्त भाषा शब्द की टीका करते हुए अभिनवगुप्त[1] ने कहा है— "भाषा संस्कृतापभ्रंश" तथा "भाषापभ्रंशस्तु विभाषा" अर्थात् संस्कृत का अपभ्रंश 'भाषा' है और 'भाषा का अपभ्रंश' विभाषा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त उक्त अपभ्रंश शब्दों में से पहला यौगिक और दूसरा रूढ़ है।

इसी प्रसंग में 'आभीरोक्ति' शब्द भी विचारणीय है। महाकवि दण्डी ने 'आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश'[2] कहकर जिस अर्थ का द्योतन किया है यदि उसी का द्योतन भरत मुनि ने किया है तो अपभ्रंश के 'रूढ़' प्रयोग के समय का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र में अपभ्रंश-लक्षण' पदों के उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं—

१ "मोरुल्लउ नच्चंतउ'
महागमे संभंतउ।" ६६

२ "मेहु उइ तु नई बोल्लउ
रिच्छम्ब ग्गिप्पहे एहु पंचउ॥" ७४

३ "एसा हंसवधू हिरुणा कारणउ।
गंतु वसु (उस्सु) दया कंतं संगइया॥"९६॥

४ 'पिय वाई वायतु सुवसतकाल
पिय कामुको पिय मदणं करंतउ" ॥१०८॥

५ 'वयदि वादो एहु पवाही दसिव दव" ॥१६६॥

इन उदाहरणों में 'उ प्रत्यय' वाले पदों का प्रयोग हुआ है। हेमचन्द्र[3] ने भी अपभ्रंश के स्वार्थिक 'डल्लस' प्रत्यय का यही रूप [बताया है। अतएव भरतमुनि द्वारा दिये गये उदाहरणों में 'मोरुल्लउ' जैसे पद उन पदों की काया को अपभ्रंश की काया सिद्ध करने में समर्थ हैं।

---

१ नाट्यशास्त्र १७।४९।६० टीका पृ० ३७६ (गायकवाड़ प्राचीन ग्रन्थमाला)

२. काव्यादर्श १।३६

३ 'अ-डड-डुल्ला: स्वार्थिक 'क' लुक् च'—हेम० अपभ्रंश प्रकरण—८।४।४२९'

विक्रम की छठी शती में विद्यमान चंड ने भी अपने 'प्राकृत व्याकरण' में "न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य" [1] सूत्र में विशेषभाषावाचक रूप अपभ्रंश पद का उपयोग किया है। इसी शती के राजा धरसेन (वि ६ शती) के एक शिलालेख में प्रयुक्त 'अपभ्रंशप्रबन्ध' पद से भी 'अपभ्रंश' शब्द साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का द्योतक प्रतीत होता है। महाकवि दंडी ने (८वीं शती) काव्यादर्श में अपभ्रंश पद की एक तो यौगिक व्याख्या की है और काव्यों में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा का लक्ष्य करके दूसरी रूढ़ व्याख्या भी की है जिसका संकेत पीछे किया जा चुका है। दंडी का मत यह है :—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यद् अपभ्रंशतयोदितम् ॥[2]

कुवलयमाला कथा के कर्ता दाक्षिण्यचिह्न या उद्योतनसूरि ने (९वीं शती विक्रम) अपनी रचना में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग विशेष भाषा के अर्थ में किया है —

"किंचि अवब्भंसकया का वि य पेसायभासिल्ला"
(कुवलयमाला प्रारम्भ अ० पा०)

इसके बाद राजशेखर भोज और वाग्भट आदि विद्वानों ने अपने काव्य शास्त्र से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थों में भी 'अपभ्रंश' पद का रूढार्थक प्रयोग किया है—

१ (क) 'संस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गितं पठेत्' काव्य मीमांसा अ ७ पृ० ३३
(ख) "अपभ्रंशवचनांसि ते संस्कृत वचांस्यपि ।'
(ग) "अपभ्रंशभाषाचरणप्रवणः परिचारकवर्गः" वही अ० १० पृ० ५०
(घ) सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क-भादानकाश्च" वही अ १ पृ ५१

२ "अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ।

३ (क) "संस्कृतं प्राकृतं तस्य अपभ्रंशो भूतभाषितम् । सरस्वती कंठाभरण
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥" प २ श्लोक ११
क वाग्भटालंकार २ १
(ख) "अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद् देशेषु भाषितम् । ख वही २ ३

---

१ देखिये चंडका प्राकृत लक्षण सूत्र ३७ पृ २४ (सत्य)
२ काव्यादर्श १ ३६

उक्त उद्धरणों का सावधानी से प्रयोग करने पर यही प्रतीत होता है कि साहित्यिक अपभ्रंश का प्रचलन वि० की छठी शती से पूर्व नहीं था किन्तु भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'आभीरोक्ति' और उसके उदाहरणों से साहित्यिक अपभ्रंश विक्रम की छठी शती से पूर्व चली जाती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि अपभ्रंश का साहित्यिक प्रचलन छठी शती वि० से पूर्व नहीं था तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह साहित्यिक अपभ्रंश एक ही दिन में जादू से उत्पन्न नहीं हो गयी थी। उसमें साहित्यिक योग्यता पाने के लिए लोकप्रियता एवं व्यापकता प्राप्त की होगी जिसमें समय लगा होगा। यह अनुमान अनर्गल न होगा कि अपभ्रंश को इस क्षमता की प्राप्ति के लिए दो-ढाई शताब्दी अवश्य लग गयी होंगी।

बौद्धों के ललितविस्तर तथा जैनों के 'वसुदेवहिंडि' आदि ग्रन्थों में अपभ्रंश का स्वरूप देखकर यह भासित होता है कि बोलचाल की अपभ्रंश भाषा पालि तथा आर्षप्राकृत के निकट की है। बोलचाल की अपभ्रंश के पश्चात् साहित्यिक अपभ्रंश का विकास हुआ। स्थूल दृष्टि से देखने पर साहित्यिक अपभ्रंश का शैसवकाल ६ठी शती वि० से पूर्व किशोरकाल ७वीं-८वीं शती तथा बाद में यौवन काल रहा। ११वीं शती में अपभ्रंश मृतप्राय हो गयी। अपभ्रंश के यौवन-काल ही में मध्य भारतीय आर्य भाषा अपना रूप संवारने लगी जिसका साहित्यिक प्रचलन ११वीं शती में हुआ। हिन्दी इसी अपभ्रंश की आत्मजा है।

अपभ्रंश का साहित्य विपुल है। महाकवि चतुर्मुख स्वयंभू त्रिभुवन तिलकमंजरीकार जैन महाकवि धनपाल भविसयत्तकहाकार धनपाल (द्वितीय) पुष्पदंत कनकामर जोइन्दु आदि कवियों की रचनाओं से अपभ्रंश का भण्डार पूर्ण है।

कुछ कवियों ने 'अपभ्रंश' भाषा को 'अवहट्ट' (अपभ्रष्ट) शब्द से अभिहित किया है। मेरी दृष्टि में अवहट्ट और अपभ्रंश में अन्तर नहीं है। हाँ ऐसा अवश्य प्रतीतहोता है कि अवहट्ट शब्द का प्रयोग बाद का है। विद्यापति ठाकुर की 'कीर्ति लता' नामक रचना 'अवहट्ट' में है। सामान्य रूप से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह नाम ढलती अपभ्रंश का द्योतक है। इस शब्द का प्रयोग अद्दहमान के संदेशरासक'[1] में भी हुआ है।

अपभ्रंश के विविध रूप

देश-काल के व्यवधान से व्यापक भाषा अनेक रूपों में विभक्त होजाने लगती है। अपभ्रंश की भी यही दशा हुई। इसके भी अनेक रूप दिखाई देते हैं—शौरसेन

---

१ "अवहट्टय-सक्कय-पाइयं च पेसाइयम्मि भासाए"—गाथा ६

अपभ्रंश, नागर अपभ्रंश, पैशाच अपभ्रंश आदि अपभ्रंश के प्रान्तिक भेद हैं। जिस प्रकार एक सर्वसाधारण प्राकृत भाषा थी और शौरसेनी मागधी आदि उसके प्रान्तिक भेद थे उसी प्रकार एक सर्वसाधारण अपभ्रंश भाषा थी और शौरसेनी मागधी आदि उसके प्रान्तिक भेद थे। साधारण अपभ्रंश और प्रान्तिक अपभ्रंश भेदों में बहुत बड़ा अन्तर नहीं था।

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में अपभ्रंश के नागर, टक्क, ब्राचड आदि भेद गिनाये गये हैं और इस भेद-गणना की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए मार्कण्डेय[1] ने अपभ्रंश के अनेक भेद बतलाये हैं।

अपभ्रंश की विशेषताएँ

१ संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में प्राप्त अन्तिम स्वर का ह्रास हो गया है।

२ पूर्वोक्त स्वर अक्षुण्ण रहा है।

३ द्वित्वव्यंजनों का विगलन और प्रथमाक्षर दीर्घ होने लगा है।

४ समीपस्थ स्वरों का संकोच हो गया है।

५ अकारान्त पुल्लिंग शब्द-रूपों की प्रधानता मिलती है।

६ लिंग-भेद समाप्तप्राय है।

७ तृतीया तथा सप्तमी और चतुर्थी-पंचमी-षष्ठी के रूपों का समन्वय तथा परसर्गों का प्रयोग होने लगा है।

८. पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में कमी हो गयी है।

९ विशेषणमूलक सर्वनामों के रूप नामों के समान चलने लगे हैं।

१० धातुओं के काल-रूपों में न्यूनता आ गयी है।

११ कृदन्त-रूपों का प्रयोगातिरेक हो गया है।

१२ 'ए ओ' ने ह्रस्व और दीर्घ दोनों उच्चारण ग्रहण किये हैं।

---

१ देखिये मार्कण्डेय प्राकृतसर्वस्व पृ २ (विषयानुक्रम)
१ नागर २ ब्राचड ३ उपनागर —ये प्रधान हैं।
४ लाट ५ वैदर्भ ६ बार्बर ७ आवन्त्य ८ पांचाल ९. टाक्क १० मालव ११ कैकय १२ गौड १३ औड्र १४ पाश्चात्य १५ पाण्ड्य १६ कौन्तल १७ सैंहल १८ कालिंग १९ प्राच्य २० कार्णाटक २१ काञ्च्य २२ द्राविड २३ गौर्जर २४ आभीर २५ मध्यदेशीय २६ वैतालिकी आदि सत्ताईस अ   का नाम लिया गया है।

१३ व्यंजनों में ङ तथा 'ञ' को छोड़ कर सभी ध्वनियां मिलती हैं।

१४ अन्त्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति मिलती है जैसे—प्रिया 7 पिय सन्ध्या 7 सांझ।

१५ उपधा (अन्त्याक्षर से पूर्व का अक्षर) सुरक्षित है।

१६ कहीं कहीं अन्त्याक्षर में व्यंजन-ध्वनि के लोप से उपधा तथा अन्त्य स्वर का संकोच भी हो जाता है जैसे पोट्टलिका 7 पोटली।

१७ आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति भी मिलती है—जैसे गभीर 7 गहिर तडाग 7 तलाउ।

१८ आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति मिलती है।

१९ आदि 'य' 'ज' में बदल जाता है।

२० मध्य व्यंजन के लोप की प्रवृत्ति भी मिलती है।

२१ महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर कहीं कहीं 'ह' हो जाता है।

२२ 'म' का 'वँ' हो जाता है।

२३ अन्तिम व्यंजन लुप्त हो जाता है जैसे जगत 7 जग आत्मन् 7 आत्मा।

२४ नपुंसकलिंग तथा द्विवचन समाप्त हो गये हैं।

२५ कारकों में परसर्गों तथा कृदन्तों का प्रयोग भी मिलने लगा है।

२६ सर्वनामों में रूप-परिवर्तन हो गया है।

२७ आत्मनेपद का सर्वथा लोप हो गया है।

२८ शब्द-रूपों में सरलता आ गयी है।

हिन्दी भाषा

पीछे यह बताया जा चुका है कि लगभग ११वीं शती के अन्त तक अपभ्रंश अपने साहित्यिक रूप को संवारती रही किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं १०वीं शती में प्रांकुरित हो चुकी थीं। वे साहित्यिक महत्व प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही थी। खुसरो के समय तक ये भाषाएं काफी प्रौढ़ हो चुकी थी और उनको साहित्यिक मान्यता भी मिलने लगी थी। हिन्दी को भी ऐसी मान्यता मिल गयी थी। इसका श्रेय धर्म और राजनीति को था। जैनों और सिद्धों ने अपने मत-प्रचार के लिए लोक-भाषा को मान्यता प्रदान की थी। साहित्य के माध्यम से धर्म के प्रतिष्ठापन की परंपरा आगे भी बनी रही। इस परंपरा को आगे बढ़ाने में नाथों ने अपना पूर्ण योग दिया। गोरखनाथ ने हठयोगी के रूप में जो गौरव प्राप्त किया उसमें जन भाषा का भी पर्याप्त योग था।

सच तो यह है कि राजनीति का सहयोगी धर्म इस समय स्पर्धा की नहीं, ईर्ष्या की भूमिका पर उतर आया था। जन-मानस का समूह इस समय जन-बोली हो कर चलती थी। इसी का परिणाम यह हुआ कि धर्मों और सम्प्रदायों के प्रवर्तक और प्रचारक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन जन भाषा में ही करने लगे। जन-भाषा को दुहरी शक्ति प्राप्त थी एक तो यह कि वह जनता की अपनी वाणी थी और दूसरी यह कि वह धर्म का माध्यम थी अतएव छोटे-बड़े सभी स्तरों के लोगों ने उसे अपनाया।

अपभ्रंश के अपभ्रंश होने के समय देश में अनेक साम्प्रदायिक अभियान चल रहे थे। उन में से प्रमुख दो थे एक तो भारतीय आस्थाओं पर आवृत था और दूसरा विदेशी आस्थाओं पर। दूसरे का प्रतिनिधित्व इस्लाम कर रहा था जिसको राजशक्ति का सहयोग मिल रहा था। सूफियों की भावनाएं अद्वैतिक धरा पर प्रतिष्ठित होते हुए भी मूलतः इस्लामिक थीं अतएव इस्लामिक और अइस्लामिक आस्थाएँ जनमानस को विजित करने के लिए प्रयत्नशील थीं। स्पर्धा की इस भूमिका पर हिन्दी को बहुत बल मिला। शौरसेनी का वास्तविक प्रतिनिधित्व हिन्दी के ही हाथों में था। अपनी स्थिति-जन्य व्यापकता के कारण हिन्दी को लोक-प्रियता भी प्राप्त हुई और परिस्थितियों का लाभ भी।

तलवार के सहयोग से जिस धर्म का प्रचार हो रहा था। उसकी भाषा अरबी थी और प्रच्छन्न रूप में जो धर्म जनमानस को मुग्ध करने का प्रयत्न कर रहा था उसकी भाषा जनवाणी थी फिर भले ही वह अवधी हो या दक्खिनी हिन्दी। इस प्रकार हिन्दी ने न केवल अपनी पूर्वजा का दायित्व सँभाला वरन् अतिरिक्त दायित्व को भी ओढ़ लिया। रामानन्द और वल्लभाचार्य विद्यापति और कबीर, बन्दानवाज और खुसरो, सूर और तुलसी एवं जायसी की वाणी का बल पाकर हिन्दी आगे बढ़ती चली गयी।

हिन्दी की शब्दावली में अरबी-फारसी का पुट स्वाभाविक था तथा तत्सम तद्भव और देशी की धरा पाकर यह पुट खिचड़ी की भांति स्वादिष्ट बन गया।

हिन्दी' शब्द

"संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' के रूप में पायी जाती है अतः संस्कृत के सिन्धु' और ,सिन्धी' शब्दों के फारसी रूप 'हिन्द और हिन्दी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिन्दवी' या हिन्दी' शब्द फारसी भाषा का ही है। संस्कृत प्राकृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इसका व्यवहार नहीं किया गया है। फारसी में 'हिन्दी' का शब्दार्थ 'हिन्द से संबंध रखने वाला है किन्तु इसका प्रयोग 'हिन्द के रहने वाले' अथवा 'हिन्द की भाषा' के

अर्थ में होता रहा है'।[1] हिन्दी है हम वतन है हिन्दोसितां हमारा' (इकबाल का तराना) में हिन्दी का अर्थ 'हिन्द' के रहने वाले' है किन्तु अमीर खुसरो के समय में इससे तात्पर्य 'भारतीय मुसलमानों' से था।[2] विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को 'हिंदी' कहा। बाद में बस कर उनकी भाषा का नाम भी हिन्दी पड़ गया। यह वही भाषा थी जिसका व्यवहार हिन्दू तथा भारतीय मुसलमान समानरूप से करते थे। सारांश यह है कि 'हिन्दी' शब्द मूलत: मुसलमानों की देन है जो बहुत प्राचीन है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'हिंद' या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है किन्तु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्यदेशीय हिन्दुओं का वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भू-भाग की बोलियों और उनसे संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भू भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश तक का दक्षिणी भाग पूर्व में भागलपुर दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भू-भाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र खड़ी बोली हिन्दी ही है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है किन्तु साथ ही इस भू-भाग की ग्रामीण बोलियाँ जैसे-मारवाड़ी ब्रज छत्तीसगढ़ी मैथिली अवधी आदि की गणना भी हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने हिन्दी भाषा के अन्तर्गत ही की है"[3] इस समस्त भूभाग की जनसंख्या अनुमानत: १८-२० करोड़ है।

भारतीय संविधान में 'हिन्दी' राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त कर चुकी है और अनेक बाधाओं के होते हुए भी उसका प्रचार और प्रसार बढ़ रहा है। विगत पच्चीस तीस वर्ष में इस भाषा के साहित्य ने विस्मयजनक विकास किया है। इसकी लिपि नागरी है जो अपने आप में काफी पुरानी है और जिसका विकास 'ब्राह्मी' लिपि से माना जाता है।

---

१ डा धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ ११

२ देखिये टॉम्सन-थॉम्सन पृ ११५

३ धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ ६०

हिन्दुई हिन्दवी अथवा हिन्दी

कई विद्वानों का मत है कि यह वह भाषा थी जो दिल्ली के आस-पास के हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होती थी और जिसमें फारसी अरबी शब्दों का अभाव था। पं० चन्द्रबली पांडे ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दवी हिन्दी की भांति ही शिक्षित हिन्दू-मुसलमानों की भाषा थी। सैयद इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा भी यही 'हिन्दवी' है जिसमें "और किसी बोली का पुट नहीं है। यहां और बोली से तात्पर्य विदेशी बोली से है। इंशा ने 'भाखापन' का उल्लेख भी किया है जो मेरी दृष्टि में 'गँवारू बोली' से भिन्न नहीं है। हिन्दवी को 'भले लोग' बोलते थे और सम्भवतः वे चुने हुए (शिक्षित) हिन्दू-मुसलमान थे। अतएव हिन्दवी केवल हिन्दुओं की भाषा न होकर हिन्दू-मुसलमान दोनों की भाषा थी।

हिन्दुस्तानी

'हिन्दी' और हिन्दुस्तानी दोनों शब्द भिन्न हैं। सामान्यतया इनसे एक ही भाषा की प्रतीति होती है, किन्तु दोनों भिन्न शैलियां हैं। यह नाम योरुपीय लोगों का दिया हुआ समझा जाता है किन्तु वास्तव में इस नाम के रखने वाले तुर्क विजेता थे। बाबर के आत्मचरित्र में 'हिन्दुस्तानी भाषा' की बात कही गई है इससे स्पष्ट है कि यह नाम १५वीं १६वीं शती में ही प्रचलित हो चुका था। बाबर के समय में उर्दू नाम की कोई भाषा थी, ऐसा अनुमान व्यर्थ होगा। उस समय जो देश भाषा मुस्लिम क्षेत्रों में भी प्रचलित थी वह मुख्यतः हिन्दी थी। हिन्दी उस समय भी जनसाधारण की भाषा थी उसे 'गँवारू' कहा गया है। यह बात हॉब्सन जॉब्सन के सन् १६१६ ई० के उद्धरण से स्पष्ट है।

योरुपीय लोग आज हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तान की भाषा मानते हैं किन्तु यह भाषा आज वह भाषा मानी गई है जो उत्तरी भारत के मुसलमानों की भाषा है और जिसमें फ़ारसी-अरबी के शब्दों के साथ अंग्रेजी के शब्द भी प्रचलित हैं। इसी अर्थ का समर्थन महात्मा गांधी ने किया था। मेरी दृष्टि में यह मिश्रित भाषा है इसे एकदम हिन्दी कहना भी अनुचित है और उर्दू कहना भी। यह वह भाषा है जिसे सर सैयद अहमद खां जैसे अंग्रेजीदां मुसलमान बोलते या लिखते थे।

उर्दू

उर्दू और हिन्दी में भी शैली भेद है। यह कहना भूल होगी कि हिन्दी में फ़ारसी-अरबी के या अंग्रेजी के शब्द नहीं हैं किन्तु विशेष अन्तर तो व्याकरण का है। हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र में स्वतंत्र विकास का परिचय देती हुई भी समास आदि में अथवा 'घरे घरे' 'द्वारे द्वारे' जैसे शब्दों में संस्कृत-पद्धति का

अनुसरण कर रही है। शब्दावली में तत्सम शब्द भी हैं किन्तु उर्दू इन सब विशेषताओं के होते हुए भी फारसी व्याकरण की ओर झुक कर अपनी शैली को हिन्दी-शैली से पृथक बनाने की चेष्टा करती है। मूलतः उर्दू हिन्दी की आत्मजा है और इसके विकास में हिन्दू-मुसलमान दोनों का योग है किन्तु कुछ समय से राजनीतिक दावपेचों ने इसे हिन्दी से विलग सिद्ध करने के लिए इसकी शैली को भी फारसी के बोझ से बोझिल कर दिया है।

नागरी लिपि

जिस प्रकार हिन्दी भाषा के विकास की भूमिका में आर्य भाषा के विकास का इतिहास आवश्यक था उसी प्रकार हिन्दी में प्रचलित नागरी लिपि के विकास की भूमिका प्रस्तुत करना भी आवश्यक है। विद्वानों की यह मान्यता है कि नागरी लिपि का मूल स्रोत ब्राह्मी लिपि है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद नहीं है किन्तु पश्चिम के विद्वानों में इस सम्बन्ध में मत-भेद है कि भारतीय लिपि भारत की अपनी वस्तु नहीं है। उसे भारत ने दूसरे देशों से प्राप्त किया अतएव अनेक मतों की पृष्ठभूमि में निर्णय लेने का प्रयत्न किया गया है। अनेक प्रमाणों द्वारा भारतीय लिपि की प्राचीनता का दावा असंगत नहीं है।

नागरी लिपि का प्रचलन केवल हिन्दी में ही हो ऐसी बात नहीं है प्रत्युत देश की और भी कई भाषाओं नागरी लिपि ही का प्रचलन है। मराठी राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओं में थोड़े-बहुत भेद के साथ नागरी लिपि ही प्रतिष्ठित है। कुछ दिन पहले इन प्रदेशों (राजस्थान गुजरात महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश आदि) में व्यापारी लोग महाजनी लिपि' का प्रयोग करते थे किन्तु आजकल इसका प्रच लन नगण्य या बिलकुल नहीं है। यह लिपि सामान्य पत्र-व्यवहार या साहित्य में प्रयुक्त न होकर केवल व्यापारिक कार्यों में ही प्रयुक्त होती थी। यह लिपि देव नागरी लिपि से सर्वथा भिन्न है। फिर भी कुछ विद्वान् यही मानते हैं कि इसका विकास 'नागरी लिपि से ही हुआ है। मुझे इसमें नागरी लिपि का कोई लक्षण दिखायी नहीं देता। संभवतः इसका प्रचलन गोपनीयता की भावना से हुआ हो। पूर्व संदर्भ से अपरिचित व्यक्ति को इस लिपि में से कुछ भी हाथ नहीं आ सकता था। इसकी स्वर-व्यवस्था बड़ी बेढंगी है और इसका प्रमुख स्वर 'इ' है जिससे अनेक स्वरों का काम लिया जाता है।

हिन्दी को बहुत से लोग गुरमुखी और फारसी लिपि में भी लिखते रहे हैं किन्तु उनमें भाषा की शुद्धता अक्षुण्ण नहीं रह सकी। वास्तव में हिन्दी का सर्वत्र नागरी लिपि से ही है और यह एक परम्परा का सम्बन्ध है। नागरी लिपि बहुत प्राचीन लिपि है। संस्कृत का अक्षय भण्डार इसी लिपि में है। इसका मूल स्रोत 'ब्राह्मी' लिपि है।

आज संसार की बड़ी उन्नतिशील जातियों की लिपियों को देख कर उनमें कोई महत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। कहीं ध्वनि और उसके सूचक चिह्नों (वर्णों) में साम्य नहीं है जिससे एक ही वर्ण एक से अधिक ध्वनियां प्रकट करता है जैसे c (स) c (क) c (च) और कहीं एक ही ध्वनि के लिए एक से अधिक चिह्नों का व्यवहार होता है तथा वर्णों के लिए कोई शास्त्रीय क्रम भी नहीं है, कहीं लिपि वर्णात्मक न होकर केवल चित्रात्मक ही है। ये लिपियां मनुष्य-जाति के ज्ञान की प्रारम्भिक दशा की निर्माण-स्थिति से अब तक कुछ भी आगे नहीं बढ़ सकीं किन्तु भारतवर्ष की लिपि हजारों वर्ष पूर्व भी इतनी उच्च कोटि को पहुंच गयी थी कि उसकी उत्तमता की समानता संसार की कोई लिपि नहीं कर सकती। इसमें ध्वनि और लिखित वर्ण का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा कि फोनोग्राफ की ध्वनि और उसकी चूड़ियों के चिह्नों के बीच है। इसमें प्रत्येक आर्य-ध्वनि के लिए अलग-अलग चिह्न होने से प्रत्येक वर्ण उच्चारण के अनुरूप ही लिखा जाता है और जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है।

ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य के आस-पास तक की भारतवर्ष की समस्त लिपियों की संज्ञा ब्राह्मी रखी है। इसके बाद लेखन-प्रवाह स्पष्ट रूप से दो धाराओं में विभक्त हो जाता है उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली में गुप्त कुटिल नागरी शारदा और बंगला लिपियों का समावेश होता है और दक्षिणी शैली में पश्चिमीय मध्यप्रदेशीय तेलगु-कनड़ी ग्रन्थ कलिंग और तमिल लिपियां सम्मिलित हैं। इन्हीं मुख्य लिपियों से भारतवर्ष की समस्त वर्तमान भाषा लिपियां (उर्दू के सिवा) निकली हैं। इन प्रमुख लिपियों के अतिरिक्त जिनका विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ माना जाता है भारत में एक अन्य लिपि खरोष्ठी का भी प्रचलन रहा था।

ब्राह्मी लिपि के सम्बन्ध में आर्यों का मत

भारतीय आर्य लोगों का यह मत है कि भारत में लिखने का प्रचलन बहुत प्राचीन है और उनकी लिपि (ब्राह्मी), जिसमें प्रत्येक वर्ण या चिह्न एक ही ध्वनि या उच्चारण का सूचक है और जो संसार भर की लिपियों से अधिक सरल और निर्दोष है स्वयं ब्रह्मा ने बनायी है किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारतीय आर्य लोग पहले लिखना नहीं जानते थे। उनके वेदादि ग्रन्थों का पठन-पाठन केवल श्रवण-मनन द्वारा ही होता था। पीछे से उन्होंने विदेशियों से लिखना सीखा। इस सम्बन्ध में प्रमुख पाश्चात्य मत नीचे दिये जा रहे हैं —

(१) मैक्समूलर—"मैं निश्चय के साथ कहता हूं कि पाणिनि की परिभाषा में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो यह सूचित करता हो कि यहां लिखने की प्रणाली

पहले से थी।"[1] मैक्समूलर पाणिनि का समय ईसा पूर्व चौथी शती मानता है।

(२) बर्नेस—यह भी भारतीय लिपि को विदेश से आयी हुई मानता है। उसका कहना है कि— 'भारतवासियों ने लिखना फिनिशियन[२] लोगों से सीखा और फिनिशियन अक्षरों का प्रचलन जिनसे दक्षिणी अशोक-लिपि (ब्राह्मी) बनी भारत में ईसा पूर्व ५०० से पहले नहीं हुआ और संभवतः ईसा पूर्व ४०० से भी पहले नहीं हुआ।

(३) बूलर—बूलर के अनुसार भारत की प्राचीन लिपि (ब्राह्मी) की उत्पत्ति 'सैमेटिक'[३] लिपि से हुई है, किन्तु यह मैक्समूलर और बर्नेस द्वारा निर्णीत समय को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि भारत में 'सैमेटिक' लिपि का प्रवेश ईसा पूर्व ८०० के आसपास माना जा सकता है, किन्तु कुछ अधिक प्राचीन लेखों के मिलने से बूलर को अपने मत में संशोधन करके कहना पड़ा कि भारत में लिपि के प्रवेश का समय ईस्वी पूर्व दसवीं शती या उससे भी पूर्व का समय होगा।

भारतीय लिपि-प्रचलन की प्राचीनता

(१) शिलालेख—इस देश में जो प्राचीन शिलालेख विपुल संख्या में मिले हैं वे मौर्यवंशी राजा अशोक के समय के अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के हैं और पाषाण के विशाल स्तंभों अथवा चट्टानों पर खुदे हुए हैं। ये पेशावर से मैसूर तक

---

१ मैक्समूलर हिस्ट्री ऑव ऐन्श्येंट संस्कृत लिटरेचर पृ २६२ (इलाहाबाद प्रकाशन)

२ एशिया के उत्तरी-पश्चिमी विभाग के 'सीरिया नामक देश' (तुर्क राज्य में) को ग्रीक तथा रोमन लोग 'फिनिशिया' कहते थे। प्राचीन काल में वहां के *लोग बड़े व्यवसायी तथा शिक्षित थे। उन्होंने ही योरुप वालों को लिखना* सिखलाया। योरुप की प्राचीन तथा प्रचलित लिपियां उन्हीं की लिपि से निकली हैं।

३ अरबी इथियोपिक अरमइक सीरियक फिनिशियन हिब्रू आदि पश्चिमी एशिया और अफ्रीका खंड की भाषाओं तथा उनकी लिपियों को सेमेटिक' कहते हैं। कहा जाता है कि ये भाषाएं और लिपियां बाइबिल-प्रसिद्ध नूह के पुत्र शेम की संतति की भाषा और लिपि हैं।

और काठियावाड़ से उड़ीसा तक अर्थात् लगभग सारे भारतवर्ष में मिल चुके हैं।+ इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समग्र भारत में लिखने का प्रचार था। इन लेखों में देश भेद से अनेक अक्षरों की आकृति में कुछ भेद मिलता है और किसी किसी अक्षर के कई रूप मिलते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि लेखन-कला बहुत विकसित हो चुकी थी वह नयी नहीं थी।

अशोक से पूर्व के भी शिलालेख मिले हैं। उनमें से दो तो बहुत प्रसिद्ध हैं। एक अजमेर जिले के बड़ली गांव से मिला है और दूसरा नेपाल की तराई के पिप्रावा नामक स्थान के एक स्तूप के भीतर से मिले हुए पात्र पर जिसमें बुद्धदेव की अस्थि रखी गयी थी खुदा मिला है। इनमें से पहला एक स्तम्भ पर खुदे हुए लेख का टुकड़ा है जिसकी पहली पंक्ति में 'वीर (ा) य भगव (त)' और दूसरी में 'चतुरासिति व (स)' खुदा है। इस लेख का ओझाजी अर्थ जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर वीर (महावीर) के निर्वाण-संवत् का ८४वां वर्ष होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक है तो यह लेख ईसा पूर्व ५२७—८४ = ४४३ का होगा। डा॰ गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसकी लिपि अशोक के लेखों की लिपि से पहले की

+ अशोक के शिलालेख निम्नलिखित स्थानों पर मिल चुके हैं —

१ शहबाजगढ़ी (पंजाब में) २ मानसेरा (पंजाब में) ३ देहली
४ कालसी—(देहरादून जिले में) ५ सारनाथ (बनारस के पास)
६ (i) लौरिया अरराज अथवा रधिया
(ii) लौरिया नन्दनगढ़ अथवा मथिया
(iii) रामपुरवा (उत्तरी बिहार के चंपारन जिले में)
७ सहसराम (बङ्गाम में)
८ निगलिवा तथा रुम्मिनदेई (दोनों नेपाल की तराई में)
९ धौली (कटक जिले में—उड़ीसा में)
१० जौगढ़ (मद्रास में)
११ बैराठ (जयपुर-अलवर के बीच में)
१२ गिरनार (काठियावाड़ में)
१३ सोपारा (बम्बई से ३७ मील उत्तर थाना जिले में)
१४ सांची—(भोपाल—मध्य प्रदेश में)
१५ रूपनाथ—(मध्य प्रदेश में)
१६ मस्की (हैदराबाद से थोड़ी दूर)
१७ सिद्धापुर—(मैसूर के पास दक्षिण में)

प्रतीत हुई है। इसमें श्रीराम का 'श्री' अक्षर उस आकृति का है जो नागरी 'ठ' पर 'र' के चढ़ने से बनती है 'ठ्' । उक्त 'श्री' में जो 'ई' की मात्रा का चिह्न है वह किसी 'धर्म' 'कर्म' आदि के की शकल का है। वह न तो अशोक के लेखों में और न उनसे पिछले किसी लेख में मिलता है अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिये जिसका अशोक-कालीन रूप बिल्कुल वैसा ही है जैसा किसी छोटी पड़ी रेखा पर दाईं ओर को समाकार खड़ी हुई दो रेखाओं से बनता है ||) ।

दूसरे, पिप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिलकर उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव में यह बुद्ध के निर्वाण-काल अर्थात् ई० पूर्व ४८७ के कुछ ही पीछे का होना चाहिये।

इन शिलालेखों से प्रकट है कि ई० स० पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात न थी।

भारतवर्ष में रहे हुए यूनानी लेखक —

(i) निआर्कस् (ई० पूर्व ३२६) कहता है कि 'यहां के लोग रुई या रुई के चिथड़ों को कूट कर लिखने के वास्ते कागज बनाते हैं।

(ii) मेगस्थनीज (ई० पूर्व ३०६) लिखता है कि 'यहां पर दस-दस स्टेडिआ (१०१ फीट ६ इन्च) के अन्तर पर पाषाण लगे हैं जिनसे धर्मशालाओं तथा दूरी का पता लगता है। नये वर्ष के दिन भावीफल (पंचांग) सुनाया जाता है जन्मपत्र बनाने के लिए जन्म समय लिखा जाता है और न्याय स्मृति के अनुसार होता है।

इन दोनों लेखकों के कथन से स्पष्ट है कि ई० पूर्व चौथी शताब्दी में यहां के लोग रुई या चिथड़ों से कागज बनाना जानते थे पंचांग और जन्मपत्र बनाते थे और दूरी सूचक पत्थर तक लगाये जाते थे। ये प्रमाण लेखनकला की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

बौद्ध ग्रन्थ

बौद्धों के 'शील' 'विनय' 'जातक' 'महावग्ग' आदि प्राचीन ग्रन्थों में कितने ही ऐसे प्रसङ्ग आये हैं जिनसे लेख-पद्धति का अस्तित्व प्रमाणित होता है। 'शील' ग्रन्थ में बौद्ध साधुओं (श्रमणों) के लिए जिन जिन बातों का निषेध किया गया है उनमें 'अक्खरिका' (अक्षरिका) नामक खेल भी सम्मिलित है जिसे बालक भी खेला करते थे। इस खेल में खेलने वालों को अपनी पीठ पर या आकाश में लिखा हुआ अक्षर बताना पड़ता था।

विनय सम्बन्धी पुस्तकों में लेख की कला के रूप में प्रशंसा की गई है।[1] बौद्ध भार्याओं के लिए अन्य सांसारिक कलाओं के सीखने का निषेध होते हुए भी 'लेखन-कला सीखने के लिए आज्ञा है।[2] आत्मघात की प्रशंसा में लिखने वाले बौद्ध साधु (श्रमण) को प्रत्येक अक्षर के लिए 'दुक्कट'[3] (पाप) लगाने का उल्लेख मिलता है। लिखने का व्यवसाय गृहस्थियों के लड़कों के वास्ते जीवन-निर्वाह का सुखद साधन माना गया है।[4]

जातकों में 'खानगी'[5] तथा राजकीय[6] पत्रों तथा ऋण लेने वालों की तहरीरों[7] तथा पोत्थक (पुस्तक—बहीखाता) कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यकीय विषयों[8] राजकीय आदेशों[9] तथा धर्म के नियमों[10] के सुवर्ण पत्रों पर खुदवाये जाने का वर्णन मिलता है।

'महावग्ग'[11] में गणना (पहाड़े) और रूप (गणित) की पढ़ाई के उल्लेख के साथ पाठशालाओं में छात्रों के फलक (लकड़ी की पाटी) पर लिखने का उल्लेख भी आता है। 'ललितविस्तर'[12] में आए हुए एक प्रसङ्ग में बुद्ध ने लिपि

---

१ बुद्धिस्ट इण्डिया राइस डेविड्स पृ० १०८
२ वही " " "
३ वही " " "
४ वही " " पृ० १०८-१०९
५ (i) देखिये कटाहक जातक—काशी के एक सेठ के गुलाम कटाहक ने जाली चिट्ठी (पण्ण=पत्र) से अपने आप को सेठ का पुत्र सिद्ध करके दूसरे सेठ की पुत्री से विवाह कर लिया। उस पत्र पर सेठ की मुद्रिका (मुहर) भी लगी थी।
(ii) देखिये—महासुत सोमजातक—तक्षशिला के एक अध्यापक ने अपने पुराने छात्रों को पण्ण (पत्र) लिखा।
(iii) देखिये—काम जातक (iv) देखिये—पुण्ण नदी जातक।
(v) देखिये—कुलावकालिंग जातक। (vi) देखिये—असदिस जातक।
(vii) देखिये—महावग्ग १४१।
६ देखिये रुरु जातक।
७ देखिये बूलर। इण्डियन पेलियोग्राफी पृ० ५
८ देखिये कण्ह जातक
९ देखिये रुरु जातक
१० देखिये कुरु धम्म जातक तथा तेसकुण जातक
११ महावग्ग—१४९ भिक्खुणीपाचित्तिय ६० तथा कटाहक जातक।
१२ ललितविस्तर अध्याय १० (अंग्रेजी अनुवाद—पृ० १८१-५)

शाला में अध्यापक विश्वामित्र से चन्दन की पाटी पर सोने के वर्णक (कलम) से लिखना सीखा था।

उक्त प्रमाणों से ई० पूर्व ६ठी शताब्दी के आसपास भारतीय लिपि-पद्धति की सिद्धि होती है। उस समय लिखने का सामान्य प्रचलन था। स्त्रियां तथा बालक भी लिखना जानते थे। इससे यह अनुमान भी सिद्ध होता है कि यह प्रथा बहुत पहले से चली आ रही होगी।

ब्राह्मणों के ग्रन्थ

महाभारत[1] स्मृति[2] कौटिलीय अर्थशास्त्र वात्स्यायन कामसूत्र आदि ग्रन्थों में जिनमें व्यावहारिक विषयों का विशेष रूप से वर्णन मिलता है लिखित पुस्तकों के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

व्याकरण

पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ में लिपि' और 'लिबि'[3] शब्द का प्रयोग 'लिखने' के अर्थ में हुआ है। उसी ग्रन्थ से यह भी सूचित होता है कि उस समय पशुओं के कानों पर स्वस्तिक आदि के और पांच तथा आठ के अङ्कों के चिह्न भी बनाये जाते थे और उनके कान काटे तथा छेदे भी जाते थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'ग्रन्थ' (पुस्तक) शब्द का उल्लेख करते हुए अनेक ग्रन्थों के नाम तथा विषयों का पता भी दिया है। पाणिनि के सूत्र 'कृते ग्रन्थे (४ ३ ८७) के वार्तिक पर कात्यायन ने आख्यायिका का भी उल्लेख किया है और भाष्यकार पतञ्जलि ने 'वासवदत्ता' सुमनोत्तरा और 'भैमरथी आख्यायिकाओं के नाम दिये हैं।

पाणिनि के समय भिक्षुशास्त्र'[4] और 'नाटयशास्त्र'[5] के जैसे सूत्रग्रन्थ भी विद्यमान थे। विशेष-विशेष ग्रन्थों के विशेष-विशेष नाम होते थे। नवीन विषय पर पहले-पहल बनाए हुए ग्रन्थ को 'उपज्ञात'[6] कहते थे। किसी विषय को लेकर बने हुए ग्रन्थों में 'शिशुक्रन्दीय'[7] (बच्चों के रोने के सम्बन्ध का ग्रन्थ) 'यमसभीय' (यम की सभा के विषय का ग्रन्थ) इन्द्रजननीय' (इन्द्र जन्म से सम्बन्धित ग्रन्थ) अग्निकाश्यपीय (अग्नि और काश्यप से सम्बन्धित ग्रन्थ— यह नाम दो नामों से मिल कर बना है) के नाम दिये हैं।

---

१ महाभारत आदिपर्व १ ११२
२ वै० वशिष्ठधर्म सूत्र—१६ १० १४ १५
३ अष्टाध्यायी—३ २ २१
४ अष्टाध्यायी—४ ३ ११०-११
५. अष्टाध्यायी —
६ अष्टाध्यायी —४ ३ ११५
७ अष्टाध्यायी —४ ३ ८८

इसके अतिरिक्त पाणिनि ने कुछ अन्य वैयाकरणों तथा उनके मतों का उल्लेख किया है जैसे 'आग्रायण'[1] तथा आपिशलि[2] स्फोटायन[3] गार्ग्य[4] शाकल्य[5] शाकटायन,[6] गालव[7] भारद्वाज[8] काश्यप[9] चाक्रवर्मण[10] और सेनक।[11]

पाणिनि से पूर्व यास्क ने निरुक्त लिखा जिसमें औदुम्बरायण क्रौष्टुकि इन अग्रायण औपमन्यव शाकपूणि शाकटायन स्थौलाष्ठीवी आग्रायण और्णवाभ और गालव कात्थक्य कौत्स गार्ग्य गालव चर्मशिरस् तैटीकि वार्ष्यायणि और शाकल्य नामक वैयाकरणों और निरुक्तकारों के नाम और मत का उल्लेख मिलता है[12] जिनमें से पाणिनि ने केवल गार्ग्य शाकटायन गालव और शाकल्य के नाम का उल्लेख किया है जिससे यह अनुमान होता है कि पाणिनि और यास्क के पूर्व व्याकरण और निरुक्त के बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध थे जिनमें से अब एक भी उपलब्ध नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद में 'अक्षर'[13] शब्द मिलता है। स्वरों का सम्बन्ध इन्द्र से ऊष्मन् का प्रजापति से और स्पर्श वर्णों का मृत्यु से बतलाया है[14] इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद में वर्ण और मात्रा का उल्लेख मिलता है[15]।

---

१ अष्टाध्यायी—६ १ १८

२ अष्टाध्यायी—६ १ ९२

३ अष्टाध्यायी—६ १ १२३

४ अष्टाध्यायी—८ ३ २०

५ अष्टाध्यायी—८ ३ १९

६ अष्टाध्यायी—३ ४ १११

७ अष्टाध्यायी—६ ३ ६१

८. अष्टाध्यायी—७ २ ६३

९ अष्टाध्यायी—१ २ २५

१० अष्टाध्यायी—६ १ १३०

११ अष्टाध्यायी—५ ४ ११२

१२ देखिये गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्राचीन लिपि माला, पृ० ४ संदर्भ संख्या १४ (फुटनोट)

१३ छां० उप० २ १

१४ छां उप० २ २२ ३

१५. तैत्तिरीय उप० १ १

ऐतरेय आरण्यक[1] में क्रमम् स्पर्श स्वर और अन्तस्थ का व्यंजन और घोष का णकार और षकार (मूर्धन्य) के नकार और सकार (दंत्य) से भेद का तथा संधि का विवेचन मिलता है। ये सब बहुधा सांख्यायन आरण्यक में भी हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण[2] में ॐ अक्षर को अकार उकार और मकार वर्णों के संयोग से बना हुआ बतलाया है।

शतपथ ब्राह्मण में 'एकवचन' बहुवचन'[3] तथा तीनों 'लिंगों'[4] के भेद का विवेचन मिलता है।

तैत्तिरीय संहिता में वाणी व्याकृत[5] कही गई है। यही कथा शतपथ ब्राह्मण में मिलती है किन्तु उसमें वि+आ+कृ धातु के स्थान पर निर्+वच् धातु से बने हुए 'निर्वचन और निरुक्त' शब्द काम में लिये गये हैं और इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने पशु वयस (पक्षी) और सरीसृपों (रेंगने वालों) की वाणी को छोड़कर उसके चौथे अंश अर्थात् मनुष्य वाणी का निर्वचन (व्याकरण) किया क्योंकि उसको यह में से चतुर्थांश ही मिलता था।[6]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि उपनिषद् आरण्यक, ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता के समय तक व्याकरण के होने का पता चलता है। यदि उस समय लिखने का प्रचार न होता तो व्याकरण और उसके पारिभाषिक शब्दों की चर्चा भी न होती क्योंकि लिखने के बिना संभवतः घोष मजन कथा आदि का प्रच लन हो सकता था किन्तु स्वर व्यंजन घोष संधि एकवचन बहुवचन लिंग आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान सर्वथा नहीं होता।

छन्द

अनेक संहिताएं तथा कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ अपने-अपने ढंग से छंदों का उल्लेख करते हैं जिससे लिपि की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद में गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती विराज् त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के नाम मिलते हैं।[7] वाजसनेयि संहिता में इनके अतिरिक्त 'पंक्ति' छंद का नाम भी मिलता है और द्विपदा त्रिपदा चतुष्पदा षटपदा ककुभ आदि छन्दों के भेद भी मिले हुए

---

१ ऐ० आरण्यक ३ २ १
२ ऐ ब्राह्मण—१ २ १
३ शतपथ ब्राह्मण—११ ५ १ १८
४ शतपथ ब्राह्मण—१० ५ १ २ १० ५ १ ३
५ तै० सं०—६ ४ ७
६ शतपथ ब्राह्मण ४ १ ३ १२ १५–१६
७ ऋग्वेद संहिता—१० १४ १६ १० ११२ १–४

है[1]। अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नामों के अतिरिक्त एक स्थान पर छंदों की संख्या ११ लिखी हुई है[2]। शतपथ[3] ब्राह्मण में मुख्य छंदों की संख्या ८ दी है और तैत्तिरीय संहिता[4] मैत्रायणी संहिता[5] काठक संहिता[6] तथा शतपथ[7] ब्राह्मण में कई छंदों और उनके पदों के अक्षरों की संख्या तक गिनाई गई है।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत का छन्द-शास्त्र बहुत ही जटिल है एक-एक छंद के अनेक भेद हैं और उन भेदों के अनुसार उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। ब्राह्मण और संहिता ग्रन्थों में मिलने वाले छन्दों के नाम आदि उस समय के लेखन-कला की उन्नत दशा के सूचक हैं।

अङ्क

ऋग्वेद[8] में ऋषि नाभानेदिष्ठ हजार अष्टकर्णी गौएं दान करने के कारण राजा सावर्णि की स्तुति करता है। यहां अष्टकर्णी[9] का तात्पर्य उन पशुओं से था। जिनके कान पर आठ के अङ्क का चिह्न होता था।

वैदिक काल में द्यूत क्रीडा के चारों पासों के नाम[10] कृत त्रेता द्वापर और कलि होते थे जिन पर क्रमशः ४ ३ २ और १ के चिह्न अङ्कित होते थे। इस प्रकार वेदों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि अङ्कों का इतिहास वेदों से कम प्राचीन नहीं है। अङ्क-विद्या वैदिक काल में काफी विकसित हो गई थी। यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता के पुरुषमेध प्रकरण में जहां भिन्न-भिन्न पेशे वाले बहुत से पुरुष गिनाये गए हैं वहां गणक का उल्लेख भी आया है। गणक का अर्थ है गणना करने वाला अर्थात् ज्योतिषी। उसी संहिता[11] में एक दश शत सहस्र अयुत

---

१ यजु॰ वाज॰ संहिता—११ ८ १४ १९ २३ ३३ २८ १४
२ अथ॰ सं॰ (८ ९ १९)
३ श॰ प॰ ब्रा॰ ८ ३ ३ ६
४ तै॰ सं॰ ६ १ १ ६-७
५ मै॰ सं॰ १ ११ १०
६ का॰ सं॰ १४ ४
७ श॰ प॰ ब्रा॰ ८ ३ ३
८ ऋ॰ सं॰ १० ६२ ७
९ अष्टाध्यायी—६ ३ ११२
१० ऐतरेय ब्रा॰ ७ १५
१ यजु॰ वाज॰ सं॰ ३० ७
११ वै॰ सं॰ ४ ४० ११ ४ ७ २ २ १

(दस हजार) नियुत (एक लाख) प्रयुत (दस लाख), अर्बुद (एक करोड़) न्यर्बुद (दस करोड़) समुद्र (एक अरब) मध्य (दस अरब), अन्त (एक खरब) और परार्ध (दस खरब) तक की संख्या दी हुई है और ठीक यही संख्या तैत्तिरीय संहिता[1] में भी मिलती है। यही संख्या कुछ हेर-फेर से मैत्रायणी (२ ८. १४) और काठक (१६ १) संहिता में भी मिलती है।

सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण में यज्ञ की दक्षिणाओं के विधान के अन्तर्गत १२ कृष्णल भर सोने से लेकर २४ ४८ और अन्त में ३९३२१६ भर तक की दक्षिणाएं बतलाई गई हैं। यह लाखों का गणित बिना लिखित ज्ञान और लेखे-जोखे के बिना नहीं हो सकता।

शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण में हिसाब लगाया है कि ऋग्वेद के अक्षरों से १२००० बृहती (३६ अक्षरों का) छन्द प्रजापति ने बनाये अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर (१२० ०×३६)=४३२ ०० हुए। इन्हीं अक्षरों से पंक्ति छन्द (जिसमें आठ-आठ अक्षरों के पांच पद अर्थात् ४० अक्षर होते हैं) बनाने से ऋग्वेद के (४३२० ०—४०)=१०८०० पंक्ति छन्द हुए और उतने ही यजु और साम के मिल कर हुए। एक वर्ष के ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त होने से वर्ष भर के मुहूर्त भी १०८०० होते हैं अर्थात् तीनों वेदों से उतने पंक्ति छन्द दुबारा बनते हैं जितने कि वर्ष के मुहूर्त होते हैं।[2]

उसी ब्राह्मण में समय विभाग के सम्बन्ध में लिखा है कि रात-दिन के ३० मुहूर्त एक मुहूर्त के १५ क्षिप्र एक क्षिप्र के १५ एतर्हि, एक एतर्हि, के १५ इदानी और एक इदानी के १५ प्राण होते हैं अर्थात् रात दिन के (३०×१५×१५×१५×१५)=१५१८७५० प्राण होते हैं।[3] इस गणना के अनुसार एक प्राण लगभग एक सेकंड के ⅟₁₇ भाग के बराबर आता है।

इससे स्पष्ट है कि उस समय भी लोग पढ़े-लिखे होते थे और अङ्क-गणना जानते थे। अन्यत्र यह भी बताया जा चुका है कि ई० पूर्व छठी शताब्दी के आस पास पाठशालाएं विद्यमान थी। पाणिनि और यास्क के समय अनेक विषयों के ग्रन्थ विद्यमान थे। उनसे पूर्व ब्राह्मण और वेदों के समय में भी व्याकरण की चर्चा थी। छन्द शास्त्र बन चुके थे अङ्क विद्या काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। वेदों के अनुव्याख्यान भी थे और गणक (गणित करने वाले) भी होते थे। पशुओं के कानों और जुए

---

१ पंचविंश ब्राह्मण (सामवेद) १८ ३

२ शतपथ ब्राह्मण १० ४ २ २२–२५

३ शतपथ ब्राह्मण १२ ३ २ १

के पादों पर मद्धू भी लिखे जाते थे। जुए में हारे या जीते धन का हिसाब रहता था और समय के एक सेकंड के १७वें हिस्से तक के सूक्ष्म विभाग बने हुए थे।

पठन शैली और लिखित ग्रन्थ

प्राचीन हिन्दू-समाज में वेद और यज्ञ ये दो वस्तुएं मुख्य थीं। यज्ञ में वेद मन्त्रों के शुद्ध प्रयोग की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए उनका शुद्ध-उच्चारण गुरु के मुख से ही पढ़ा जाता था कि पाठ में स्वर और वर्ण की अशुद्धि न होने पाये क्योंकि यह अशुद्धि यजमान के नाश के लिए वज्र की भांति समर्थ मानी जाती थी। इसलिए वैदिक लोग न केवल मंत्रों को वरन् उनके पद पाठ को और दो-दो पद मिला कर क्रम पाठ को और इसी तरह पदों के उलट-फेर से घन जटा आदि के पाठों को स्वर सहित कंठस्थ करते थे। मन्त्र के एक-एक पद को गुरु शिष्यों को सुनाता था और वे उसे ज्यों का त्यों रट कर कंठस्थ करते फिर पूरा मंत्र सुन कर उसे याद कर लेते थे। ऋग्वेद-काल से वेदों के पढ़ने की यही रीति थी जो अब तक भी कुछ कुछ चली आती है परन्तु यह पठन शैली केवल वेदों के लिए ही थी अन्य शास्त्रों के लिए नहीं। वेदों के पठन की यही रीति जिससे स्वरों का शुद्धज्ञान होता था बनी रहे और श्रोत्रिय ब्राह्मणों का आदर न घट जाये इसलिए लिखित पुस्तक से वेदों का पढ़ना निषिद्ध माना गया है परन्तु लिखित-पाठक अधम पाठक कहा जाता था जिससे सिद्ध होता है कि पहले भी वेद के लिखित ग्रन्थ होते थे और उनसे पढ़ना सरल समझ कर लोग उधर प्रवृत्त होते थे इसीलिए निषेध की आवश्यकता पड़ी जिससे प्राचीन रीति उच्छिन्न न हो और स्वर आदि की मर्यादा नष्ट न हो। इसलिए वेद पुस्तक लिखने और बेचने का व्यवसाय पाप माना गया है। विस्मृति में सहायता के लिए वेद-ग्रन्थ अवश्य होते थे और व्याख्यान टीका व्याकरण निरुक्त प्रातिशाख्य आदि में सुभीते के लिए उनका उपयोग होता था।

बूलर[1] भी इसी अनुमान का समर्थन करता है कि वैदिक समय में भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा और दूसरे अवसरों पर सहायता के लिए काम में भी आती थीं।

बोथलिंग[2] और रॉथ जैसे विद्वान् भी वेदों के लिखित रूप के अनुमान का समर्थन करते हैं। पहले का कहना है कि ग्रन्थकार अपना ग्रन्थ लिख कर बनाता था जिसे वह स्वयं कण्ठस्थ कर लेता या करा देता था। साहित्य के प्रचार में लिखने का उपयोग न होकर मुखाग्र या कण्ठस्थ करने का ही प्रचलन था। रॉथ का मत है

---

१ बू० इ० पै० पृ० ४

२ मोक्षमूलर, मानवगृह्यसूत्र (प्रथम की भूमिका) पृ० ११

कि वेदों के लिखित रूप से ही तो प्रातिशाख्य की सृष्टि हुई। यदि वेदों का लिखित रूप विद्यमान न होता तो कोई पुरुष प्रातिशाख्य न बना पाता।

प्राचीन काल में भारत में लेखन सामग्री की प्रचुरता थी। ऐसी प्रचुरता अन्य किसी देश में नहीं थी। ताड़पत्र और भोजपत्र को प्रकृति ने यहां प्रचुरता से दिया है। भारत के लोग ईसा की चौथी शताब्दी से पूर्व ही रूई से कागज बनाना जान गये थे। पुराणों में पुस्तक लिखवा कर दान करने का बड़ा पुण्य माना गया है। चीनी यात्री ह्यू-एन-त्सांग यहां से चीन को लौटते समय बीस घोड़ों पर पुस्तकें लाद कर अपने साथ ले गया जिनमें भिन्न-भिन्न ६५७ ग्रन्थ थे।[1] मध्यभारत का श्रमण पुण्योपाय ई० सन् ६५५ में १५०० से अधिक पुस्तकें लेकर चीन को गया था।[2] इससे लिखित पुस्तकों की प्रचुरता प्रमाणित होती है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

अशोक के लेखों तथा ई० पू० की चौथी शताब्दी से लेकर ई० पू० तीसरी शताब्दी के आसपास तक के कितने ही सिक्कों आदि से यही प्रकट होता है कि उस समय इस देश में दो लिपियां प्रचलित थीं—एक तो नागरी की भांति बाईं ओर से दाईं ओर लिखी जाने वाली सार्वदेशिक और दूसरी फारसी की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाने वाली एकदेशिक। इन लिपियों के प्राचीन नाम क्या थे ब्राह्मणों के ग्रन्थों में तो कुछ लिखा मिलता नहीं है किन्तु जैनों के 'पन्नवणासूत्र' और 'समवायांगसूत्र' में १८ लिपियों[3] के नाम मिलते हैं जिनमें सबसे पहला नाम बंभी (ब्राह्मी) है। भगवती सूत्र में 'बंभी' (ब्राह्मी) लिपि को नमस्कार करके (नमो बंभीए लिविए) सूत्र का प्रारम्भ किया गया है। बौद्धों के संस्कृत ग्रन्थ ललितविस्तर[4] में ६४[5] लिपियों के नाम मिलते हैं जिनमें सबसे पहला 'ब्राह्मी' और दूसरा 'खरोष्ठी' है।

---

१ स्मि० अ० हि० इ० पृ० ३५२ (तृतीय संस्करण)
२ बु० नं० कै० बु० त्रि० पृ० ४३७
३ बंभी, जवणालि (या जवणालिया) दोसापुरिया (या दोसापुरिसा) खरोट्ठी (खराठी) पुक्खरसारिया भोगवइया पहाराइया (या पहुराइया) उयअंतरि क्खिया (या उयअंतरकरिया) अक्खरपिट्ठिया (या अक्खरपुट्ठिया) वेणइया (या वेणइया), णिण्हइया या (णिण्हतिया) अंकलिवि (अंकलिक्खा) गणित लिवि (या गणितलिवि) गंधव्वलिवि आदंसलिवि (या आयसलिवि) माहेसरी (या माहेस्सरी) दामिली और पोलिंदी।[1]
४ ललितविस्तर में बुद्ध का चरित है। यह ग्रन्थ कब बना है, यह निश्चित नहीं है परन्तु इसका चीनी अनुवाद ई० सं० ३०८ में हुआ।
५ देखिये ललितविस्तर अध्याय १०।

ई० सन् ६६८ में बौद्ध विश्वकोष 'फा युअन्चुलिन्' बना, जिसमें ललित-विस्तर के अनुसार ६४ लिपियों के नाम दिये गये हैं। जिनमें पहला 'ब्राह्मी' और दूसरा 'खरोष्ठी' है। खरोष्ठ के विवरण में लिखा है कि इस शब्द का अर्थ गधे का होठ है। उसी पुस्तक में भिन्न भिन्न लिपियों के वर्णन में यह भी लिखा है— लिखने की कला का शोध तीन दैवी शक्ति वाले आचार्यों ने किया उनमें सबसे प्रसिद्ध ब्रह्मा है जिसकी लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर पढ़ी जाती है। उसके बाद खरोष्ठ है जिसकी लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर पढ़ी जाती है और सबसे कम महत्व के आचार्य त्सं-की हैं जिनकी लिपि (चीनी) ऊपर से नीचे की ओर पढ़ी जाती है। ब्रह्मा और खरोष्ठ भारतवर्ष में हुए और त्सं-की चीन में। पहले दो ने अपनी लिपियाँ देवलोक से पाईं और तीसरे ने अपनी लिपि पक्षी आदि के पंजों के अनुकरण में बनाई[1]। ब्राह्मी के उद्गम के सम्बन्ध में यूरोप के विद्वानों ने अनेक अटकलों से काम लिया है। श्री बूलर ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियों को फिनिशियन से मानते हैं और फिनिशियन की उत्पत्ति ई० सन् पूर्व की १०वीं शताब्दी के आसपास मानी जाती है। यदि ये दोनों उसीसे निकली होतीं तो ई० पू० तीसरी शताब्दी में अर्थात् अशोक के समय उनमें परस्पर समता होनी चाहिये थी जैसी कि अशोक के समय की ब्राह्मी से निकली हुई ई० पू० की पाँचवीं और छठी शताब्दी की गुप्त और तेलुगु-कनडी लिपियों के बीच पाई जाती है परन्तु ब्राह्मी और खरोष्ठी में एक भी अक्षर समान नहीं है। इससे स्पष्ट है कि दोनों लिपियाँ एक ही मूल लिपि से कदापि नहीं निकलीं। डा० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के मत से खरोष्ठी सेमेटिक से निकली है और ब्राह्मी सेमेटिक से नहीं।

बूलर के भ्रम का मूल कारण कुछ भी रहा हो किन्तु जनरल कनिंघम कृत 'कॉइन्स आव एन्शेंट इंडिया' (ई० सन् १८९१) नामक पुस्तक ने उसे और भी बढ़ा दिया। उस पुस्तक में एरण से प्राप्त एक सिक्के पर ब्राह्मी लिपि का एक लेख 'धमपालस' छपा हुआ है जो दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ा जाता है। इस सिक्के को ई० पू० ३५० के आसपास का मान कर बूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि उस समय ब्राह्मी लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर तथा बाईं ओर से दाईं ओर (दोनों तरह) लिखी जाती थी।

वास्तव में यह निष्कर्ष बड़ा उपहास्य है। इस सिक्के के सिवा अब तक कोई शिलालेख इस देश में ऐसा नहीं मिला कि जिसमें ब्राह्मी लिपि फारसी की भाँति उलटी लिखी हुई मिली हो। किसी सिक्के पर लेख का उलटा आ जाना

---

१ इ० ए० जि० ३४ पृ० २१।

आश्चर्य की बात नहीं है। ठप्पे की खुदाई की भूल से ऐसा होना सम्भव है। ऐसी भूल के कई उदाहरण मिलते हैं। सातवाहन (आंध्र) वंश के राजा सातकर्णी के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर 'सतकंणिस' (सातकैणि) सारा लेख एरण के सिक्के की तरह उलटा आ गया है। ऐसे उदाहरणों से बूलर के भ्रम की सिद्धि होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्राह्मी लिपि के न तो अक्षर फिनिशियन या किसी अन्य लिपि से निकले हैं और न उसकी बाई ओर से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी अन्य लिपि से बदल कर बनाई गई है। यह तो वास्तव में भारतीय आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलायी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका सम्बन्ध फिनिशियन से बिल्कुल नहीं है।

ब्राह्मी एक आदर्श लिपि है

आदर्श लिपि वह लिपि है जिसमें लिखने और पढ़ने का अति निकट सम्बन्ध हो अर्थात् जो लिखा जाये वही पढ़ा जाये और जो उच्चरित हो वही लिखा भी जाय। उच्चरित अक्षर और लिखित वर्ण के सम्बन्ध को निभाने के उद्देश्य से ब्राह्मी लिपि सर्वोत्तम है। इसमें और समेटिक लिपियों में रात-दिन का अन्तर है। इसमें स्वर और व्यंजन पूरे हैं और स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ के लिए तथा अनुस्वार और विसर्ग के लिए उपयुक्त संकेत अलग-अलग हैं। व्यंजन भी उच्चारण-स्थानों के अनुसार वैज्ञानिक क्रम से जमाये गये हैं। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है और आर्य भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन की अपेक्षा नहीं है। व्यंजनों के साथ स्वरों के संयोग को मात्रा के चिह्नों से प्रकट करने की इसमें ऐसी विशेषता है कि जो किसी और लिपि में नहीं है। साहित्य और सभ्यता की अत्युच्च अवस्था में ही ऐसी लिपि का विकास हो सकता है।

वैदिक और प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के ६३ या ६४ मूल उच्चारणों के लिए केवल १८ उच्चारणों को प्रकट करने वाले २२ संकेतों की दरिद्र सेमेटिक लिपि कैसे पर्याप्त होगी। सेमेटिक लिपि और उससे निकली सभी लिपियों में स्वर और व्यंजन पृथक्-पृथक् नहीं हैं। स्वरों में भी ह्रस्व और दीर्घ का भेद नहीं है। इनके अक्षर विन्यास का भी कोई क्रम नहीं है। एक उच्चारण के लिए एक से-अधिक चिह्न हैं और एक ही चिह्न एक नहीं किन्तु अनेक उच्चारणों के लिए भी हैं। व्यंजन में स्वर का योग दिखलाने के लिए मात्रा का संकेत नहीं वरन् स्वर ही व्यंजन के आगे

लिखा जाता है और संयुक्त ध्वनि के लिए वर्णों का संयोग भी नहीं है। स्वर भी अपूर्ण हैं। ऐसी अपूर्ण और क्रमरहित लिपि को लेकर, उसकी लिखावट का रूप पलट कर वर्णों को तोड़-मरोड़ कर केवल अठारह उच्चारणों के चिह्न उसमें पाकर बाकी उच्चारणों के संकेत स्वयं गढ़-कर स्वरों के लिए मात्रा चिह्न बना कर अनुस्वार और विसर्ग की कल्पना कर स्वर व्यंजनों को पृथक कर उन्हें उच्चारण और प्रयत्न के अनुसार नये क्रम से सजा कर सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की योग्यता जिस जाति में मानी जाती है, क्या वह इतनी सभ्य नहीं रही होगी कि केवल अठारह अक्षरों के संकेतों के लिए दूसरों का मुंह न ताक कर उन्हें स्वयं ही अपने लिए बनाले।

ऐसी बात नहीं है कि सभी यूरोपीय विद्वान् 'ब्राह्मी लिपि को विदेशी उत्पत्ति मानते है प्रत्युत अनेक विद्वान् उसे भारतीय आर्यों का स्वतन्त्र आविष्कार मानते हैं। उनमें से एडवर्ड थामस प्रोफेसर डॉसन और प्रोफेसर लॉसन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जनरल कनिंघम भी ब्राह्मी को भारतवासियों की निर्माण की हुई स्वतन्त्र लिपि ही मानते हैं।

अब तक प्राप्त प्राचीन लेखों से यही प्रमाणित होता है कि लेखन-कला सर्वसाधारण में प्रचलित एक पुरानी बात थी जिसमें कोई अनोखापन न था। प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली एवं अन्य साहित्यिक उल्लेखों से यहा यही सिद्ध होता है कि भारत में उस समय लेखन-कला अपनी प्रौढावस्था में थी। उसके प्रारम्भिक विकास के समय का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और वह अपने उस रूप में जो हमे मिला किन किन परिवर्तनों के बाद पहुंची किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक अवश्य कहा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि अपने प्रमाणों मे प्रौढ़ एवं पूर्ण व्यवहार में आती हुई दशा में ही मिली है। उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।

श्री आर. शाम शास्त्री एवं बाबू जगन्मोहन वर्मा ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय लिपि की उत्पत्ति देवोपासना के सांकेतिक चिह्नों या चित्रों से हुई है।

श्री शास्त्री ने अपने 'देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय का सिद्धान्त' नामक एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि देवताओं की मूर्तियां बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र के जो 'देवनगर' कहलाता था मध्य में लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में

उन नामों के पहले अक्षर नाम वाले लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा गवेषणापूर्ण एवं युक्तियुक्त होते हुए भी इस लेख के मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि श्री शास्त्री ने जिन तान्त्रिक पुस्तकों से अवतरण उद्धृत किये हैं उनको वैदिक कालीन या कम से कम पूर्व मौर्यकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया।

बाबू जगन्मोहन वर्मा ने ब्राह्मी लिपि का विकास वैदिक चित्र-लिपि या उससे निकली हुई चित्रलिपि से माना है किन्तु सतर्क प्रमाणों के अभाव में भी वर्माजी का सिद्धान्त भी कल्पनाकान्त-मात्र है। दूसरी बात भी वर्माजी ने यह बतलाई है कि आर्यों ने मूर्द्धन्य वर्णों को अनार्यों की भाषा से लिया किन्तु यह मत भी विद्वानों में समादृत न हो सका।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति

मौर्यवंशी राजा अशोक के शिलालेखों में केवल शहबाज गढ़ी और मान्सेरा के चट्टानों पर खुदे हुए लेख ही खरोष्ठी लिपि में हैं। उनसे यही पता चलता है कि यह लिपि ई० पूर्व की तीसरी शताब्दी में केवल भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश के आस-पास अर्थात् पंजाब के गांधार प्रदेश में प्रचलित थी। इस लिपि का कोई शिलालेख अशोक से पूर्व का नहीं मिला है परन्तु ईरानियों के कितने ही चांदी के मोटे सिक्कों पर ब्राह्मी या खरोष्ठी लिपि के एक-एक अक्षर का ठप्पा लगा हुआ मिलता है। इनसे यही अनुमान होता है कि ये ईरानी सिक्के सिकन्दर से पूर्व के हैं। संभवतः ई० पूर्व चौथी शताब्दी में ये पंजाब में चलते थे। सिकन्दर की विजय के पश्चात् तो पंजाब से ईरानियों का अधिकार उठ ही गया था।

इस लिपि का प्रचार अशोक के पीछे बहुधा विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में मिलता है। सिक्कों में बाक्ट्रियन ग्रीक (यूनानी) शक क्षत्रप पार्थियन और कुशानवंशी तथा औदुम्बरवंशी राजाओं के सिक्कों के दूसरी ओर के प्राकृत लेख इसी लिपि में मिलते हैं। इस लिपि के शिलालेख तथा ताम्र लेखादि ब्राह्मी की अपेक्षा बहुत ही थोड़े और छोटे मिले हैं जो शक क्षत्रप पार्थियन और कुशानवंशी राजाओं के समय के हैं। इनमें से कितने एक में राजाओं के नाम मिलते हैं और दूसरों में साधारण पुरुषों के ही नाम हैं राजाओं के नहीं। ये बौद्ध स्तूपों में रखे हुए पत्थर आदि के पात्रों और सोने चांदी या तांबे के पात्रों पर अथवा चट्टानों और शिलाओं या मूर्तियों के आसनों पर खुदे हुए मिले हैं। इनमें से अधिकतर गांधार देश से ही मिले हैं और वहां भी विशेष कर तक्षशिला

---

१ देखिये डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्राचीन लिपिमाला पृ० ३१

(शाहबाज़गढ़ी पंजाब के ज़िले रावलपिंडी में) और मानसेहरा (पुष्कलावती) से। पंजाब के बाहर अफ़ग़ानिस्तान में वर्डक (ज़िला वर्डक में) तथा मिट्टा (जलालाबाद से पांच मील दक्षिण) आदि में और मथुरा में, मिले हैं अन्यत्र नहीं।[1]

खरोष्ठी लिपि की लेखन-शैली फ़ारसी की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर होने से निश्चित है कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है और इसके ११ अक्षर—क ग द न ब य र व ष स और ह समान उच्चारण वाले अरमइक अक्षरों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं।

ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि हख़ामनी वंश के ईरानी बादशाहों की राजकीय लिपि और भाषा अरमइक थी जिसका उपयोग व्यापार के लिए भी दूर-दूर तक होता था।

हिन्दुस्तान का ईरान के साथ सम्बन्ध बहुत प्राचीनकाल से रहा है। हख़ामनी वंश के बादशाह साइरस (ई० पू० ५५८–५३०) ने पूर्व में बढ़कर गान्धार देश विजय कर लिया था और ई० पू० ५१६ के कुछ ही बाद दारा (प्रथम) ने हिन्दुस्तान का सिन्धु तक का प्रदेश अपने अधीन कर लिया था जो ई० पू० ३३१ तक सिकन्दर की विजय के पूर्व तक रहा। अतएव यह सम्भव है कि ईरानियों के राजत्वकाल में उनके अधीनस्थ भारतीय प्रदेशों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो, जैसे कि मुसलमानों के राज्य के समय फ़ारसी लिपि का जो उनकी राजकीय लिपि थी इस देश में प्रवेश हुआ और उसमें कुछ वर्ण बढ़ाने से उर्दू लिपि बनी।

अरमइक लिपि में केवल २२ अक्षर थे तथा उसमें स्वरों की अपूर्णता एवं ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं था। मात्राओं का सर्वथा अभाव था। अतएव वह यहां की भाषा के लिए सर्वथा उपयुक्त न थी। फिर भी सम्भवतः राजकीय लिपि होने से यहां वालों में से किसी ने ई० पू० पांचवीं शताब्दी के आस पास उसके अक्षरों की संख्या बढ़ाकर कुछ का आवश्यकतानुसार बदल कर एवं स्वरों की मात्राओं की योजना कर उसे मामूली पढ़े-लिखे लोगों व्यापारियों तथा अहलकारों की काम-चलाऊ खरोष्ठी लिपि बना दी हो। यह भी सम्भव है कि इसका निर्माता कोई खरोष्ठ आचार्य (ब्राह्मण) हो जैसा कि चीन वालों का कथन है जिससे इस लिपि का नाम खरोष्ठ हुआ हो और यह भी सम्भव है कि इसका प्रादुर्भाव तक्षशिला जैसे किसी गान्धार के विद्यापीठ में हुआ हो।

---

१ देखिये डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्राचीन लिपिमाला पृ० ३२ ३३

आज तक जितने लेख मिले हैं उनसे यही ज्ञात होता है कि खरोष्ठी लिपि में स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद न था। संयुक्ताक्षर केवल थोड़े ही मिलते हैं। उनमें से कई में तो संयुक्त व्यंजनों के अलग अलग रूप स्पष्टतः नहीं पाये जाते और एक विलक्षण रूप मिलने से कितने ही संयुक्ताक्षरों का पढ़ना अभी तक संशययुक्त ही है। इस लिपि में बौद्धों के प्राकृत ग्रन्थ जिनमें स्वरों के ह्रस्व-दीर्घ का विशेष भेद नहीं रहता था और जिनमें संयुक्ताक्षरों का प्रयोग विरल ही होता था लिखे हुए मिलते हैं। यह लिपि संस्कृत-ग्रन्थों के लिखने योग्य नहीं थी। शुद्धता और सम्पूर्णता के विचार से ब्राह्मी और खरोष्ठी में उतना ही अन्तर है जितना नागरी की पुस्तकों तथा राजस्थान के मामूली पढ़े लिखे महाजनों की लिखावटों में।

ईसा की तीसरी शताब्दी के आसपास तक इस लिपि का कुछ प्रचार पंजाब में बना रहा जिसके बाद यह इस देश से सदा के लिए अस्त हो गयी और इसका स्थान भी ब्राह्मी ने ही ले लिया। फिर भी हिन्दूकुश पर्वत से उत्तर के देशों तथा चीनी तुर्किस्तान आदि में जहां बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता फैल रही थी कई शताब्दी पीछे तक भी इस लिपि का प्रचार बना रहा। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० सर ऑरल स्टाइन ने चीनी तुर्किस्तान आदि प्रदेशों से असाधारण श्रम करके जो प्राचीन वस्तुएं एकत्र की हैं उनमें इस लिपि में लिखे हुए ग्रन्थ और लकड़ी की लिखित तख्तियां आदि बहुमूल्य सामग्री भी है।

ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की प्राचीन लिपि है। पहले इस लिपि के लेख अशोक के समय अर्थात् ई० पूर्व की तीसरी शताब्दी तक के ही मिले थे परन्तु कुछ वर्ष हुए इस लिपि के दो छोटे-छोटे लेख जिनमें से एक पिप्रावा के स्तूप से और दूसरा बर्ली गांव से मिले हैं जो ई० पूर्व की पांचवीं शताब्दी के हैं। इन लेखों में और अशोक के लेखों की लिपि में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है, जैसा कि ई० की १५वीं सदी से लगाकर अब तक की नागरी लिपि में नहीं पाया जाता परन्तु दक्षिण से मिलने वाले भट्टिप्रोलु के स्तूप के लेखों की लिपि में जो अशोक के समय से बहुत पीछे की नहीं है पिप्रावा बर्ली और अशोक के लेखों की लिपि से बहुत कुछ भिन्नता पायी जाती है जिससे अनुमान होता है कि भट्टिप्रोलु के लेखों की लिपि अशोक के लेखों की लिपि से नहीं निकली किन्तु उस प्राचीन ब्राह्मी से निकली होगी जिससे पिप्रावा बर्ली और अशोक के लेखों की लिपि निकली है। यह भी संभव है कि भट्टिप्रोलु के स्तूप की लिपि ललितविस्तर की 'द्राविड़ लिपि' हो क्योंकि वे लेख द्राविड़ देश के कृष्णा जिले में ही मिले हैं।

अशोक से पूर्व के जैन 'समवायांग सूत्र' में तथा पिछले बने हुए 'ललित विस्तर' में ब्राह्मी के अतिरिक्त और बहुत सी लिपियों के नाम मिलते हैं परन्तु

उसका कोई लेख अब तक नहीं मिला जिसका कारण शायद यह हो कि प्राचीन काल में ही वे सब नष्ट हो गयी हों और उनका स्थान अशोक के समय की ब्राह्मी ने ले लिया हो जैसा कि इस समय संस्कृत ग्रन्थों के लिखने तथा छापने में भारतवर्ष के भिन्न विभागों की भिन्न-भिन्न लिपियों का स्थान बहुधा नागरी ने ले लिया है। ई० पूर्व की पाँचवी शताब्दी से पहले की ब्राह्मी का कोई लेख अब तक नहीं मिला है।

हस्तलिखित लिपियों में सर्वत्र ही समय की गति और लेखकों की लेखन रुचि के अनुसार परिवर्तन हुआ ही करता है। यह नियम ब्राह्मी लिपि के साथ भी लागू हुआ है। उसमें भी समय के साथ बहुत से परिवर्तन हुए और उसमें कई एक लिपियाँ निकली जिनके अक्षर मूल अक्षरों से इतने बदल गये कि वे लोग जिनको प्राचीन लिपियों से परिचय नहीं है वे सहसा यह स्वीकार न करेंगे कि हमारे देश की नागरी शारदा (कश्मीरी) गुरुमुखी (पंजाबी) बंगला उड़िया तेलगु कनड़ी ग्रन्थ तामिल आदि समस्त वर्तमान लिपियाँ एक ही मूल लिपि ब्राह्मी से निकली हैं। ब्राह्मी लिपि के परिवर्तनों के अनुसार उसके विभाग इस प्रकार किये जाते हैं —

ई० पूर्व ५०० के आसपास से लेकर ई० सन् ३५० के आसपास तक का समस्त भारतवर्ष की लिपियों की संज्ञा ब्राह्मी मानी गयी है। इसके पीछे उसका लेखन-प्रवाह दो स्रोतों में विभक्त होता है जिनको उत्तरी और दक्षिणी शैली कहेंगे। उत्तरी शैली का प्रचार विन्ध्य पर्वत से उत्तर के तथा दक्षिणी का दक्षिण के देशों में ही बहुधा रहा तो भी विन्ध्य से उत्तर में दक्षिणी और विन्ध्य से दक्षिण में उत्तरी शैली के लेख कहीं-कहीं मिल ही जाते हैं।

उत्तरी शैली की लिपियाँ ये हैं—

१ गुप्त लिपि—इस लिपि का प्रचार गुप्तवंशी राजाओं के शासनकाल में सारे उत्तरी भारत में था। इसीसे इसे गुप्त लिपि कहा जाता है। इसका प्रचलन ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दी में रहा।

२ कुटिल लिपि—इसके अक्षरों तथा विशेषतः स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण इस लिपि का नाम कुटिल रखा गया। यह गुप्त लिपि से निकली और इसका प्रचार ईसा की छठी शताब्दी से नवीं तक रहा। इसीसे नागरी और शारदा लिपियाँ निकली।

३ नागरी—उत्तर में इसका प्रचार ई० सन् की नवीं शताब्दी के अन्त के आसपास से मिलता है परन्तु दक्षिण में इसका प्रचार आठवीं से ही पाया जाता है क्योंकि दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौड़) वंशी राजा दन्तिदुर्ग के सामनगढ़ (कोल्हापुर राज्य में) से मिले हुए शक संवत् ६७५ (ई० ७५४) के दानपत्र की लिपि नागरी

हो है और दक्षिण के पिछले कई राजवंशों के लेखों में इसका प्रचार ई० सन् की १६वीं शताब्दी के पीछे तक किसी प्रकार मिल जाता है। दक्षिण में इसको 'नंदि नागरी' कहते हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बंगला लिपि निकली और कैथी महाजनी राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ भी नागरी से ही निकलीं।

४ शारदा— इसका प्रचार भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी भागों अर्थात् काश्मीर और पंजाब में रहा। ई० सन् की ८वीं शताब्दी के राजा मेरुवर्मा के लेखों से यही सिद्ध होता है कि उस समय तक तो पंजाब में भी कुटिल लिपि का प्रचार था। इसके बाद उसी लिपि से शारदा लिपि निकली। इस लिपि का प्रचलन दसवीं शताब्दी के आसपास अनुमान किया जाता है। इसी लिपि से वर्तमान काश्मीरी और टाकरी लिपियाँ निकली हैं। पंजाबी और गुरुमुखी के अधिकांश अक्षर भी इसीसे निकले हैं।

५ बंगला—यह लिपि नागरी की पूर्वी शाखा से ईसा की दसवीं शताब्दी के आसपास निकली है। बदाल के स्तम्भ पर खुदे हुए नारायणपाल के समय के लेख में जो ईसा की दसवीं शताब्दी का है बंगला का झुकाव दिखायी देता है। इसी से नेपाल की ११वीं शताब्दी के बाद की लिपि तथा वर्तमान बंगला मैथिल और उड़िया लिपियाँ निकली हैं।

दक्षिणी शैली की लिपियाँ प्राचीन ब्राह्मी लिपि के उस परिवर्तित रूप से निकली हैं जो क्षत्रप और आंध्रवंशी राजाओं के समय के लेखों में तथा उनसे कुछ पीछे के दक्षिण की नासिक कार्ली आदि गुफाओं के लेखों में पाया जाता है।

दक्षिणी शैली की लिपियाँ ये हैं—

१ पश्चिमी—भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में अधिकतर इसका प्रचार होने से इसका नाम 'पश्चिमी' रखा गया है। यह लिपि काठियावाड़ गुजरात नासिक खानदेश और सतारा जिलों में हैदराबाद के कुछ हिस्से में कोंकण तथा मैसूर के कुछ भाग में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आसपास से ९वीं शताब्दी के आसपास तक मिलती है। ५वीं शताब्दी के आसपास इसका कुछ-कुछ प्रचार राजपूताना तथा मध्यभारत में भी पाया जाता है। इस पर उत्तरी लिपि का बहुत प्रभाव पड़ा है।

२ मध्यदेशीय—यह लिपि ई० की पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के पीछे तक मध्य प्रदेश उत्तरी हैदराबाद तथा बुन्देलखण्ड के कुछ भागों में पायी जाती है। इस लिपि के ताम्रपत्र ही अधिक मिले हैं शिलालेख बहुत कम।

३ तेलगु-कनडी—यह लिपि ५वीं शताब्दी से ईसा की १४वीं शताब्दी तक प्रचलित रही किन्तु इसमें अनेक परिवर्तन हुए और उन्हीं के परिणामस्वरूप उनसे

वर्तमान तेलगु और कनड़ी लिपियाँ बनी। इसीसे इसका नाम तेलगु कनड़ी रखा गया है। यह लिपि दक्षिणी मराठा प्रदेश शोलापुर बीजापुर बेलगांव धारवाड़ और कारवाड़ हैदराबाद का दक्षिणी भाग मैसूर प्रदेश मद्रास प्रान्त के उत्तर पूर्वी भाग में मिलती है।

४ ग्रन्थ लिपि—यह लिपि मद्रास प्रान्त के उत्तरी व दक्षिणी भागों में मिलती है। ईसा की ७वीं से १४वीं शताब्दी तक इसके कई रूपान्तर होते होते वर्तमान ग्रन्थलिपि बनी और उससे मलयालम मलयालम और तुळु लिपियाँ निकली। मद्रास के जिन भागों में तामिळ लिपि का जिसमें वर्णों की न्यूनता के कारण संस्कृत ग्रन्थ नहीं लिखे जा सकते प्रचार है। वहाँ पर संस्कृत ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे जाते हैं। इसीसे इसका नाम ग्रन्थ लिपि (संस्कृत ग्रन्थों की लिपि) पड़ा है ऐसा अनुमान होता है।

५. कलिंग लिपि—इस लिपि का प्रचार ७वीं से ११वीं शताब्दी के बीच तक मद्रास के चिकाकोल और गंजाम के बीच के प्रदेश में वहाँ के गंगावंशी राजाओं के दानपत्रों में मिलती है। इसके पीछे नागरी तेलगु-कनड़ी तथा ग्रन्थ लिपि का मिश्रण होता गया।

६ तामिळ लिपि—यह लिपि मद्रास प्रान्त के उन भागों में जहाँ प्राचीन ग्रन्थ लिपि प्रचलित थी ईसा की सातवीं शताब्दी से बराबर मिलती चली आती है। इसके अतिरिक्त मलाबार प्रदेश के तामिल भाषा के लेखों में भी इसका उसी समय से प्रचलन है। इस लिपि के अधिकांश अक्षर ग्रन्थ लिपि से मिलते जुलते हैं। इसका रूपान्तर होते-होते वर्तमान तामिळ लिपि बनी। इसीसे इसका नाम तामिळ रखा गया।

७ वट्टेळुत्तु—यह तामिळ लिपि का ही भेद है। इसे त्वरा से (घसीट) लिखी जाने वाली तामिळ लिपि कह सकते हैं। इस लिपि का प्रचार भी सुदूर दक्षिण में ईसा की ७वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक के लेखों तथा दानपत्रों में मिलता है परन्तु कुछ समय से इसका प्रचार नहीं है।

ब्राह्मी लिपि के अक्षर

वैदिक काल में ब्राह्मी लिपि के ध्वनिसूचक संकेत या अक्षर नीचे लिखे अनुसार माने जाते थे—

स्वर—ह्रस्व—अ इ उ ऋ ऌ

दीर्घ—आ ई ऊ, ॠ, [ॡ]?

प्लुत—आ३ ई३ ऊ३ ॠ३ [ॡ३]?

सन्ध्यक्षर—ए, ऐ, ओ औ
इनके प्लुत—ए३ ऐ३ ओ३ औ३

अयोगवाह—अनुस्वार—ꣳ (म्यम् या मु)
विसर्ग—
जिह्वामूलीय—ᳵक ᳵख
उपध्मानीय—ᳶप ᳶफ

व्यञ्जन स्पर्श—क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
ळ३ ळ्ह३
त थ द ध न
प फ ब भ म
अन्तस्थ—य र ल व
ऊष्मन्—श ष स ह
यम—कुँ खुँ गुँ घुँ

नोट—वर्गों के पहले चार वर्णों का किसी वर्ग के पाँचवें वर्ण से संयोग होने पर अनुनासिक वर्ण के पहले वैदिक काल में एक विलक्षण ध्वनि होती थी उसे यम कहते थे जैसे 'पत्नी' में त् और 'न' के बीच में। इस तरह बीस यम होने चाहिये परन्तु प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं में कुँ खुँ गुँ घुँ ये चार ही संकेत मान हैं जो क्रमश वर्गों के पहले दूसरे, तीसरे और चौथे वर्णों के संयोग से उत्पन्न होने वाले यम के प्रतीक हैं।

ऋ, ॡ प्लुत अनुस्वार, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय एवं ळ और ळ्ह—
ऋ और ऌ

आजकल 'ऋ' और 'ऌ' का उच्चारण सब लोग प्राय 'रि' और 'लि' के सदृश करते है। दक्षिण के कुछ लोग 'रु' और 'लु' के से विलक्षण उच्चारण करते हैं और उत्तर भारत के कितने एक वैदिक 'रे' और 'ले' के से उच्चारण करते हैं परन्तु वास्तव में ये तीनों उच्चारण कल्पित ही हैं। 'ऋ' और 'ऌ' 'र' और 'ल' के स्वरमय उच्चारण थे जो बिना किसी अन्य स्वर की सहायता के होते थे परन्तु बहुत काल से वे लुप्त हो गये हैं। अब तो उनके केवल अक्षर-संकेत रह गये हैं।

'ऌ' स्वर वेद में केवल 'क्लृप्' धातु में मिलता है और संस्कृत साहित्य-भर में उक्त धातु को छोड़ कर कहीं उसका प्रयोग नहीं मिलता। वैयाकरणों ने तोतले बोलने वाले बच्चों के 'ऋ' के अशुद्ध उच्चारण के अनुकरण में इसे माना है तो भी वे इसके प्लुत का प्रयोग मानने को तैयार नहीं हैं क्योंकि उसका व्यवहार ही नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में अन्य स्वरों से समानता करने के लिए 'ऌ' के दीर्घ और प्लुत रूप माने हैं परन्तु उनका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। 'क्लृप्त' अथवा 'क्लृप्त' शब्द के कल्पित संबोधन में प्लुत रूप 'ऌ' का होना व्याकरण और कुछ शिक्षाकार मानते हैं तो भी वास्तव में 'ऌ' केवल ह्रस्व ही है।

आजकल त्रिमात्रिक स्वर अर्थात् प्लुत के लिए दीर्घ स्वर के आगे ३ का अंक लगाते हैं परन्तु यह रीति प्राचीन नहीं जान पड़ती। दीर्घ स्वरों के लिए वर्तमान नागरी में जैसे ह्रस्व के साथ २ का अंक न लगा कर उनको स्वतन्त्र अक्षरों अथवा मात्राओं के साथ लिखा जाता है वैसे ही प्राचीन काल में प्लुत स्वरों के लिए भी कोई विशेष चिह्न रहे होंगे जो अब लुप्त होकर अप्रचलित हो गए हैं। जैसे वर्तमान नागरी में औ और औ के और गुजराती तथा मोडी (मराठी) में ए और ऐ ओ और औ के मूल संकेत न रहने से अ पर ही मात्रा लगा कर काम चलाया जाता है (अे अै ओ औ = गुजराती) वैसे ही प्लुत के प्राचीन चिह्नों के लुप्त होने पर शायद दीर्घ के आगे ३ का अंक लगा कर काम चलाया जाता है। वास्तव में प्लुत का प्रयोग तो संस्कृत साहित्य में भी क्रमशः बिल्कुल उठ गया है।

पहले संबोधन वाक्यारम्भ यज्ञकर्म मन्त्रों में अन्त यज्ञ की आज्ञाएं प्रत्युत्तर किसी के कथित वाक्य को दोहराने विचारणीय विषय प्रशंसा आशीर्वाद कोप फटकारने सदाचार के उल्लंघन आदि अवसरों पर वैदिक साहित्य और प्राचीन संस्कृत में प्लुत का प्रयोग होता था।[१] परन्तु पीछे से केवल संबोधन और प्रणाम के प्रत्युत्तर में ही इसका व्यवहार रह गया। पतञ्जलि ने व्याकरण न पढ़ने वालों को एक पुरानी गाथा उद्धृत करके डराया है कि यदि तुम अभिवादन के उत्तर में प्लुत करना न जानोगे तो तुम्हें स्त्रियों की तरह सादा प्रणाम किया जायेगा। इससे यह तो स्पष्ट है कि स्त्रियों की बोलचाल से तो उस समय प्लुत उठ गया था परन्तु पीछे से पुरुषों के व्यवहार से भी यह जाता रहा। केवल कहीं कहीं वेदों के पारायण में और प्रातिशाख्यों तथा व्याकरणों के नियमों में उसकी कथा-मात्र रह गयी। ए ऐ 'ओ' और 'औ' के प्लुत कहीं पूरे सन्ध्यक्षर का प्लुत करने से और कहीं 'इ' और 'उ' को छोड़कर केवल 'अ' के प्लुत करने से बनते थे, जैसे अग्ने[३] या अग्ना[३] इ।

---

१ देखिये पाणिनि ८. २. ८२-१०८

अनुस्वार मकार (अनुनासिक) का स्वरमय उच्चारण दिखाता है। वेदों में अनुस्वार जब र, श, ष और ह के पहले आता है तब उसका उच्चारण 'ग' से मिश्रित 'गुं' या 'ग्व' सा होता है जिसके लिए वेदों में ঁ चिह्न है। यह यजुर्वेद में ही मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में इसके ह्रस्व दीर्घ और गुरु-तीन भेद माने गये हैं जिनके अलग-अलग चिह्नों की कल्पना की गयी है। प्राचीन शिला लेखादि में कभी 'वंश' की जगह वङ्श और 'सिंह' के स्थान पर 'सिङ्ह' खुदा मिलता है। 'ह' के पहले अनुस्वार का ऐसा उच्चारण आर्यकंठों में अब भी कुछ कुछ पाया जाता है और कई बंगाली अपने नामों के हिमांशु, सुधांशु आदि को अंग्रेजी में Himangshu Sudhangshu (हिमांग्शु सुधांग्शु) आदि लिख कर ग के उच्चारण की स्मृति को जीवित रखते हैं।

जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—

'क' और 'ख' के पूर्व विसर्ग का उच्चारण विलक्षण होता था और जिह्वामूलीय कहलाता था। इसी तरह 'प' और 'फ' के पहले विसर्ग का उच्चारण भी भिन्न था और उपध्मानीय कहलाता था। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के न्यारे-न्यारे चिह्न थे जो कभी कभी प्राचीन पुस्तकों शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिल जाते हैं जो अक्षरों के ऊपर बहुधा उनसे जुड़े हुए होते हैं। उनमें भी समय के साथ-साथ अक्षरों की तरह परिवर्तन होता गया। बोपदेव ने अपने व्याकरण में अनुस्वार को बिन्दु विसर्ग को द्विबिन्दु जिह्वामूलीय को 'वज्राकृति' और उपध्मानीय को 'गजकुम्भाकृति' कहकर उनका स्वरूप बतलाया है।

ऋग्वेद में दो स्वरों के बीच के 'ड' का उच्चारण 'ळ' और वैसे ही आये हुए 'ढ' का उच्चारण 'ळ्ह' होता है। इन दोनों के लिए भी पृथक चिह्न हैं। 'ळ' का प्रचार राजस्थान गुजरात काठियावाड़ और सारे दक्षिण में अब भी है और उसका संकेत भी अलग ही है जो प्राचीन ळ से ही निकला है। ळ्ह को आजकल ळ् और ह को मिलाकर ळ्ह लिखते हैं परन्तु प्राचीन काल में भी उसके लिए कोई पृथक चिह्न नियत होगा क्योंकि तेलगु-कनडी ग्रन्थ और तामिळ लिपियों के लेखों में 'ळ' के अतिरिक्त एक और 'ळ' मिलता है। वैसा ही कोई चिह्न 'ढ' के स्थानापन्न 'ळ्ह' के लिए प्राचीन वैदिक पुस्तकों में होगा।

ष और ख

याज्ञवल्क्य के अनुसार उत्तर भारत के यजुर्वेदी लोग संहिता-पाठ में ट-वर्ग के साथ के संयोग को छोड़कर और सब 'ष' को 'ख' बोलते हैं जैसे षष्ठी=खष्ठी। इसीसे मिथिला बङ्गाल पंजाब आदि के संस्कृतज्ञ तथा अन्य लोग भी संस्कृत एवं भाषा में बहुधा 'ष' को 'ख' बोलने लग गये। इसी वैदिक उच्चारण से प्राकृत में 'ष' का रूप 'छ' (च्छ) और 'ख' (क्ख) हो गये।

यजुर्वेद में वर्ण संख्या बहुधा ऋग्वेद के समान ही है केवल 'ळ' और 'ळ्ह' का प्रयोग उसमें नहीं होता परन्तु उसमें अनुस्वार का 'ग्ं' रूप अलग होता है। इसीसे उसमें ६१ वर्ण काम में आते हैं।

जैनों के दृष्टिवाद में जो लुप्त हो गया है ब्राह्मी अक्षरों की संख्या ४६ मानी जाती है। हुएन्त्सांग अक्षरों की संख्या ४७ बतलाता है। अनुमानतः दृष्टिवाद के अनुसार ऋ ॠ ऌ ॡ को छोड़कर अ से अः तक के अक्षर रहे होंगे तथा क से म तक के स्पर्श चारों अन्तस्थ और चारों ऊष्म के अतिरिक्त ळ या (क्ष) रहे होंगे। हुएन्त्सांग के बताये हुए अक्षरों में अ से 'ह' तक तो यही ४२ अक्षर रहे होंगे। इनके अतिरिक्त 'क्ष' और 'ज्ञ' और रहे होंगे। बौद्धों और जैनों के प्राकृत ग्रन्थों में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, इन चार स्वरों का प्रयोग नहीं है। प्राकृत साहित्य में इनकी आवश्यकता ही नहीं रहती। जहाँ संस्कृत शब्द के प्रारम्भ में ऋ होता है वहाँ प्राकृत में 'रि' हो जाता है, जैसे ऋषभ से रिसभ ऋक्ष से रिच्छ, और जहाँ व्यंजन के साथ 'ऋ' की मात्रा लगी होती है वहाँ 'ऋ' के स्थान में अ, इ या 'उ' हो जाता है, जैसे मृग=मग तृषा=तिसा पृच्छ=पुच्छ निभृत=निहुअ।

ये चारों वर्ण (ऋ ॠ, ऌ ॡ) अब भी साधारण लोगों के व्यवहार में नहीं आते और प्रारम्भिक पढ़ने वालों की 'बारखड़ी' (द्वादशाक्षरी) में भी इनको स्थान नहीं मिलता। यह बारखड़ी शैली नवीन नहीं है अशोक के समय भी ई० पू० तीसरी शताब्दी—में भी ऐसी ही थी क्योंकि अशोक के समय के बने हुए बुद्ध गया के महाबोधी मंदिर के पास बुद्ध के चंक्रम (भ्रमण स्थान) में दोनों ओर स्तम्भों की कुम्भियों पर शिल्पियों ने अ को छोड़कर आ से ट तक के अक्षर खोदे हैं। उनमें भी ये चारों स्वर नहीं हैं। यद्यपि सामान्य लोगों के व्यवहार में ये चार वर्ण नहीं आते थे तो भी वर्णमाला में उनको स्थान अवश्य मिलता था। जापान के होर्युजी नामक स्थान के बौद्धमठ में रखी हुई ई० सन् की छठी शताब्दी की 'उष्णीषविजयधारिणी' पुस्तक के अन्त में (जो ताड़पत्र पर लिखी हुई है) जिस लेखक ने वह पुस्तक लिखी है उसी के हाथ की लिखी हुई उस समय की पूरी वर्णमाला है जिसमें इन चार वर्णों को स्थान दिया गया है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में अधिक से अधिक ६४ (ऋग्वेद में ६४ और यजुर्वेद में ६१) ध्वनिसूचक संकेत अर्थात् वर्ण थे परन्तु पीछे से साधारण मनुष्यों एवं जैन व बौद्धों में जिनका प्रारम्भिक साहित्य प्राकृत में था ४६ या ४७ अक्षर व्यवहार में आते थे। ईसा की चौथी शताब्दी के पीछे लेखन-शैली में अक्षरों के रूपों में परिवर्तन होते-होते संयुक्ताक्षर 'क्ष' में 'क' और 'ष' के मूल रूप अस्पष्ट होकर उसका एक विलक्षण ही रूप 'क्ष' बन गया तब बौद्धों ने 'क्ष' को भी वर्णों अर्थात् मातृकाओं (सिद्धमातृकाओं) में स्थान दिया।

इसी तरह पीछे से संयुक्ताक्षर 'ज्ञ' के 'ज्' और 'ञ' का रूप अस्पष्ट होकर उसका एक विलक्षण रूप 'ज्ञ' बन गया तब उसको भी लोगों ने वर्णों में स्थान दिया। तंत्रग्रन्थों में 'क्ष' और 'ज्ञ' की वर्णों अर्थात् मातृकाओं में संज्ञा की गयी है परन्तु ये दोनों सर्वथा वर्ण नहीं किन्तु संयुक्त वर्ण हैं और उनके घटक दो-दो अक्षरों के मूल रूप न रहने पर एक ही विलक्षण नया संकेत बन जाने से उनकी वर्णों में गणना हुई है जैसे कि वर्तमान काल में नागरी की वर्णमाला में 'त्र' की भी।

नागरी लिपि का विकास

वर्णों के मूल की खोज करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि १वीं शती से ११वीं शती तक कुटिल लिपि के अ आ उ ऊ तथा ए, ऐ वर्ण ही रहे हैं जो पाँचवीं शती की गुप्त लिपि से विकसित हुए हैं और इनका सम्बन्ध हम तीसरी शती पूर्व के अशोक के शिलालेखों की लिपि से जोड़ सकते हैं। इ और 'ई' का रूप भी वही रहा है यद्यपि इनका आधुनिक रूप व्यंजनाक्षरों के साथ बीच में ि ी मिलता है। इनका विकास बाद में हुआ है। जैसा कि प्राचीन अक्षरों से प्रकट होता है 'इ' का संकेत तीन बिन्दु ( ) छोटे-छोटे तीन वृत्त करके ये जिनका रूप एक ऐसे त्रिभुज का सा होता था जिसका शीर्ष नीचे की ओर हो। रेखाओं द्वारा इन तीनों बिन्दुओं के सम्बन्धित हो जाने से 7 ए-ध्वनि व्यक्त की जाती थी जिसके नीचे बाद में एक दुम जोड़दी गई और ए की शक्ल V ऐसी बनायी गयी। बीच में आने वाली 'इ' को प्राचीन काल में उस वर्ण पर जिससे इसका सम्बन्ध होता था एक अर्द्ध वृत्त द्वारा व्यक्त किया जाता था जैसे कि (कि)। कुटिल लिपि में यह अर्द्धवृत्त बाईं ओर को नीचे की ओर अक्षर के पूर्व ह्रस्व 'इ' की ध्वनि सूचित करने के लिए तथा दाईं ओर को दीर्घ 'ई' की ध्वनि सूचित करने के लिए इस प्रकार बढ़ा दिया जाता था—कि की।

इससे पहले के शिलालेखों में दीर्घ 'ई' का इस प्रकार ं सूचित किया जाता था। अथ 'उ' पाँचवीं शती ई० पूर्व अक्षर के नीचे दाईं ओर को एक पड़ा रेखा से (जैसे कु) संकेतित किया जाता था तथा दीर्घ 'ऊ' का संकेत ऐसी दो रेखाओं (कू = कू) किया जाता था। इन्हीं से पंजाबी उ (–) और ऊ (=) हुए हैं।

'ए' की ध्वनि को व्यक्त करने की पद्धति यह थी—के (के) तथा 'ऐ' की मात्रा व्यक्त करने के लिए व्यंजन के ऊपर (⊥) चिह्न लगाया जाता था जैसे कै में अर्थात् 'ए' के लिए अक्षर के ऊपर बाईं ओर को एक पड़ी रेखा खींची जाती थी और 'ऐ' के लिए अक्षर के ऊपर एक पड़ी रेखा पर लम्बाकार रेखा

लीची जाती थी। 'ए' की पड़ी रेखा धीरे-धीरे कुछ टेढ़ी होती चली गयी अन्त में। इसी प्रकार 'ऐ' की मात्रा भी टेढ़ी होकर साथ-साथ आ गयी।

एक समय था जबकि 'ओ' का संकेत वर्ण के ऊपर या बीच में होकर सामने सामने से आने वाली किन्तु एक ही रेखा-सी प्रतीत होने वाली दो रेखाओं से किया जाता था जैसे के (को)। शब्द के प्रारम्भ में आने वाला 'ओ' भी ऐसी मात्रा लगाकर व्यक्त किया जाता था। धीरे-धीरे ये दो रेखाएं झुकाव के साथ उठती गयी जैसे कँ (को)। गुप्तकालीन शिलालेखों से लेकर दसवीं शती तक यह मात्रा ऐसे ही लगायी जाती थी। पंजाबी में ये रेखाएं अब भी सुरक्षित हैं किन्तु 'ए' (के) तथा 'ओ' (के=को) में अन्तर दिखाया जाता है। नागरी लिपि में दाईं ओर की रेखा नीचे की ओर मुड़कर ा (आ) की स्थिति में आ गई है जिससे मात्रा का स्वरूप ो हो गया है।

पाँचवीं शती में 'औ' अक्षर के ऊपर तीन रेखाएं लगाकर व्यक्त किया जाता था जैसे V। नागरी में तीसरी रेखा बीच की ओर मुड़ गई और शेष दो रेखाएं साथ-साथ आकर कुछ टेढ़ी हो गयी जैसे 'कौ' में।

२ पश्चिमी हिन्दी में 'ष' का प्रयोग 'ख' के लिए भी होता रहा है। 'ख' से कई भ्रान्तियां पैदा हो जाती हैं। इसको 'रव' भी पढ़ा जा सकता है और थोड़ी सी असावधानी से यह रव तथा 'रब' भी बन जाता है। सम्भवतः इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ही 'ख' की जगह 'ष' का प्रयोग होने लगा।

'क' का असली रूप अधिकांशतः गुजराती में ही सुरक्षित है गुजराती में आज भी 'क' इस प्रकार बनता है— ✢। बल्लमि प्लेटों में यही रूप मिलता है। 'च' कुटिल लिपि से भी पहले का है। कुटिल लिपि में 'च' ऊपर से बन्द है जबकि पहले की लिपि में 'च' की भांति खुला है। नागरी 'च' कुटिल लिपि के रूप को सुरक्षित बनाये हुए है। अशोक के समय से लेकर बहुत बाद तक इसकी शक्ल Ɛ यह थी। पंजाबी और काश्मीरी में यह अब भी सुरक्षित है। देवनागरी का 'च' कुटिल लिपि से मिलता है क्योंकि ऊपर से बन्द है किन्तु रेखाओं में से दो खड़ी होने के बजाय पड़ी होने से कुटिल लिपि के 'च' से नागरी 'च' का भेद हो गया है।

— — — —

अध्याय-२

हिन्दी का शब्द समूह

मध्य भारतीय भाषाओं के विकास में 'अपभ्रंश' भाषा का बहुत बड़ा योग है। अनेक गवेषकों ने अपनी गवेषणा के परिणामों को व्यक्त करते हुए यही बतलाया है कि हिन्दी अपभ्रंश के आभार को नहीं भूला सकती। हिन्दी के प्राचीन लेखकों और कवियों की रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि हिन्दी ने अपभ्रंश की अनेक प्रवृत्तियों का स्वीकार करके उससे चलने का ढंग सीखा। फिर भी हिन्दी को एक बड़ी सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य से मिली है। यदि हिन्दी ने सरलता और व्यावहारिकता के पथ पर अपभ्रंश का अनुसरण किया है तो सांस्कृतिक अनुदान संस्कृत और प्राकृत से प्राप्त किया है। भाषा के क्षेत्र में भी हिन्दी पर दोनों का ही ऋण है। हिन्दी को एक बहुत बड़ा शब्द भंडार संस्कृत से धरोहर के रूप में मिला है। ऐसा ही एक बहुत बड़ा भंडार उसे प्राकृतों से मिला है जिसमें अपभ्रंश का भी योग है। इसी प्रकार हिन्दी-रूप रचना को अपभ्रंश का बहुत बड़ा सहयोग मिला है।

आज हम हिन्दी को जिस रूप में पा रहे हैं उसमें एक संचित भंडार भी है और मौलिक धर्मनाएं भी हैं। इसलिए भाषा वैज्ञानिकों ने हिन्दी के शब्द-भंडार को चार भागों में विभक्त किया है। वे हैं—तत्सम तद्भव देश्य या देशी और विदेशी।

'तत्सम'

द्वितीय स्तर की ओर उससे उतरी हुई भाषारण प्राकृत की वह शब्द काया को आदिम प्राकृत द्वारा निर्मित हुई, किन्तु उच्चारण और धर्म की दृष्टि से वैदिक ऋचाओं के शब्दों के साथ जिसका सर्वथा समान भाव है उसको 'तत्सम' नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के बहुत से शब्द हैं जो ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं और बौद्ध-जैन-आगमादिक प्राकृत साहित्य में भी मिलते हैं, जैसे-भूरि वसु, भूम वीर, महावीर, भिवति मरति हाति अन्नु, उत्तम सह,

भीम देव, विभाव बाहु, पुरन्दर और आदि। ऐसे शब्द उक्त प्राकृत साहित्य में सहस्रों की संख्या में मिलते हैं। तत्सम शब्द लौकिक संस्कृत में सुरक्षा प्राप्त किये हुए हैं।

तद्भव शब्द

वैदिक साहित्य और प्राकृत साहित्य के वे शब्द जिनकी वर्ण-योजना उच्चारणों की असमानताओं में परिवर्तित हो गयी है किन्तु जो अपने अर्थ का एक ऐतिहासिक तारतम्य लिये हुए हैं अर्थात् जिनके अर्थविकास का एक इतिहास है 'तद्भव' नाम से विश्रुत हैं जैसे—दंत<दन्त, मत्त<मत्त कइ<कवि पय<पद पव्वत<पर्वत कूव<कूप पाव<पाप पुप्फ<पुष्प पुरिस<पुरुष बारस बारह<द्वादश चक्क<चक्र सत्त<सप्त बहु<वधू आदि।

देशी

हेमचन्द्र के अनुसार तत्सम तद्भव और देश्य—ये तीन प्रकार के शब्द प्राकृत में सम्मिलित हैं। चंड का अभिप्राय भी इसी प्रकार का है। वह भी संस्कृतसम (तत्सम) संस्कृतयोनि (तद्भव) और देशी (देश्य) स्वीकार करता है। कुछ विद्वान् 'तद्भव' शब्दों की सत्ता स्वीकार न करके देश्य शब्दों की सत्ता ही स्वीकार करते हैं।

प्राकृत भाषा में एक ऐसा शब्द-समूह है जो वैदिक शब्द-समूह के साथ किसी प्रकार का साम्य नहीं रखता। इससे उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अमुक अंश तो धातु प्रकृति है और अमुक अंश प्रत्यय है। यह शब्द समूह देशी या देश्य प्राकृत के नाम से ख्यात है। इस प्रकार का देश्य शब्दसमूह अति प्राचीन समय से चला आ रहा है। इसमें दो प्रकार के शब्द मिलते हैं एक आर्यसंतानीय और दूसरा अनार्यसंतानीय।

एक या अनेक अर्थों में आर्यों द्वारा संकेतित कुछ ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति सहस्रों वर्षों से खोई हुई है। प्राकृत या संस्कृत में प्रयुक्त उन शब्दों को आर्यसंतानीय देश्य कहा गया है।

आर्यों के साथ आदिम जातियों के गाढ़ परिचय और सम्बन्ध के कारण आदिम जातियों की भाषा के जो शब्द आर्य भाषा में प्रविष्ट हो गये हैं और जिनको आर्यों ने अपनी उच्चारण रीति के अनुसार प्रयोग प्रतिष्ठा प्रदान कर रखी है वे मुख्यतः अनार्यसन्तानीय शब्द भी देशी शब्द-समूह में परिगणित होते हैं।

अनार्यसन्तानीय देश्य का स्पष्टार्थ यह है कि जो-जो अनार्य जातियाँ यहाँ थी अथवा जो-जो अनार्य जातियाँ बाहर से आकर यहाँ बस गयी थीं उन सभी

जातियों के साथ आर्यों का भाषा व्यवहार था इसलिए उन सभी जातियों के शब्द आर्य-भाषा में समाविष्ट हो गये। नीचे नमूने के लिए कुछ शब्द दिये जाते हैं जो मूलत अनार्य हैं किन्तु जिनको आर्यों ने अपनी उच्चारण-प्रणाली में प्रवाहित किया है —

अनार्य	आर्य
मीम	मेम (माया)
चीन	जयन—जयण (घोड़ का चीन)
चोर	चोर (माल)
माम	मामा (महिला-स्त्री)

हेमचन्द्र के 'देशी शब्द-संग्रह' (देशीनाममाला) में इसी प्रकार के शब्द संगृहीत हैं। बहुत से देशी शब्द लौकिक स सकृत में भी प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत में ही नहीं वेदो में भी इनका प्रवेश दिखायी दिया है। महर्षि जैमिनि शबर और कुमारिल के सम्बन्ध से इस विषय में पहले ही विवेचन हो चुका है। प्राकृत में तो ऐसे शब्दो की बहुलता है।

लौकिक संस्कृत में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्रचलित है रूढ यौगिक और मिश्र। जिन शब्दों में यौगिक शब्दों की भांति प्रकृति-प्रत्यय का विभाग न हो सके वे रूढ कहे गये है। प्रावरण मण्डप, मुष्ठी ग्राम काश्मीर बर्बर पक्कतक कुट् वत्स धूमि नारङ्ग मक्कु घोड़िर कफोणि कफणि म मुरी हस्त आदि अनेक शब्द संस्कृत में प्रयुक्त हुए हैं। शब्द-व्युत्पादक वैयाकरणों ने 'उणादि' नाम के एक बड़ प्रकरण की रचना की है और उसके द्वारा रूढ शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करके कुछ शब्दों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु रूढ शब्द व्युत्पन्न नहीं होते। रूढ शब्दों के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है— 'नहि अत्र प्रकृति प्रत्यय विभागेन व्युत्पत्ति × × × × न पुन अन्वर्थप्रवृत्ती कारणर् इति रूढा अव्युत्पन्ना एव'[१]। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के रूढ शब्दों और प्राकृत के देश्य शब्दों में विशेष भेद दिखायी नहीं देता परन्तु देश्य प्राकृत शब्दों का उच्चारण प्राकृत-पद्धति से होता है और संस्कृत देश्य शब्दों का उच्चारण संस्कृत रीति से होता है यही दोनों का विशेष अन्तर है।

हिन्दी में तत्समो और तद्भवों के समान देश्य भी प्रचलित हैं। तद्भव शब्दों में देश्य शब्द ऐसे घुल मिल गये हैं कि उनमें भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। इतने दिनों से उच्चारण प्रवाह में लुढ़कते आने से तद्भवों और देश्यों में पर्याप्त मिलावट आ

१ देखिये अभिधानचिन्तामणि टीका श्लोक १ पृ० २ (यशोवि०)

गयी है और उनमें लिंग-वचन आदि से सम्बन्धित संस्कार भी प्रविष्ट हो गये हैं। उनका परिचय केवल व्युत्पत्ति शास्त्री को ही लग पाता है।

विदेशी

इस विशाल भू भाग पर अनेक विदेशी जातियों का पदार्पण हुआ। कुछ सांस्कृतिक सम्बन्धों को बढ़ाने आयीं कुछ व्यापारिक सम्बन्धों को दृढ़ करने आयीं कुछ जातियाँ विजयेच्छा से और कुछ धनेच्छा से यहाँ आयी। इनके भी दो रूप मिलते हैं कुछ तो यहाँ बसने की इच्छा से आयी और कुछ केवल लूटमार करने के लिए अथवा धर्म-प्रचार के लिए। भारतीय जनता ने जहाँ उनसे प्रेम-सम्बन्ध प्रवर्तित किये वहाँ डटकर लोहा भी लिया। जो कुछ सीखने-सिखाने आयी थीं उन जातियों से भारतीयों ने सीखा या उनको सिखाया तथा जो विजय कामना या लूट की इच्छा से आयी थीं उनसे भारतीय जनता जमकर लड़ी। परिणाम इतिहास जानता है। विदेशी जातियों का आना-जाना बाद में भी रहा। अतएव तुर्कों मुगलों और यूरोपीय जातियों से भी भारतीयों का सम्पर्क हुआ। सम्पर्कजन्य प्रभाव से भारतीय भाषाएं भी मुक्त न रह सकी। इसलिए हिन्दी में भी अनेक विदेशी ध्वनियों और शब्दों का समावेश हुआ। विदेशी शब्दों में अरबी फारसी और अंग्रेजी के शब्दों के अतिरिक्त तुर्की पुर्तगीज डच फ्रेंच आदि शब्दों का भी मिश्रण है।

जिन जातियों का भारतवासियों के साथ अधिक गहन सम्बन्ध हुआ वे थीं तुर्क मंगोल अफगान और अंग्रेज जातियां। इन जातियों का देश में शासन रहा और इनकी अपनी भाषा या राजभाषा का प्रभाव भी यहाँ की भाषाओं पर पड़ा। मुसलमान शासकों ने प्रायः फारसी को ही प्रशासन की भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जिसमें धार्मिक भाषा अरबी का भी पुट रहा। यही कारण है कि हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य है। मुगलों के शासन के अवसान-काल में ही यूरोपीय जातियों ने यहाँ आकर अपने पैर जमा लिये। उनमें से सबसे अधिक बल और चालाकी का परिचय अंग्रेजों ने दिया। अंग्रेजों से करीब १५० वर्ष तक भारतीयों का सम्पर्क रहा। इस युग में उनकी भाषा ने भी इस देश में अपने हाथ पैर फैलाये। जिस प्रकार अंग्रेजी रीति-नीति शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव देशवासियों पर पड़ा उसी प्रकार उनकी भाषा का प्रभाव भी पड़ा। अनेक क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा के शब्द हिन्दी में भी समाविष्ट हुए, जो देश की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचलित हैं। अंग्रेजी के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं के बहुत से शब्द भी हिन्दी आदि भाषाओं में समाविष्ट हो गये हैं।

हिन्दी में सबसे अधिक शब्द फारसी और अरबी के आये हैं। मुस्लिम शासन में राजभाषा फ़ारसी होने से हिन्दी भाषा से सम्बन्धित अधिकांश लोग फ़ारसी

पढ़ते थे। फ़ारसी के साथ-साथ वे अरबी का भी ज्ञान प्राप्त करते थे। वैसे अरबी शासकों की धर्म भाषा थी किन्तु उनके समय में फारसी को अरबी ने काफ़ी प्रभावित किया था अतएव हिन्दी में फारसी के शब्दों के साथ-साथ अरबी के शब्द भी प्रविष्ट हो गये। ऐसे शब्दों में सभी प्रकार के शब्द समाविष्ट हैं जो जीवन के किसी न किसी पहलू से सम्बन्धित हैं। इनमें संज्ञा विशेषण क्रिया अव्यय— सभी प्रकार के शब्द हैं। हिन्दी में आई हुई फ़ारसी की क्रियाएं बहुत कम हैं और जो हैं उनका प्रयोग हिन्दी की प्रणाली में अपना रूप बदल लेता है। फ़ारसी सर्वनामों का प्रयोग हिन्दी में नहीं के बराबर है। कभी-कभी ऊ (वो) जैसे प्रयोग जहाँ-तहाँ आ जाते हैं। संज्ञाओं और विशेषणों का प्रयोग हिन्दी में बड़ी छूट से हुआ है। कुछ प्रयोगों में विशेष्य विशेषण के प्रयोग में फ़ारसी-व्याकरण की छाया भी दिखायी दे जाती है। हिन्दी की उर्दू शैली में तो 'इज़ाफ़त' का काफी ज़ोर-शोर है। अव्ययों में थोड़े से ही काम चल है। हिन्दी में प्रयोग की दृष्टि से फ़ारसी संज्ञाएं और विशेषण ही बहुत महत्वपूर्ण हैं। नीचे हिन्दी में प्रयुक्त फ़ारसी-अरबी शब्दों के कुछ नमूने देखे जा सकते हैं —

फ़रियाद	ज़िलादार	बम	मार	आसम	आब
तहरीर	लिबास	ज़र	जश्न	दफ़्तर	कसूर
कागज़	शुमार	जमी	शोर	मुल	अक्स
मिस्ल	नशा	कतरा	खू़न	स्याह	शिकायत
तस्वीर	दर्द	तूफ़ान	माजमाइश	सुर्ख़	सगदिल
ख़राब	दोस्त	आसान	राज़ी	कत्ल	पैग़ाम
ख़याल	दानिशमन्द	मुश्किल	सितम	काहिल	ख़ाक
ख़ुद	चमन	सख़्त	ज़ख़्म	मिसल	सज्जत
मकतब	दिल	तुम्हार	सदमा	काबिल	खुशनू
ग़म	असर	हिम्मत	दम	इन्साफ़	आहलमद
सबक	बेवकूफ़ी	परेशान	माशूक़	[illegible]	तहसील
कफ़न	हुस्न	बज़्म	राज़	अफ़लातून	ज़िला
पाप	खून	महफ़िल	नाज़	बिमारी	पेशकार
हाज़िर	कुदरत	शिराम	नाज़	जारी	ज़ुबान
ज़ामिन	बाग़	रक़ीब	जोश	अर्ज़ी	मज़ब
ग़ुम	ज़र्द	खौफ़	कातिल	दिमाग	दरअसल
मज़ा	ज़िन्दगी	तर्ज़	गमत	कयामत	आमद
मालिम	औरत	आरज़ू	फ़हम	मोहर	गनीमत

हिन्दी में अरबी के अतिरिक्त तुर्की शब्द भी मिलते हैं जो फारसी के द्वार से ही आये हैं। हिन्दुस्तान के ग़ज़नी गोर गुलाम आदि आरम्भ के वंशों के समय

गजनी बादशाहों तथा भारतीय मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृभाषा मध्य एशिया की तुर्की भाषा थी। टर्की की तुर्की इसी तुर्की की एक शाखा मात्र है। इस्लाम धर्म तथा ईरानी सभ्यता के प्रभाव के कारण इन तुर्की बोलने वाले बादशाहों के समय में भी उत्तर भारत में इस्लामी साहित्य की भाषा फ़ारसी और इस्लामी धर्म की भाषा अरबी रही। फिर भी भारतीय फ़ारसी पर तथा उसके द्वारा आधुनिक आर्य भाषाओं पर तुर्की शब्द समूह का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। हिन्दी में प्रचलित तुर्की शब्दों की एक सूची नीचे दी जा रही है [1]

आका (मालिक)   सौगात, सुराकची।
उजबक (मूर्ख)
उर्दू कलगी
क़ैंची क़ाबू
कुली कोर्मा
खातून (स्त्री)
खाँ खानुम (स्त्री)
गलीचा चकमक
चाक़ू चिक
तमगा तगार
तोप दरोग़ा
बख्शी बावर्ची
बहादुर बीबी
बेगम बकचा
मुचलका लाश

हिन्दी के विदेशी शब्द समूह में फ़ारसी के बाद अंग्रेज़ी शब्दों की संख्या सबसे अधिक है। अंग्रेज़ी शासन के चले जाने पर भी भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक गवेषणाओं के द्वार से कुछ-न-कुछ अंग्रेज़ी शब्द अब भी आते चले जा रहे। हिन्दी में इन शब्दों की चाल कब तक रहेगी यह कहना तो कठिन है किन्तु ये शब्द गाढ़ी कमाई के परिणाम हैं अतः इनसे यथोचित काम लेना चाहिये। जिस प्रकार हिन्दी से फ़ारसी–अरबी के शब्दों का बलात् बहिष्कार उचित नहीं है उसी प्रकार अंग्रेज़ी शब्दों का बहिष्कार भी उचित नहीं होगा। साइकिल मोटर, रेल मार्ग टिकिट आदि के लिए नये शब्द खोजना नतिकतापूर्ण न होगा। ये शब्द

---

१ देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास भूमिका

हमारी हिन्दी भाषा के अंग बन गये हैं। इनमें हिन्दी के प्राणों का संचार होने लग गया है अतएव इनके प्रति उपेक्षा या घृणा दिखलाना बुद्धिमत्ता नहीं है। हाँ नये शब्दों की भरती को हिन्दी में स्थान नहीं देना चाहिये। जिन अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग फैशन के रूप में प्रयोग करते हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र तिलांजलि दे देनी चाहिये और उनके स्थान पर उपयुक्त हिन्दी (तत्सम तद्भव या देशी) शब्दों का व्यवहार होना चाहिये। यदि फारसी से आये हुए शब्द उनकी स्थान पूर्ति कर सकें तो उनको प्रयोग में ले लेना चाहिये।

अंग्रेजी शब्दों ने हिन्दी में आने के विभिन्न द्वार खोले हैं। उनमें से प्रथम वस्तुओं और घटनाओं का नामकरण है। देश में नयी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के उत्पन्न होने से नयी वस्तुओं और घटनाओं को जन्म मिला और औद्योगिक उत्पादन को नयी दिशा और नयी व्यवस्था मिली जिससे बहुत से तकनीकी शब्द हिन्दी में समाविष्ट हुए। आपरेटर, इंजीनियर इलेक्ट्रिक ओवर-टाइम कंट्रोल करेंट क्रेन जेनरेटर टर्बाइन ट्यूब डायनमो डीजिल पप पाइप प्लक प्लांट फायरब्रिगेड फिटर फैक्ट्री फ्यूज बल्ब बायलर, बोरिंग मशीन मिल मीटर स्पीड स्प्रिंग हार्सपावर आदि अनेक शब्द औद्योगिक विकास के कारण ही हिन्दी में आये हैं।

अंग्रेजी के कुछ शब्द जो हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, यातायात से भी सम्बन्धित हैं जैसे—

इंजन एक्सप्रेस कंडक्टर कम्पार्टमेन्ट कोच गार्ड गैरेज जंक्शन जीप, टाइम टेबिल टिकट टैक्सी ट्यूब टायर ट्रक ट्राम ट्राली, ड्राइवर पैसेंजर प्लेट फार्म फर्स्टक्लास फिटिंग, फेयर, बस बिल्टी ब्रेक बागी मेल मोटर, मोटरलारी रिक्शा रिटर्न-टिकट रेल रेलवे रेलवेमैन साइन वर्कशाप स्टीमर शिप पोर्ट डेक जहाज एरोप्लेन जेट, पाइलट आदि।

हिन्दी में प्रयुक्त कुछ अंग्रेजी शब्द संदेश व प्रेषण के साधनों से सम्बन्धित हैं जैसे—टेलीग्राम टेलीफोन टेलीविजन माइक्रोफोन लाउडस्पीकर वायरलेस आपरेटर वायर पोल आदि।

कृषि विकास में आज देश आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करने लगा है। इस सम्बन्ध में उसे पश्चिम से बड़ी प्रेरणा मिली है। संबन्धित शब्दों ने अंग्रेजी के द्वार से ही हिन्दी में आने का उपक्रम किया है जैसे—

ट्रेक्टर ट्राली डेयरीफार्म, फार्म-हाउस ट्यूबवेल सीड पंप-ड्राइवर वपर लाप, म्हीट वीडिंग आदि।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी बहुत से शब्द हिन्दी में अंग्रेजी से आ गये हैं जैसे—

इंजेक्शन इन्फ्लुएंजा आइडिन आपरेशन एक्सरे एपेन्डिसाइटिस एलोपैथी कम्पाउण्डर, कैंसर ग्लूकोस टानिक टाइफायड टिंचर डाक्टर, डिस्पेन्सरी नर्स पेनि सिलिन, प्लेग ब्लड प्रेशर ब्लड प्रेशर, मलेरिया मेडिकल वैसलीन विटा मिन सर्जन सर्जरी सैनेटोरियम होमियोपैथी आदि।

हिन्दी में प्रयुक्त कुछ शब्द रासायनिक पदार्थों या प्रक्रियाओं या स्थानों से सम्बन्धित हैं, जैसे—

पोजिटिव निगेटिव प्रोटीन फोकस बैरोमीटर बोल्ट पेंच मैचस एलमु नियम आक्सीजन एसेंस कैल्शियम पेट्रोल प्राटीन प्लेटिनम रेडियम एक्स-रे, सिल्वुसाइड सोडा स्लोम हाइड्रोजन आदि।

अंग्रेजी से कुछ शब्द हिन्दी का सामाजिक और राजनैतिक विकास के क्षेत्र मे भी लिये हैं।

असेंबली एक्ट कमिश्नर कमीशन कम्युनिस्ट कांग्रेस कान्फ्रेंस कारपो- रेशन कामरेड कौंसिल गवर्नर ग्रुप चेयरमैन जुबली टाउनहाल ट्रब्यूनियम डिक्टेटर डिप्टी डिमाक्रेसी डिवीजन डेलीगेट नैशनल नोटिस पिकेटिंग पार्टी पार्लियामेन्ट, पालिसी पासपोर्ट पोलिंग पोलिटीकल प्राइममिनिस्टर, प्रेस-कान्फ्रेंस प्रेसीडेन्ट प्रैक्टिस प्रोग्राम फेडरेशन बायकाट बोर्ड बांच मिनिस्टर मैनेजर, मार्कस मीटिंग मेम्बर मैजिक मेयर म्युनिसिपल यूनियन रिपोर्ट वोट सेशन सोसाइटी स्कीम स्टेट आदि।

संस्कृति और कला के क्षेत्र में भी बहुत से अंग्रेजी शब्द हिन्दी की सेवा करने आ गये हैं, जैसे—

आर्केस्ट्रा आर्ट आर्टडाइरेक्टर, आर्टिस्ट कंसर्ट कन्सर्टहाल कीबोर्ड कैमरामैन क्लब गैलरी जनरल जर्नलिस्ट टाकीफिल्म ड्रामा ड्राप थियेटर नाविल पिक्चर्स पीपुल्स पार्क पेपर पैम्फलेट पोस्टर पियानो फिल्म-डाइरेक्टर फोटो फोटोग्राफ बैंड ब्राडकास्ट रिकार्ड रीडिंगरूम रिव्यू रोल लाइब्ररी लाटरी सेक्चर लो सर्कस सिनेमा सीट, स्क्रीन स्टुडियो स्टेज स्टैम्प आदि।

हिन्दी में आयी हुई अंग्रेजी शब्दावली में बहुत से शब्द शिक्षा-क्षेत्र के हैं जैसे—

इंटरमीडिएट कालेज कोर्स क्लास क्लासरूम ग्रेजुएट चाक, चेयर, टेक्स्ट बुक डिक्टेशन डिग्री डिप्लोमा पास पेन्सिल प्राइमर, प्राइमरी स्कूल प्रिंसिपल

प्रोफेसर फेल, मार्क, मास्टर मैट्रिकुलेशन मैट्रिक यूनिवर्सिटी रिपोर्ट, बुक बोर्ड रीडर, वाइसचान्सलर स्कूल, स्कूलमास्टर हाईस्कूल, हैडमास्टर, हैडक्लर्क आदि।

हिन्दी में आये हुए कुछ शब्द सामान्य जीवन-पद्धति से सम्बद्ध हैं जैसे— अलबम आइसक्रीम एलार्म ओवरकोट काउन्टर कालर, कौट क्लाक, क्रीम ग्लास चाकलेट चैरी जंपर जाकेट टार्च टिन टैंपरेचर ट्रंक डायरी डिनर ड्राइंगरूम ड्रेस थर्मस थर्मामीटर दर्जन नंबर नेकर नोटबुक पतलून पाउडर पाकेट पिन पेंसिल प्लेट पैन फैमी फोन फ्रेम बटन बाइसिकिल बाथरूम बियर बिरजिस बिस्कुट, बूट बेस्ट बेग बल्ब ब्लाउज मशीनेग माचिस रिस्टवाच रेस्तरां लाज, लिपस्टिक लेमोनेड साइकिल, साइड सिगरेट सूट, सूटकेस, सेफ्टीपिन सेकिंड हैंड सोडावाटर स्टोव स्पंज स्लीपर, हैंडबेग होल्डर आदि।

अंग्रेजी के कुछ शब्द खेल से सम्बन्धित हैं जैसे—

ओलम्पिक क्रिकेट, गोल चैम्पियन जिमनास्टिक टीम टूरिस्ट टूर्नामेन्ट टेनिस ट्रेनर ट्रेनिंग ड्रिल फाइनल फिजीकल ट्रेनिंग फुटबाल बाक्सिंग बास्केट बॉल बैडमिंटन मैच बालीबॉल सेमीफाइनल स्कॉटिंग स्टेडियम स्पोर्ट्स सोसाइटी हाकी हाकीटीम हिट आदि।

अंग्रेजी के अदालत से सम्बन्धित कुछ शब्द ये हैं—

आर्डर आर्डिनेंस इनकमटैक्स एडवोकेट क्लेम जस्टिस डिसमिस जज बैरिस्टर, बार-एट-लॉ बार-एसोसिएशन मजिस्ट्रेट समन सर्टीफिकेट, सिविल कोड सिविल मैरिज सेशन जज हाईकोर्ट आदि।

दफ्तर और दफ्तर के काम से सम्बन्धित बहुत से अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में आ गये हैं जैसे—

अफसरी आफिस कटिंग क्लर्क चीफ टाइपराइटर डाइरेक्टर डिप्टी डाइरेक्टर डिपार्टमेण्ट ड्यूटी मिल पास गेटपास पैकिंग पैकेट पोस्ट फाइल फार्म रजिस्टर रूलर, लिस्ट शार्टहैंड सेफ हैडआफिस आदि।

बहुत से डाक सम्बन्धी अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में चलते हैं जैसे—

कार्ड डिलीवरी मोटपेपर पोस्टआफिस पोस्टकार्ड पोस्टल आर्डर, पोस्टबॉक्स पोस्टमास्टर पोस्टमैन पार्सल पोस्टेज टिकिट पोस्टेज स्टांप बुकपोस्ट मनीआर्डर रजिस्ट्री लेटर लेटरबॉक्स लेबिल वी पी सील सीलस्टांप आदि।

अंग्रेजी के बहुत से शब्द व्यापार आदि से सम्बन्धित हैं जैसे—

अकाउण्ट इंश्योरेंस एजेंट, एजेंसी कट्रेक्ट कंट्रेक्टर कम्पटीशन क्वालिटी स्टोर डिमांड पैकेट फर्म बजट बिजनेस बुकडिपो बुकसेलर बुकस्टाल मैनेजर राशनिंग लाइसेंस रेट स्टाक स्टैंडर्ड आदि।

सेना एवं युद्ध से सम्बन्धित अंग्रेजी शब्दों के जो हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं कुछ नमूने ये हैं—

अफसर अनार्म अस्टीमेटम आर्म्ड आर्म्ड डिवीजन आर्मी कोर इन्फेंट्री एटीएयरमम एम्बुलेंस एटमबम एडमिरल एयरफोर्स एयरमार्शल कमांडर, कमांडर-इन-चीफ, कमांडिंग ऑफीसर, कफ्यू कलम कोर्टमार्शल क्रूजर गनबोट गार्ड (गारद) गैस मास्क टामीगन टारपीडो टीयरबम टैंक ट्यूब ट्रेंच मॉर्टर, डायनमाइट डिवीजन परेड फायर बटालियम बम बैरक बैलून बैटरी ब्रिगेड मशीनगन मैगजीन मेजर मेजरजनरल यूनिट रंगरूट रॉकेट, रायफल राशन रिजर्वफोर्स रिवाल्वर, रेगुलेशन रैजीमेण्ट रोड लेफ्टिनेंट लेंस लेंसनायक वाइस एडमिरल डेप्युट सोल्जर स्टाफ स्टाफ-ऑफिसर हाइड्रोजन बम ट्रेंचक्वार्टर टैंक आदि।

बहुत से पुलिस-विभाग से सम्बन्धित अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं जैसे—केस केसर डिटेंशन पुलिस पुलिसमैन पुलिस स्टेशन वारंट वार्ड वार्डर सबइंसपेक्टर सुपरिटेंडेंट आदि।

बहुत से अंग्रेजी शब्दों का सम्बन्ध मुद्रण तथा मुद्रणयन्त्र से है। हिन्दी मे ऐसे अनेक शब्द प्रचलित हैं। कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

कम्पोज् कम्पोजीटर कवर कॉमा कालम इंकिंग टाइटिल टाइटिल पेज टाइप केस पेज पैराग्राफ, प्रिंटिंग प्रिंटिंग मशीन प्रेस प्रेसमैन प्रूफ, प्रूफरीडिंग फुटनोट, ब्रैकेट ब्लाक मोनोटाइप लाइनोटाइप आदि।

समय तिथि मास आदि से भी सम्बन्धित बहुत से शब्द अंग्रेजी से हिन्दी मे आ गये हैं जैसे—

नाइट मोर्निंग ईवनिंग नून मंडे सन्डे मार्च दिसम्बर फरवरी कैलेण्डर डायरी आदि।

हिन्दी मे प्रयुक्त कुछ अंग्रेजी शब्द ज्योतिष् गणित आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं जैसे—

एस्ट्रालॉजी पामिस्ट्री फटलाइन एक्जामिनर सैम्नें मून आदि।

फारसी–अरबी और अंग्रेजी शब्दो के नमूने देख कर हम अनुमान कर सकते हैं कि हिन्दी मे अंग्रेजी–संज्ञा शब्दों ने ही विशेष रूप से प्रचलन प्राप्त किया है। बहुत थोड़े विशेषण-शब्दो ने हिन्दी में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। संज्ञा शब्दों में भी अंग्रेजी की भाववाचक-संज्ञाओं को हिन्दी मे बहुत कम स्थान मिला है। ऐसे शब्द इने गिने हैं जैसे—

फ्रीडम एक्स मिनिस्टर स्कालरशिप टेररिज्म नाजिज्म ग्यूनी, फ्रीडम चाइल्डिश, ब्रिटिश, कोड, पॉलिसी रिक्रूटमेण्ट आदि।

अंग्रेजी के माध्यम से (तथा कुछ स्वतंत्र-सम्पर्क के कारण भी) कुछ शब्द अन्य यूरोपीय भाषाओं से भी हिन्दी में आ गये हैं जैसे—

ग्रीक शब्द—परमल थीसिस थ्योरी प्रोग्राम फ़िलासफ़ी आदि।

लैटिन—आपरेटर कैलेंडर डिक्टेटर, डिपाजिट, डिविडेंड डेसिमेट प्रोफ़ेशन मिशन आदि।

फ्रेंच शब्द—अप्रैल इंजीनियर, कर्फ्यू कार्टून कालिज कूपन, टूरिस्ट, टैक्सी केबिन बुक ब्लाउज़ सेफ्टिमेंट।

जर्मन शब्द—किंडरगार्टन निकल फ़ारेनहाइट आदि।

इटालियन शब्द—वासलीन सोडा स्टूडियो आदि।

पुर्तगीज शब्द[1]—अनन्नास, अलमारी अचार आलपीन आया, इस्पात, इस्त्री कमीज कप्तान कनिस्तर कमरा काज काफ़ी, काजू काकातुआ, किस्तान, क्रिस, गमला गारद गिर्जा गोभी गोदाम चाबी तम्बाकू तौलिया तोला नीलाम पराद परेड पाउ (रोटी) पादरी पिस्तौल पीपा फर्मा फ़ीता फ़्रांसीसी बमी बपतिस्मा बाल्टी बिसकुट बुताम, बोतल, मस्तूल मिस्त्री मेज, मीशू, लबादा, संतरा साया सागू आदि।

डच शब्द—तुरुप बम आदि।

उक्त विवेचन की भूमिका पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा में न केवल तत्सम तद्भव और देश्य (देशी) शब्दों का प्रयोग है बरन् विदेशी भाषाओं के शब्द भी बहुलता से प्रयुक्त हुए हैं। उनमें से सबसे अधिक प्रयोग फ़ारसी-अरबी के शब्दों का है इसके बाद अंग्रेज़ी शब्दों का।

संकर शब्द

हिन्दी के शब्द भण्डार का उल्लेख करते हुए यह कहा जा चुका है कि हिन्दी में चार प्रकार के शब्द मिलते हैं। तत्सम तद्भव, देश्य या देशी तथा विदेशी। इनके अतिरिक्त भी एक अन्य प्रकार के शब्द हिन्दी में प्रयुक्त हो रहे हैं जिनको संकर शब्द की अभिधा प्रदान की गयी है। 'संकर' शब्द वे शब्द हैं जिनका कसे

---

१ पुर्तगाल के लोगों की अपेक्षा फ्रांसीसियों से हिन्दुस्तानियों का कुछ अधिक सम्पर्क रहा था किन्तु फ्रेंच शब्द हिन्दी में दो चार से अधिक नहीं हैं। यही अवस्था डच भाषा के शब्दों की है।

शब्द दो भिन्न भाषाओं के शब्दांश से बना है। यह बात पहले बताई गयी है कि हिन्दी शब्द के दो अङ्ग दृष्टिगोचर होते हैं एक मूल शब्द या प्रकृति अथवा धातु और दूसरा निर्माणकारी प्रत्यय। 'संकर' शब्दों में एक अङ्ग एक भाषा का और दूसरा दूसरी भाषा का होता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए संकर शब्द दो वर्गों में रखे जा सकते हैं — १ *समस्त संकर शब्द* तथा २ *व्यस्त संकर शब्द*।

१ समस्त संकर शब्द—इस प्रकार के शब्दों का रूपदर्शन दो भाषाओं के शब्दों के समास से बना है। ऐसे शब्दों में एक शब्द विदेशी अवश्य होता है जैसे—हर दिन चीज-वस्तु कागज-पत्र रीति रस्म धन-दौलत मोटा-ताजा धनवान आदि किन्तु जिला-धीश जैसे अपवाद भी मिलते हैं।

२ व्यस्त संकर शब्द—ये शब्द हैं जिनके निर्माण में दो पृथक भाषाओं का सम्मिलित हाथ रहा है किन्तु जो दो मूल शब्दों के समास के कारण नहीं बने। ये शब्द अधिकांशतः प्रत्ययजन्य हैं किन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि इनके प्रत्यय ही विदेशी हों शब्द की प्रकृति या धातु भी विदेशी या अन्य भाषा से सम्बन्धित हो सकती है। कुछ व्यस्त-संकर तो ऐसे भी हैं जिनमें शब्द के दोनों अङ्ग विदेशी हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं पूर्व प्रत्यय और पर प्रत्यय। कुछ शब्दों में पूर्व प्रत्यय हिन्दीतर भाषा के हैं और मूल शब्द हिन्दी के हैं। ऐसे शब्द भी दो प्रकार के हैं १ संस्कृत-पूर्वप्रत्यय वाले शब्द जैसे—सुडौल कुडौल कुचाल सुचाल अजान सुजान कुमार कुढंगा आदि। तथा २ विदेशी-पूर्वप्रत्यय वाले शब्द जैसे—बेढंगा नासमझ बेपर बदचलन बेदम बेमूफ आदि।

दूसरे वे शब्द हैं जिनमें मूल शब्द हिन्दी के हैं और पर-प्रत्यय इतर भाषाओं के हैं जैसे—सराहनीय (संस्कृत प्रत्यय)। इस प्रकार के संकर शब्द अधिकांशतः हिन्दी शब्दों और फारसी पर प्रत्ययों से बने हैं जैसे—

घर+आना = घराना
हाथी+खाना = हाथीखाना
तोप+खाना = तोपखाना
चौकी+दार = चौकीदार (इसी प्रकार थानेदार साझीदार समझदार)
चाल+बाज = चालबाज (इसी प्रकार धोखेबाज लट्ठबाज)
हथियार+बन्द = हथियारबन्द
पान+दान = पानदान (इसी प्रकार थूकदान दीपदान)

इनके अतिरिक्त एक प्रकार के 'संकर' शब्द वे हैं जिनमें मूल शब्द अन्य भाषाओं के हैं और प्रत्यय हिन्दी के हैं। इनके दो भेद हैं —

(i) संस्कृत शब्द + हिन्दी प्रत्यय जैसे— = { पण्डित + आई = पण्डिताई, पण्डित + आऊ = पण्डिताऊ

(ii) फारसी-अरबी शब्द + हिन्दी प्रत्यय जैसे—गरीब + आई = गरीबाई अमीर + आई = अमीराई हकीम + आई = हकीमाई।

कुछ संकर' शब्द ऐसे भी हैं जिनके निर्माण में दो भिन्न विदेशी भाषाओं का योग है अर्थात् जिनका मूल शब्द भी विदेशी और प्रत्यय भी किसी भिन्न विदेशी भाषा का है किन्तु वे हिन्दी-शब्द-भंडार की सम्पन्नता में अमोघ योग दे रहे हैं। अतः उनकी परिगणना हिन्दी-संकरों' में ही होती है जैसे—अंबरदार मोटरखाना आदि।

———

अध्याय ३

हिन्दी ध्वनियाँ तथा परिवर्तन की दिशाएँ

पीछे हिन्दी-शब्द-समूह के अन्तर्गत यह उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी में तत्सम तद्भव और देशी शब्दों के अतिरिक्त विदेशी और संकर शब्दों का प्रयोग भी हो रहा है। इस कारण हिन्दी-ध्वनियों में कुछ विदेशी ध्वनियाँ भी सम्मिलित हो गयी हैं। हिन्दी की नयी-पुरानी ध्वनियाँ निम्नलिखित वर्गों में रखी जा सकती हैं —

१ प्राचीन ध्वनियाँ —

(क) अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ।

(ख) अनुस्वार बिन्दु ( ) तथा चन्द्र बिन्दु ( )

(ग) विसर्ग—

(घ) व्यंजन—

(i) स्पर्श—

कवर्ग—क ख ग घ ङ।

चवर्ग—च छ ज झ ञ।

टवर्ग—ट ठ ड ढ ण।

तवर्ग—त थ द ध न।

पवर्ग—प फ ब भ म।

(ii) अन्तस्थ—य र ल व।

(iii) ऊष्म—श ष स ह।

(iv) संयुक्त व्यंजन—क्ष (क्ष्) त्र (त्र) ज्ञ (ज्ञ)

२ नयी विकसित ध्वनियाँ —

(क) स्वर—अ ए (ऍ) ओ ओ (ऑ)।

इन—ड़, ढ़ ढ़, न्ह म्ह, ल्ह।

१ विदेशी ध्वनियाँ—

(क) फारसी-अरबी ध्वनियाँ—क़ ख़ ग़ ज़ फ़।

(ख) अंग्रेजी ध्वनियाँ—ऑ, ऑ ए, आ।

१ प्राचीन ध्वनियाँ—(क) स्वर—अ इ उ तथा ऋ ह्रस्व स्वर हैं तथा आ ई और ऊ दीर्घ स्वर हैं। 'ऋ' का प्रयोग हिन्दी तत्सम शब्दावली में ही होता है किन्तु उसका उच्चारण संस्कृत 'ऋ' के समान न होकर हिन्दी 'रि' के समान होता है। ए, ऐ, ओ तथा औ हिन्दी के संधि-स्वर हैं। अन्य भाषाओं के सम्पर्क से इनके उच्चारण में भी विविधता आ गयी है। अतएव 'ए' तथा ओ का उच्चारण ह्रस्व जैसे-'एक=(इक) दिन ऐसा होइगा तथा ओह् (= उह्) कहता रह गया' में और दीर्घ जैसे-'चले तो चले पर सिके भी मले' तथा 'होगा हाँ यह काम तुम्हारा' में दोनों प्रकार का होता है। 'ऐ' तथा 'औ' का उच्चारण तत्समों में कभी संस्कृत की भाँति होता है और कभी नयी विकसित स्वर-ध्वनियों की भाँति।

मूलस्वर

यों तो हिन्दी में उक्त सभी स्वर अपने-अपने ढंग से महत्वपूर्ण हैं किन्तु आठ मूलस्वर माने जाते हैं—'अ' 'आ' 'ई' 'ऊ' 'ए' 'ए' 'ओ' और 'ओ'। जीभ के अगले पिछले और बिचले भाग के उठने के सम्बन्ध से तीन भेद माने जाते हैं अग्र पश्च और मध्य स्वर।

अग्र स्वर वे स्वर हैं जिनके उच्चारण में जीभ का अगला भाग उठता है पश्च स्वरों के उच्चारण में जीभ का पिछला भाग ऊपर उठता है और मध्य स्वर के उच्चारण में जीभ का मध्य भाग ऊपर उठता है।

जीभ का अगला पिछला और बिचला भाग भिन्न-भिन्न मात्रा में ऊपर उठता है और मुख द्वार भी अधिक या कम खुलता है, जिससे इन स्वरों के चार भेद किये जाते हैं

(१) विवृत (खुले हुए) —जैसे— 'अ' तथा 'आ'
(२) अर्धविवृत (अधखुले)—जैसे—'ए' तथा 'ओ'
(३) अर्धसंवृत (अधसँकरे)—जैसे—'ए' तथा 'ओ'
(४) संवृत (सँकरे)—जैसे—'ई' तथा 'ऊ'

मध्य स्वर 'अ' पूर्णत विवृत नहीं है।

इसको 'विवृत' और 'अर्ध विवृत' के बीच की स्थिति में ही सम्मिलित कर सकते हैं।

उक्त मूल स्वरों को 'प्रधान स्वर' या 'मान स्वर' भी कहते हैं।

(३) क़ ख़ ग़ ज़ फ़—ये ध्वनियाँ मूलतः विदेशी हैं। इनमें से क़ ख़ ग़ जिह्वामूलीय या अलिजिह्व हैं। ज़' वर्त्स्य संघर्षी है और 'फ़' दन्तोष्ठ्य है। फ़ारसी-अरबी शब्दों में इन सभी ध्वनियों का प्रयोग होता है, किन्तु अंग्रेजी में 'ज़' (Z) और फ़ (f) का ही प्रयोग होता है। उदाहरण ये हैं —

(i) फ़ारसी-अरबी शब्द—क़रीब ख़ाना ख़रगोश ग़म ग़रीब ज़ब ज़मीन फ़क़ीर फ़साद फ़िज़ूल।

(ii) अंग्रेजी शब्द—ज़ेबरा ज़ीरो ज़ेबरा क्रासिंग फ़्रिट फ़ॉस्टर।

ब़—यह ध्वनि भी संघर्षी है। इसके दो प्रयोग हैं एक तो 'बरफ़' में और दूसरा 'अवसान' में। पहला उच्चारण संघर्षी और दूसरा द्वयोष्ठ्य है।

'श' स् और 'ह्' ऊष्म होने के साथ संघर्षी भी हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण में ग़ ज़ आदि की भाँति ही संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है।

(४) य्—व्—

ये दोनों ध्वनियाँ अर्द्धस्वर हैं जो कभी व्यंजनों (ज ब) में बदल जाती हैं और कभी स्वरों (इ, उ) में जैसे—

य्— (i) यमुना ∠ जमुना यज्ञ ∠ जग्य जोग ∠ योग।

(ii) नयन (नैन) ∠ नयन शयन (शैन) ∠ शयन।

व्— (i) वाक्य बकसा ∠ वल्कल विरद ∠ बद बाधास ∠ बाधास।

(ii) गऊ (गौ) ∠ गव अवसर (औसर) ∠ अवसर।

(५) ड़-ढ़—

ये दोनों ध्वनियाँ हिन्दी में सामान्य रूप से प्रयुक्त होती हैं। इनका प्रयोग तत्सम तद्भव देशी विदेशी और 'संकर' सभी प्रकार के शब्दों में होता है किन्तु 'ड़ह' तथा 'ढ़ह' के प्रयोग हिन्दी के अपने हैं जैसे ड़हैट कड़हामी मल्हार आल्हा। ये वास्तव में संयुक्त ध्वनियाँ हैं जो क्रमशः अल्पप्राण ('ड़' 'ढ़') के साथ प्राण ध्वनि के योग से बनी हैं। 'ब्रज' और 'राजस्थानी' में इनका प्रयोग बहुत सामान्य है जिसका प्रभाव हिन्दी-उच्चारणों पर भी पड़ा है।

(६) 'म्ह' 'न्ह'—

'ड़ह' 'ढ़ह' की भाँति दो महाप्राण अनुनासिकों का प्रयोग भी सामान्य है।

वे भी ब्रज और राजस्थानी की विशेषताएँ हैं। कान्हा, कुम्हार आदि में इन्हीं ध्वनियों का प्रयोग होता है।

(७) 'ड़'-'ढ़'—

इन ध्वनियों का भी हिन्दी में विकास ही हुआ है। यह कहना बहुत कठिन है कि इनका विकास संस्कृत की 'ड्' और 'ढ्' ध्वनियों से हुआ है। यह मानना तो उचित ही है कि इनके निर्माण में 'ड्' और 'ढ्' का योग है किन्तु संस्कृत शब्दों में आने वाले ड् और ढ् का योग नहीं है। इनका निकट सम्बन्ध अपभ्रंश में विकसित 'ड्' और 'ढ्' से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'पतन' का ले सकते हैं। इसमें प्रयुक्त ध्वनियों का विकास क्रम इस प्रकार है—

पतन > पडण > पड़ना
क्वाथ > काढ > काढ़ा
पठन > पढण > पढ़ना
ताडन > ताडण > ताड़ना
जटा > जडा > जड़
पाठ > पाढ > पाढ़

इन उदाहरणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि इन ध्वनियों का विकास अपभ्रंश में प्रयुक्त 'ड' और 'ढ' से हुआ है।

(८) स्पर्श संघर्षी—

इन ध्वनियों का प्रयोग हिन्दी में सामान्य स्पर्श-व्यंजनों की भाँति होता है।

(९) संयुक्त ध्वनियाँ – 'क्ष' 'त्र' 'ज्ञ' —

इन ध्वनियों का प्रयोग प्रायः हिन्दी की तत्सम शब्दावली में ही होता है। 'क्ष' का उच्चारण संस्कृत ध्वनि 'क+ष्' की भाँति तद्भवों में कहीं नहीं होता। अधिकांश लोग इसका उच्चारण 'छ्' के रूप में ही करते हैं। 'ज्ञ' का प्रयोग भी हिन्दी तत्समों में ही होता है किन्तु उसका उच्चारण 'ज्+ञ' की भाँति नहीं होता। यह उच्चारण बनारसी है। एक उच्चारण 'ग्+न्' की भाँति होता है जो 'मद्रासी' है। सामान्य लोग तत्समों में भी इसका उच्चारण 'ग्य' की भाँति ही करते हैं। तद्भवों में तो 'ज्ञान' आदि के स्थान पर 'ग्यान' आदि ही लिखा मिलता है और वही उच्चारण होता है।

(१०) विदेशी ध्वनियाँ—

क़ ख़ ग़ ज़ फ़ आदि ध्वनियों के विवरण में इनके विदेशित्व पर प्रकाश दिया गया है। इन ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ स्वर भी विदेशी हैं जैसे 'ऑ'

साँझ ∠ सन्ध्या
माँझ ∠ मध्य
काम ∠ कर्म

(iii) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'इ' हो जाती है जैसे—

छिन (खिन) ∠ क्षण
तिरना ∠ तरण   इमली ∠ अम्लिका
हिरन ∠ हरिण
पहिरा ∠ प्रहर
पहिला ∠ प्रथर

(iv) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'ई' हो जाती है जैसे—

बहेंगी ∠ वहङ्ग
नारंगी ∠ नारङ्ग

(v) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है जैसे—

उंगली ∠ अङ्गुलि
कुटकी ∠ कटुक

(vi) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'ऊ' हो जाता है जैसे—

मूँछ ∠ श्मश्रु

(vii) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है, जैसे—

बेल ∠ वल्लि
तेरह ∠ त्रयोदश
सेज ∠ शय्या
एड़ी ∠ अघ्रि (अंहि)
सेंध ∠ संधि
झेंप ∠ झम्प
घेरना ∠ ग्रहण

सूचना—'अ' अथवा 'आ' जहाँ 'ए' में परिवर्तित हो जाता है वहाँ संभवतः अनार्य प्रभाव ही काम कर रहा है क्योंकि संस्कृत में 'इ' का 'ए' हो जाता है परंतु 'अ' का 'ए' नहीं होता। स्पष्टतः यह अनार्य-पद्धति है। स्वरों की तोड़-फोड़ द्रविड़ भाषाओं में अधिकता से मिलती है जैसे संस्कृत 'काम्य' तमिल में 'कामकेइ' संस्कृत 'माला' तमिल में 'मालेइ' संस्कृत 'चित्रा' तमिल में 'चित्तिरेइ' हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार की तोड़-फोड़ इन भाषाओं के सम्पर्क से भी हुई हो तो आश्चर्य नहीं है। इस प्रकार का परिवर्तन 'कनाडी' भाषा में भी मिलता है। उसमें आ का ए हो जाता है जैसे—संस्कृत 'मंगा'=कनाडी 'मंगे'।

यद्यपि आर्य और अनार्य भाषाओं के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु यह संभव है कि जब आर्य जातियाँ कोल और द्रविड़ों के गहन सम्पर्क में आयीं तब से आर्य भाषाओं में दूसरे स्वरों के प्रचलन की प्रवृत्ति समाविष्ट हो गई। उड़िया और मराठी भाषा के क्षेत्रों के अनेक भागों में अनार्यों का निवास है। 'उड़िया का संपर्क कोलों और तैलिंगों से रहा और मराठी का गोंडों भीलों और कमठों से। गुजरात के आर्यों का सम्पर्क भी अनार्यों से हुआ। राजस्थान भी भील आदि के सम्पर्क से अछूता न रहा। इनसे यहाँ के आर्यों की भाषा भी प्रभावित हुई। इसी प्रकार अनार्य प्रभाव बँगला में भी आया क्योंकि बंगाल के आर्यों का संबंध भी अनेक जंगली अनार्य जातियों से हुआ। इसी से संस्कृत 'स्थापन' से मराठी 'ठेवणे' और संस्कृत—स्थल से 'ठल' बन गया। इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं —

केला ∠ कदली　　　मडक ∠ मडूक
करो ∠ करणो　　　तेरह ∠ त्रयोदश
बेर ∠ बदर　　　परे ∠ पर

प्राकृतों में कयस ∠ कदली, मयगल ∠ मदकल, बयर ∠ बदर होता है। इनमें व्यंजन के स्थान पर 'य' हो गया है।

(viii) कहीं कहीं 'अ' के स्थान पर 'ऐ' हो जाता है जैसे—

नैन ∠ नयन　　　रैन ∠ रजनी　　　बैयन ∠ वचन
निहचै ∠ निश्चय　　　मैन ∠ मदन　　　बैसना ∠ वमन
समै ∠ समय　　　सै ∠ शत　　　पै ∠ परं

(ix) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है जैसे—

बोर ∠ बदर　　　पतोहू ∠ पुत्रवधू
लोण (नौन) ∠ लवण　　　चोंच ∠ चञ्चु
नोमल्लिका ∠ नवमल्लिका
मोर ∠ मयूर
बोकरा ∠ बर्कर

(x) कहीं-कहीं 'अ' के स्थान पर औ हो जाता है जैसे—

चौथा ∠ चतुर्थ　　　जादौ ∠ यादव
व्यौहार ∠ व्यवहार　　　माधौ ∠ माधव
लौंग ∠ लवङ्ग　　　चौदह ∠ चतुर्दश
व्यौसाय ∠ व्यवसाय

(iv) कहीं-कहीं 'इ' के स्थान पर 'उ' भी हो जाता है जैसे—
बिछुआ ∠ वृश्चिक
किछु (कछु) ∠ किंचित्

(v) कहीं-कहीं 'इ' के स्थान पर 'ऊ' हो जाता है जैसे—
ऊख ∠ इक्षु गेरू ∠ गैरिक मेंडूसा ∠ चन्द्रिम
सूखना ∠ खिन्नण

(vi) कहीं-कहीं 'इ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है जैसे—
पेंड ∠ पिण्ड सम ∠ जिम्वा बेल ∠ बिल्व
सेंदुर ∠ सिन्दूर टेढ़ा ∠ तिर्यक

४ ई—

(i) हिन्दी में कहीं-कहीं यह ध्वनि सुरक्षित है, जैसे—
कीड़ा ∠ कीट तीखा ∠ तीक्ष्ण अलसी ∠ अतसी
पानी ∠ पानीय सीस ∠ शीर्ष मस्सी ∠ प्रतीति

(ii) कहीं-कहीं यह ध्वनि ह्रस्व (इ) हो जाती है जैसे—
दिया ∠ दीप सियरो ∠ शीतल पियरो ∠ पीत
पनिया ∠ पानीय पिढ़िया ∠ पीठिका दूसर ∠ द्वितीय
बिउ ∠ बीज गिउ ∠ ग्रीवा पिलई ∠ प्लीहा
रैनि ∠ रजनी किली कील सिउ ∠ शीत

५ उ—

(i) कहीं-कहीं यह ध्वनि सुरक्षित रहती है जैसे—
कुहाड़ा ∠ कुठार कुम्हार ∠ कुम्भकार गुफा ∠ गुहा
कुबड़ा ∠ कुब्जक मुहावन ∠ मुखायन

(ii) कहीं-कहीं हिन्दी में 'उ' के स्थान पर 'ऊ' हो जाता है जैसे—
मूठ ∠ मुष्टि
दूध ∠ दुग्ध
सूखा ∠ शुष्क चूमना ∠ चुम्बन
रूठा ∠ रुष्ट गूजर ∠ गुर्जर मूसना ∠ मुष्णन
पूत ∠ पुत्र टूटा ∠ त्रुटित मूसल ∠ मुषल

(iii) कहीं-कहीं 'उ' के स्थान पर अ हो जाता है जैसे—
बूंद ∠ बिन्दु बटला ∠ वर्तुल साव (साहु) ∠ साधु
बाँह ∠ बाहु कबरा ∠ कर्बुर कुटम ∠ कुटुम्ब
बिजली ∠ विद्युत् मुरंग ∠ सुरङ्गा बाय ∠ वायु

(iv) कहीं-कहीं 'उ' के स्थान पर इ हो जाता है जैसे—
पुरिसा ∠ पुरुष धातु ∠ धातु बिंदिया ∠ बिंदु

(v) कहीं-कहीं 'उ' के स्थान पर 'ई' हो जाता है जैसे—
बिंदी ∠ बिन्दु

(vi) कहीं-कहीं 'उ' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है जैसे—
तोंद ∠ तुन्द पोथी ∠ पुस्तक कोख ∠ कुक्षि
कोढ़ ∠ कुष्ठ मोती ∠ मुक्ता मोठ ∠ मुष्टि
गोंठना ∠ गुण्ठन

६ ऊ—

(i) कहीं-कहीं हिन्दी शब्दों में 'ऊ' सुरक्षित है जैसे—
मूसा ∠ मूषक मूत ∠ मूत्र सून ∠ शून्य रूखा ∠ रूक्ष
पूत ∠ पूर्ण

(ii) कहीं-कहीं 'ऊ' के स्थान पर 'उ' भी हो जाता है जैसे—
घुमी ∠ घूम भुवाल ∠ भूपाल सुखा ∠ शुष्क
महुआ ∠ मधूक सुई ∠ सूचि कुदकना ∠ कूर्दन

(iii) कहीं-कहीं 'ऊ' के स्थान पर ओ भी हो जाता है जैसे—
जत्व (जत्था) ∠ यूथ

(iv) कहीं-कहीं 'ऊ' को 'ए' भी हो जाता है जैसे—
नेवर ∠ नूपुर

(v) कहीं-कहीं 'ऊ' के स्थान पर 'ओ' भी हो जाता है जैसे—
मोल ∠ मूल्य
मोजपत्र ∠ भूर्जपत्र
कोंहड़ा ∠ कूष्माण्ड

७ ऋ—

(i) तत्सम शब्दों के सिवा 'ऋ' कहीं भी हिन्दी में सुरक्षित नहीं है
जैसे मृतक कृपण वृषभ सृष्टि।

(ii) कहीं कहीं 'ऋ' के स्थान पर अ हो जाता है जैसे—बसह ∠
वृषभ, कण्हु ∠ कृष्ण मरा ∠ मृत

हिन्दी में है जैसे—

मत्तिका

(iv) कहीं-कहीं 'ऋ' का परिवर्तन 'इ' में हो जाता है जैसे—
हिय ∠ हृदय सिंगार ∠ शृङ्गार सियार ∠ शृगाल
तिन ∠ तृण मिग ∠ मृग तिसा ∠ तृषा मिट्टी ∠
मृत्तिका मिठा ∠ मृष्ट

(v) कहीं-कहीं 'ऋ' का परिवर्तन 'ई' में हो जाता है जैसे—घी ∠
घृत डीठि ∠ दृष्टि सींग ∠ शृङ्ग पीठ ∠ पृष्ठ
पीठ ∠ पृष्ट गीध ∠ गृध्र बीछू ∠ वृश्चिक
भतीजा ∠ भ्रातृज माई ∠ मातृ

(vi) कहीं-कहीं 'ऋ' का परिवर्तन 'उ' में हो जाता है जैसे—बुटा ∠
वृष्ट मुआ ∠ मृतक पुट्ठा ∠ पृष्ठ पुहमी ∠ पृथिवी
सुरति ∠ स्मृति

(vii) कहीं-कहीं 'ऋ' का परिवर्तन 'ऊ' में हो जाता है जैसे—बूठा ∠
वृष्ट रूख ∠ वृक्ष भाऊ ∠ भ्रातृ

(viii) कहीं-कहीं 'ऋ' का परिवर्तन 'ए' में भी हो जाता है, जैसे—बट ∠
वन्त गेह ∠ गृह देखना ∠ दृश्

(ix) कहीं-कहीं 'ऋ' का रि या 'री या 'र हो जाता है जैसे—
रिख ∠ ऋक्ष रितु ∠ ऋतु रीछ ∠ ऋक्ष सरीखा ∠
सदृश रसी ∠ ऋषि

८ ए—यह ध्वनि हिन्दी में विशेष परिवर्तन को प्राप्त नहीं हुई। फिर भी हिन्दी में इसकी दो ध्वनियाँ मिलती हैं एक दीर्घ और दूसरी ह्रस्व। 'खेल' में 'ए' दीर्घ है और 'एक दिन ऐसा होयगा मैं कधू गी तोहि' में 'एक की 'ए' ध्वनि ह्रस्व है। इसी प्रकार—"एक (इक) बार नजर को फेर चले तो तुम्हें जमाना चूकेगा" में 'एक' की 'ए' ध्वनि भी ह्रस्व ही है।

९ ऐ—(i) 'ऐ' का प्रयोग प्रायः तत्सम शब्दों में होता है।

(ii) हिन्दी में आने से पहले ही 'ऐ' ने 'ए' रूप में प्रयुक्त होने की प्रवृत्ति ग्रहण करली थी। हिन्दी में संस्कृत 'ऐ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है जैसे—

देरू ∠ गैरिक केवल ∠ कैवर्त

(iii) कहीं-कहीं संस्कृत 'ऐ' को हिन्दी में 'अइ' या 'अई' रूप मिल गया है जैसे—मइत्री ∠ मैत्री बइर ∠ वैर दइत ∠ दैत्य कइलास ∠ कैलास

१० ओ—(i) हिन्दी में 'ओ' प्राय सुरक्षित रहा है जैसे—
जोत ∠ ज्योति कोई ∠ कोऽपि सोई ∠ सोऽपि
लामा ∠ दोमक ढोरा ∠ ढोरक

(ii) कहीं-कहीं 'ओ' का 'औ' हो जाता है जैसे—
कौली ∠ क्रोड।

(iii) कहीं-कहीं 'ओ' के स्थान पर 'उ' या 'ऊ' हो जाता है जैसे—मुच ∠ मोच घूमना ∠ घोणन चुराना ∠ चोरित

(iv) कहीं-कहीं 'ओ' का 'ए' भी हो जाता है जैसे—
गेहूँ ∠ गोधूम

११ औ—

हिन्दी के तद्भव शब्दों में संस्कृत का 'औ' सुरक्षित नहीं रहा है।

(i) इसके स्थान पर प्राय 'ओ' हो जाता है, जैसे—मोती ∠ मौक्तिक पोता पौत्र जोबन ∠ यौवन गोरी ∠ गौरी चोरी ∠ चौर्य मासी ∠ मौसिक।

(ii) कहीं-कहीं हिन्दी तद्भवों में 'औ' का 'अउ' या 'अऊ' हो जाता है जैसे—नउका ∠ नौका

सूचना—(i) स्वर-परिवर्तन कुछ भौगोलिक प्रवृत्तियों पर भी आधारित है। हिन्दी के दो रूप ही प्रतिष्ठित हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पूर्वी हिन्दी में ह्रस्व स्वरों की प्रधानता है और पश्चिमी दीर्घस्वर-बहुला है।

सं०	पूर्वी हिन्दी	पश्चिमी हिन्दी
वत्स	बच्चा	बाछा
करण्ड	करंडा	करामदा
वर्तिका	बती	बाती
मस्तक	मथाम	माथा
लघुक	हलका	हालका
पट्ट	पट्टा	पाटा
पक्व	पका	पाका
कम्बल	कमरा	कामरा

(ii) शब्द के बीच में आने वाला 'प' हिन्दी में 'व' में बदल जाता है जैसे—कपर्द 7 कवड्ड 7 कौड़ी (क + अ + उ + ड़ी)
वपन 7 बवन 7 बोना।

(iii) मध्य 'म' भी अपने स्थान पर उ छोड़ जाता है जैसे—वामन ∠ बौना

स्वर-परिवर्तन सामान्य स्वरूप

स्वर-परिवर्तन के इन रूपों को हम तीन प्रमुख वर्गों में रख सकते हैं आगम लोप और विपर्यय। आदि मध्य और अन्त्य के सम्बन्ध से ये तीनों वर्ग भी तीन उपवर्गों में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक वर्ग और उपवर्ग को उदाहरणों द्वारा नीचे समझाया गया है —

स्वरागम

जहाँ शब्द के आदि मध्य या अन्त में कोई स्वर बढ़ जाता है वहाँ स्वरागम होता है।

(क) आदि-स्वरागम

अनहान या असनान = (स्नान) अपरबल = (प्रबल), अलोप = (लोप) अस्तुति = (स्तुति) अस्पष्ट = (स्पष्ट) आदि।

(ख) मध्य स्वरागम

जहाँ शब्द के मध्य में किसी स्वर का आगम होता है वहाँ मध्यस्वरागम होता है। इसका कारण आलस्य अज्ञान या उच्चारण-सौकर्य होता है। धरम (धर्म) करम (कर्म) परजा (प्रजा), रकत (रक्त) भगत (भक्त) कलप (कल्प) जनम (जन्म) बरम (वर्म), मुगति (मुक्ति) कीरति (कीर्ति) बिसवास (विश्वास) जतन (यत्न) रतन (रत्न) नछतर (नक्षत्र) मोतर मोता (मोक्ष) पोतर (पौत्र) करन (कर्ण) परब (पर्व) परसना (स्पर्शन) कारज (कार्य) सराहना (श्लाघा) कलेस (क्लेश) तिरिया (स्त्री) गिरहन (ग्रहण) पिरीति (प्रीति) पिरानी (प्राणी), परकार (प्रकार) पिराजन (प्रयोजन) भरम (भ्रम) बरीस (वर्ष) सिरी (श्री) हिरी (ह्री) आदि।

मध्य स्वरागम से प्राय दो संयुक्त व्यंजन वियुक्त हो जाते हैं जिससे उच्चारण सुकर बन जाता है।

(ग) अन्त-स्वरागम—

अन्त-स्वरागम वहाँ होता है जहाँ शब्द के अन्त में स्वर की बढ़ती हो जावे। प्राय सभी कालों की भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों में अन्त के स्वर और व्यंजन का लोप तो पाया जाता है किन्तु आगम नहीं पाया जाता। कुछ विद्वानों ने 'बहू' 'भस्सा' के उदाहरणों से अन्त-स्वरागम को सिद्ध किया है किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। हाँ संस्कृत के कुछ हलन्त शब्द हिन्दी-मेनम में प्राय अकारान्त हो गये हैं जैसे—महान (महान्) भगवान (भगवान्) आदि।

अनुनासिक स्वर

हिन्दी में दो प्रकार की अनुनासिकता दृष्टिगोचर होती है अकारण अनुनासिकता तथा सकारण अनुनासिकता ।

अकारण-अनुनासिकता

अनुनासिकता की यह स्थिति वहाँ होती है जहाँ इसके लिए कोई कारण विद्यमान नहीं होता जैसे—

सीत ∠ सिक्ति प्रोस ∠ अक्षि काँग ∠ कुक्ति जोबना ∠ याचना साँप ∠ सर्प पाँच ∠ पात्र छाँह ∠ छाया साँच ∠ सत्य साँस ∠ श्वास आँसू ∠ अश्रु ।

सकारण अनुनासिकता

जहाँ अनुनासिकता के लिए कोई कारण विद्यमान होता है वहाँ सकारण अनुनासिकता होती है । सकारण अनुनासिकता किसी अनुनासिक व्यंजन (ङ ञ ण् न् म्) की उपस्थिति से होती है । इसके मूलतः दो कारण होते हैं (१) एक *तो यह तब होती है जब सानुनासिक वर्ण पाँच स्पर्श अनुनासिकों में से कोई एक* हो जैसे माँठा ∠ मट्ठ (देशी) मूठ ∠ मुष्टि नीठ ∠ निष्ठा नींद ∠ निद्रा । (२) दूसरे, यह तब होती है जब प्रा० भा आ० भाषा के किसी शब्द के मध्य में संयुक्त व्यंजन आता है और उनमें से एक स्पर्श-वर्ग का कोई पंचम वर्ण या अनुना*सिक व्यंजन होता है । इस दशा में हिन्दी में संयुक्त व्यंजन में से अनुनासिक स्पर्श* लुप्त हो जाता है और पूर्व वर्ण सानुनासिक हो जाता है । जैसे—कूँड़ा ∠ कुण्ड सूँड़ ∠ शुण्ड काँटा ∠ कण्टक पाँडे ∠ पण्डित खाँड ∠ खण्ड साँड़ ∠षण्ड राँड़ ∠ रण्डा चोंच ∠ चञ्चु, माँझा ∠ मञ्ज भूँजना ∠ भुञ्जन पीढ़ ∠ पिण्ड चाँद ∠ चन्द्र, पाँती पंक्ति बैंट ∠ वृन्त सोंठ ∠ शुण्ठि ।

इन दोनों प्रकार की अनुनासिकता में एक बात तो यह देखने में आती है कि इसका आधार संयुक्त व्यंजन से पहले का वर्ण होता है और दूसरी बात यह कि इसका आधार स्वर हिन्दी में दीर्घत्व या गुरुत्व को प्राप्त हो जाता है जैसे—*राँड ∠ रण्डा और चोंच ∠ चञ्चु में ।*

कभी-कभी सादृश्य के नियम से भी अनुनासिकता आ जाती है जैसे पैंतीस ∠पञ्चत्रिंशत् के सादृश्य पर सैंतीस ∠ सप्तत्रिंशत् ।

उक्त स्वर-परिवर्तनों को देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

१ प्रा० भा आ भाषा के आदि अक्षर के स्वर हिन्दी में प्रायः सुरक्षित हैं ।

२ आदि स्वर (मध्) पर स्वराघात न होने पर उसमें विकास हुआ है और अनेक उदाहरणों में आदि 'अ' लुप्त भी हो गया है जैसे— भीतर ∠ अभ्यन्तर रीठा ∠ अरिष्ट सौंधी ∠ असाधु।

३ आदि व्यंजनयुक्त 'अ' हिन्दी में सुरक्षित है जैसे कहना ∠ कथन बड़ा ∠ भट अगरी ∠ सब।

४ प्रा० भा० आ० भाषा के किसी शब्द में संयुक्त व्यंजन से पूर्व आने वाला 'अ' (ह्रस्व) 'आ' (दीर्घ) हो जाता है जैसे— पाक ∠ पक्व, काम ∠ कर्म घाम ∠ घर्म काज ∠ कार्य।

५ उक्त प्रकार में संयुक्त व्यंजन में से एक के अनुनासिक होने पर तथा उसके लुप्त हो जाने पर 'अ' कभी-कभी 'आं' में बदल जाता है जैसे— आँत ∠ अन्त्र दाँत ∠ दन्त पाँती ∠ पंक्ति।

६ प्रा० भा० आ० भाषा के कुछ शब्दों के अन्त में 'कार' पद आता है। यदि 'कार' पद से पूर्व संयुक्त व्यंजन में ह्रस्व 'अ' हो तो 'कार' का 'क' लुप्त होकर म त्ता प्रा० भाषा में केवल 'आ' रह जाता है जो ह्रस्व 'अ' में मिल कर भी दीर्घ 'आ' बना रहता है जैसे— चमार ∠ चर्मकार ∠ चर्मकार सुनार ∠ कुम्भकार ∠ स्वर्णकार।

७ प्रा० भा० आ० भाषा के शब्दों का आदि 'आ' हिन्दी तद्भवों में प्राय सुरक्षित है जैसे— काम ∠ कर्म आरसी ∠ आदर्शिका आलू ∠ आलुक मासा ∠ माशा।

८ कहीं-कहीं शब्द के आदि या आद्यक्षर में रहने वाला 'आ' अपने बाद संयुक्त व्यंजन होने पर हिन्दी में ह्रस्व हो जाता है जैसे- अपना ∠ आत्मन बखान ∠ व्याख्यान।

९ कहीं-कहीं शब्दों में आदि में स्वराघात के अभाव से 'आ' निर्बल होकर 'अ' हो गया है जैसे—प्रसाद ∠ आपात अहेर ∠ आखेट बनारस ∠ वारा णसी अचरज ∠ आश्चर्य।

१० दो शब्दों के समस्त पद में यदि पहला पद दो व्यंजनों का हो और उसमें से पहला वर्ण दीर्घ हो तो हिन्दी में वह ह्रस्व हो जाता है जैसे—बतकही ∠ वार्ताकथा कठफोड़वा ∠ काष्ठस्फोटक।

११ प्रा० भा० आ० भाषा के शब्द के आदि अक्षर के 'इ' 'ई' के पश्चात् असंयुक्त व्यंजन आने पर हिन्दी में 'इ' 'ई' सुरक्षित हैं जैसे—बिहान ∠ विभात कीड़ा ∠ कीटक खीर ∠ क्षीर।

१२ प्रा० भा० आ० भाषा के शब्दों में आने वाला 'इ' या 'ऋ' ध्वनियों के पश्चात् संयुक्त व्यंजन आने पर हिन्दी में स्वर दीर्घ रहता है जैसे— जीभ ∠ जिह्वा भीख ∠ भिक्षा सीख ∠ शिक्षा ईंट ∠ इष्ट भीख ∠ भिक्षा।

१३ आदि अक्षर में स्वराघात के अभाव में 'इ' सुरक्षित रहता है जैसे—निठुर ∠ निष्ठुर निकास ∠ निष्कास बिनती ∠ विज्ञप्ति।

१४ प्रा० भा० आ० भा० के शब्दों के असंयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती 'उ ऊ' हिन्दी में सुरक्षित हैं जैसे— छुरी ∠ क्षुरिका पुराना ∠ पुराण गुफा ∠ गुहा कुम्हार ∠ कुमार जूड़ा ∠ जूटक धूम ∠ धूमि।

१५ प्रा० भा० आ० भाषा के संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती आदि एवं आदि अक्षर के उ-ऊ हिन्दी में सुरक्षित है जैसे— कुम्भ ∠ कुम्भ उजला ∠ उज्ज्वल उछाह ∠ उत्साह मूत ∠ मूत्र दूब ∠ दूर्वा।

१६ प्रा० भा आ० भाषा के शब्दों के आदि या आदि अक्षर का 'उ' हिन्दी में कहीं-कहीं 'ऊ' भी हो गया है जैसे— ऊंचा ∠ उच्च ऊंट ∠ उष्ट्र मूंठ ∠ मुष्टि रूठा ∠ रुष्ट दूध ∠ दुग्ध।

१७ प्रा० भा० आ० भाषा के शब्दों के प्रथमाक्षर में रहने वाली 'इ और 'उ' ध्वनियाँ बाद में संयुक्त व्यंजन होने पर हिन्दी में गुणत्व को प्राप्त हो जाती है जैसे—खेत ∠ क्षेत्र बेल ∠ बिल्व पोखर ∠ पुष्कर कोढ़ ∠ कुष्ठ।

१८ प्रा० भा० आ० भाषा का आदि अक्षरगत 'ऐ' हिन्दी में प्राय 'ए' हो गया है जैसे—केवट ∠ कैवर्त किन्तु बैल ∠ बैल बैर अपवाद भी मिलते है।

१९ प्रा० भा० आर्य भाषा के शब्दों के आद्यक्षर की 'ए' ध्वनि हिन्दी में सुरक्षित है जैसे—केवड़ा ∠ केतक जेठ ∠ ज्येष्ठ सेज ∠ शैय्या सेठ ∠ श्रेष्ठी।

२० प्रा० भा० आर्य भाषा का 'औ' हिन्दी में प्राय 'ओ' हो गया है जैसे— गोरी ∠ गौरी चोरी ∠ चौरिका कोसी ∠ कौशिकी।

२१ असंयुक्त व्यंजन से पूर्व का आद्यक्षर में रहने वाला 'ओ' हिन्दी में सुरक्षित है जैसे— घोड़ा ∠ घोटक तिकोना ∠ त्रिकोण थोड़ा ∠ स्तोक कोठा ∠ कोष्ठक होठ (ओठ) ∠ ओष्ठ।

२२ शब्दान्त या पदान्त स्वर हिन्दी में लुप्तप्राय है यद्यपि वे लिखने में आते है किन्तु उच्चारण में उनका लोप हो चुका है जैसे—पूत ∠ पुत्र राम् ∠ रामः सीप् ∠ शुक्ति रात् ∠ रात्रि।

१ शब्दान्त के ह्रस्व स्वर हिन्दी के कुछ शब्दों में दीर्घ होकर सुरक्षित है, जैसे— हिया ∠ हृदय मुआ ∠ मृत।

२४ प्रा० भा० आ० भाषा के पदान्त के बीच स्वर हिन्दी में कहीं-कहीं सुरक्षित हैं जैसे— बहू < वधू माई < स्वामी रानी < राज्ञी पानी < पत्नी बरती < भरिता।

व्यंजन—परिवर्तन

अन्यत्र कहा जा चुका है कि हिन्दी में पाँच प्रकार की शब्दावली मिलती है 'तत्सम' 'तद्भव' देशी' 'विदेशी' और संकर'। पीछे इन शब्दों का विवद विवेचन किया जा चुका है। उच्चारण सम्बन्धी ध्वनि विशेषताओं का उल्लेख भी पीछे किया जा चुका है। परिवर्तन की दृष्टि से यहाँ तत्सम शब्दों की भी मीमांसा अनुपमानी ही होगी। देशी और विदेशी शब्द भी उच्चारण प्रक्रिया की दीर्घ प्रणाली में बढ़कर एक प्रकार से तद्भव जैसे हो बन गए है। किसको पता था कि 'अक्सफोर्ड' किसी उच्चारण प्रयोगशाला में 'अक्सफोड' हो जायेगा और मुख 'बबकूफ' के हिमायतियों का भी क्या पता था कि वह कितने ही लोगों की वाणी के साँचे में 'बेकूफ हो जायगा'। 'टीका' होने के पूर्व टिक्क' (द०) को भी क्या पता था कि हिन्दी-जगत् में उसको इतना सम्मान मिलेगा। 'टिप्पी' (द०) ने भी पर्याप्त भाग दौड़ की किन्तु 'टीप'-परिवर्तन से आज उसके रूप की मस्ति न हुई। अंग्रेजी का 'ज्वाइन्ट' 'जट' बन कर भी अपने भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त न हुआ और उसे 'संट' का रूप भी स्वीकार करना पड़ा। एक ओर संस्कृत 'तपन' ने प्राकृत में अपना रूप तवण धारण किया और इधर 'तवणी (दे०) उसके मुकाबले में खड़ी हो गई। एक ने सूर्य' के रूप में जलाया और दूसरे ने 'तई' के रूप में पक कर भी पुए पकवान दिये। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-भाषा में जिन शब्दों का प्रयोग हो रहा है उनके ध्वनि-परिवर्तन की भी एक रोचक कहानी है। हिन्दी शब्दों की ऐतिहासिक भूमिका में हम दो प्रकार की व्यंजन-ध्वनियाँ देखते हैं असंयुक्त व्यंजन तथा संयुक्त व्यंजन। पहले असंयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन की मीमांसा प्रस्तुत की जाती है।

शब्दगत व्यंजनों के स्वरों के समान सामान्यतया तीन स्थान माने गए हैं— आदि-व्यंजन मध्य-व्यंजन तथा अन्त-व्यंजन। कहा जा चुका है कि तत्सम व्यंजनों में किसी परिवर्तन की कल्पना व्यर्थ होगी। उसी प्रकार अर्द्ध तत्सम शब्दों का भाषा शरीर परिवर्तन-मुक्त है।

परिवर्तन-प्रक्रिया—

१ तत्सम शब्द हिन्दी में अपरिवर्तित रहते हैं जैसे—कमला कन्या मूषक गिरि चकोर चन्दन जीवन मान पाद रुचिर बल्सरी आदि।

२ तद्भव शब्दों का आदि-व्यंजन भी प्रायः अपरिवर्तित रहता है जैसे—

कंगाल ∠ कङ्काल
कंगन ∠ कङ्कण
पलंग ∠ पर्यङ्क

(ii) त=द

पदन ∠ पतन
पदाति ∠ पदाति
दादा ∠ तात
दामाद ∠ जामाता

११ कभी-कभी शब्द के मध्य में आने वाले 'च' का 'ज' और 'ट' का 'ड' भी हो जाता है किन्तु कम जैसे—

(i) च=ज

कुंजी ∠ कुञ्चिका
काज ∠ काच

(ii) ट=ड

कीड़ा ∠ कीट
रड़ना ∠ रटन
कपड़ा ∠ कर्पट
कड़ाह ∠ कटाह
बड़ ∠ वट
घड़ा ∠ घट
जोड़ा ∠ योटक

सूचना—कभी इस प्रकार के 'ट' के स्थान पर 'र' भी हो जाता है जैसे—

विरवा ∠ विटप   मौर ∠ मुकुट   निअर ∠ निकटे

१२ शब्द के मध्य में आने वाला 'प' परिवर्तन-प्रक्रिया में 'व' या 'ब' पर ही न रुककर हिन्दी में 'ओ' या 'औ' में बदल जाता है जैसे—

सोना ∠ सिविण ∠ स्वपन
आना ∠ अप्पणं ∠ अर्पण
भौंह ∠ भवह भउह ∠ भ्रूपक
कौड़ी ∠ कउडी कवडी ∠ कपर्दिका
ताव ∠ ताव ∠ ताप
सौत ∠ सवत्ती ∠ सपत्नी

१३ कहीं-कहीं हिन्दी में शब्द के मध्य में आने वाले 'ज' के स्थान पर य हो जाता है जैसे—

गय ∠ गज
रयन ∠ रजनी
गयंद ∠ गजेन्द्र

१४ कहीं-कहीं शब्द के मध्य में आने वाले 'क' का लोप मिलता है जैसे—

कोयल ∠ कोकिल
सुनार ∠ स्वर्णकार
कुम्हार ∠ कुम्भकार
मौर ∠ मुकुल
नेवला न्यौला ∠ नकुल
नारियल ∠ नारिकेल

१५ क की भांति कहीं-कहीं मध्यगत 'ग' का भी लोप मिलता है जैसे—

दूना ∠ द्विगुण
नेर ∠ नगर
सौंध ∠ सुगन्ध
बहिन ∠ भगिनी

१६ कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों के मध्य में आने वाले 'च' और 'त' भी लुप्त हो जाते हैं जैसे—

सुई ∠ सूचि   मौ ∠ मत
पोना ∠ पवन   मूग ∠ मुद्ग

१७ कहीं-कहीं मध्यगत 'ज' का भी लोप हो जाता है जैसे—

राउ ∠ राजा
राउल ∠ राजकुल
राउत ∠ राजपुत्र
रैन ∠ रजनी

१८. कहीं-कहीं हिन्दी में संस्कृत के मध्यगत 'त' का लोप हो जाता है जैसे—

पीहर ∠ पितृगृह
माऊ, माई ∠ मातृ
बाउ ∠ वात
सौ सउ ∠ शत
सई ∠ सती
नाई नाऊ ∠ नापित

१९ इसी प्रकार 'द' का भी लोप मिलता है जैसे—

खाता	∠	खादन
रोना	∠	रोदनं
हिया	∠	हृदय
केला	∠	कदली

२० मध्यवर्ती 'प' का लोप भी कहीं-कहीं मिलता है जैसे—

पाना	∠	प्रापनं
कुआ	∠	कूप
प्यासो प्यासा	∠	पिपासु
दिआ (दिया)	∠	दीपक

सूचना—जहाँ 'ट' और 'ड' का उद्भव संस्कृत शब्दों में आने वाले ष्ट ड्र र्त और र्द से हुआ है, वहाँ उनका लोप नहीं होता क्योंकि वे पहले से ही विकास की दूसरी भूमिका पर हैं। हाँ 'ड' कभी-कभी 'ड़' में बदल जाता है जिसको 'र' से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है, जैसे—

कपड़ा	∠	कप्पड	∠	कर्पट
तिमड़म	∠	तिकट्ट	∠	त्रिकुट
छकड़ा	∠	छकड	∠	शकट

२१ कहीं-कहीं हिन्दी में 'ल' के स्थान पर 'र' हो जाता है जैसे—

कारो साँप	∠	काल सर्प
बार	∠	बाल
पार	∠	पालि
सारा (साला)	∠	श्यालक
स्यार	∠	शृगाल

२२ मध्यवर्ती 'व' अपने लोप के समय अपने स्थान पर 'उ' छोड़ जाता है जो अपने पूर्ववर्ती 'अ' से संधि करके 'ओ' या 'औ' रूप धारण कर लेता है जैसे—

ओकास	∠	अवकाश
औतार	∠	अवतार
ओसान	∠	अवसान

सूचना—यह स्थिति तब होती है जब 'व' 'अव'—उपसर्ग का अङ्ग होता है। अप से बिगड़े हुए 'अव' में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसे—

छमी < क्षमी
समुहा < सम्मुख
छिहत्तर < षट्सप्तति
छोहा छोरा < शावक
छुवना छूना < स्पर्शन

२६ क्ष हिन्दी में 'छ' या 'ख' में बदल जाता है जैसे—

(i) छिमा < क्षमा
पछारना < प्रक्षालन
छार < क्षार
छत्री < क्षत्रिय
छुरी < क्षुरिका
छोह < क्षोभ
छुधा < क्षुधा
छीन < क्षीण
रच्छा < रक्षा

(ii) खेत < क्षेत्र , कोख < कुक्षि
खीर < क्षीर माखी < मक्षिका
खत्री < क्षत्रिय राखना < रक्षण
खार < क्षार सीखना < शिक्षण
पखारना < प्रक्षालन सीख < शिक्षा
खुरा < क्षुर
खुरपा < क्षुरप्र
खून (हानि) < क्षुण
खेती < क्षेत्रिन्
खेपा < क्षेपक

२७ संख्यावाचक शब्दों के बीच में आकर 'च्' कहीं-कहीं 'ए' हो जाता है जैसे-

इकतालीस < एकचत्वारिंशत्
पैंतालीस < पञ्चचत्वारिंशत्
सैंतालीस < सप्तचत्वारिंशत्

२८. मध्य 'श्च्' का 'च्छ्' हो जाता है जैसे—

पच्छिम < पश्चिम
पछताना < पश्चाताप
पीछे, पाछे < पश्चात्

२१ मध्य 'त्स्य' का भी 'च्छ्' हो जाता है जैसे—

मच्छ, माछ ∠ मत्स्य

वाच्छायन ∠ वात्स्यायन

सूचना—मध्यगत 'त्स्' के स्थान पर हिन्दी में 'छ्' हो जाता है जैसे—

बछा बाछा ∠ वत्स

बछल ∠ वत्सल

१ 'ण'-'न' त—'ट' 'ड' तथा 'ढ' —

(१) 'त' का 'ट' बहुत कम होता है जैसे—पाटन ∠ पत्तन ।

(२) 'ड' चाहे मूल तत्सम से आया हो और चाहे 'त' के कोमलीकरण से बना हो प्रायः 'ड़' में बदल जाता है जैसे—

पड़ना (पड़ना) ∠ पतन

डाढ़ ∠ दाढ़

डसना ∠ दंश

डाढ़ (दाढ़) डाढ़ी (दाढ़ी) ∠ दंष्ट्रिका

डर ∠ दर

डली ∠ दलित (दल)

मोड़ना ∠ मोटन

डोला ∠ दोला

डोसना ∠ दोसन

डंड ∠ दण्ड

डाँड़ना ∠ दण्डन

(३) हिन्दी में संस्कृत और प्राकृत के 'ण' का परिवर्तन 'न' में हो जाता है जैसे—

कंगन ∠ कङ्कण

पनाली ∠ प्रणाली

कन ∠ कण

गिरना ∠ गरण

मरना ∠ मरण

भरना ∠ भरण

हरना ∠ हरण

हिरन ∠ हरिण

११ 'थ' के साथ संयुक्त 'स्' लुप्त हो जाता है जैसे—

थाम थामा ∠ स्थाम
थापना ∠ स्थापना
थित ∠ स्थित
थिर ∠ स्थिर
थाली ∠ स्थाली
थल ∠ स्थल
थन ∠ स्थन

१२ 'ड' का 'ल' हो जाता है जैसे—

खलना ∠ क्रीडन
पैलना ∠ पीडन
तलाव ∠ तडाग
बेला ∠ बेटक
सोलह् ∠ षोडश

१३ कहीं-कहीं हिन्दी में 'य' का 'ठ' हो जाता है जैसे—

साठी ∠ यष्टि

१४ कहीं-कहीं 'द' का भी 'ल' हो जाता है जैसे—

मलना ∠ मर्दन

१५ कहीं-कहीं 'ल' का 'र' हो जाता है, जैसे—

कारी ∠ काल
थार ∠ स्थाल
थर स्थल
तार ∠ ताल
मरुयो ∠ पलित
मर् ∠ ज्वल
परल ∠ पटल

सूचना—अनेक शब्दों में 'र' और 'ल' का अभेद मिलता है जैसे—

करिया = कलिया
महुरी महरिया = महिला
केरा = केला

कपार = कपाल
फार = फाल

३६ कहीं-कहीं 'र' का 'ल' हो जाता है जैसे—

पलंग ∠ पर्यङ्क

३७ कभी-कभी 'ठ' का 'ड़' या 'र' हो जाता है जैसे—

तिवाड़ी तिवारी ∠ त्रिपाठी

३८ कहीं-कहीं 'न' का 'ल' हो जाता है जैसे—

लंगोटी ∠ नग्नपटी
लंगोट ∠ नग्नपट
लोन ∠ नोन
लैना ∠ नयन

३९ कहीं-कहीं 'य' का 'ज' हो जाता है, जैसे—

जान ∠ यान (बरात)
जोग ∠ योग्य
जोता ∠ योग
काज कारज ∠ कार्य

४० (i) 'व' के स्थान पर हिन्दी में प्राय: 'ब' का प्रयोग होता है जैसे—

बरात ∠ व्रात
बगला ∠ बक
बसन ∠ वसन
निवास ∠ निवास
सब ∠ सर्व

(ii) कहीं-कहीं हिन्दी शब्दों में 'व' के स्थान पर 'म' या 'उ' मिलता है, जैसे—

बीम जीउ जिमा जिउ ∠ जीव
देउ देम ∠ देव

(iii) संख्यावाचक शब्दों के मध्य में आने वाला 'वि' हिन्दी शब्दों में 'ई' हो जाता है, जैसे—

बाईस ∠ द्वाविंशत् पच्चीस ∠ पञ्चविंशत्

४१ ङ ञ ण न म —

इनके सम्बन्ध में पीछे 'सूचना' में विस्तार से कह दिया गया है। इनके सम्बन्ध में विशेष बातें ये हैं—

(i) हिन्दी की तद्भव शब्दावली में शब्द के आदि और अन्त में 'ङ' और 'ञ' का प्रयोग कहीं नहीं होता।

(ii) 'ण' का प्रयोग शब्द के मध्य और अन्त में प्रायः तत्सम शब्दों में ही होता है।

(iii) हिन्दी-तद्भव शब्दों के मध्य और अन्त में 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग ही होता है।

(iv) राजस्थानी और पंजाबी में जो हिन्दी की निकटवर्ती भाषाएं हैं शब्द के अन्त का 'न्' 'ण' में बदल जाता है जैसे—खेलना=खेलणा, बना=बणा आदि में।

(v) 'न्' और 'म्' का प्रयोग शब्द के आदि मध्य और अन्त में बड़ी छूट से होता है किन्तु 'म्' अपनी मात्रा में बहुत बदल जाता है। 'म्' के दो रूप हैं—एक तो ओष्ठ्य वर्ण का और दूसरा अनुनासिक का। ओष्ठ्य के सम्बन्ध से इसका मध्य और अन्त्य स्वरूप हिन्दी में 'व्' हो जाता है कहीं-कहीं इसकी यह स्थिति इसे 'उ' का रूप भी दे देती है जैसे—ग्राम 7 गाँव गाँउ सम 7 सँव सँउ (सौं) और अनुनासिक के सम्बन्ध से इसका पूर्वाक्षर सानुनासिक हो जाता है। नीचे के उदाहरणों में म=व तथा पूर्व वर्ण की सानुनासिकता देखिये—

आमलक 7 आँवला
नाम 7 नाँव
ग्राम 7 गाँव
श्यामल 7 साँवला
कुमार 7 कुँवर
कमल 7 कँवल
कोमल 7 कोँवल
जामातृ 7 जँवाई
भ्रमर 7 भँवर (भौंर)
स्वामिन् 7 साँई
गोस्वामिन् 7 गुसाँई

(vi) ओष्ठ्य 'म्' के स्थान पर कई बार 'मँ' अथवा 'माँ' हो जाता है, जैसे—

रोम 7 रोमँ रोमाँ
धूम 7 धुमाँ

५२ श, ष, स—

(i) कहीं-कहीं इन वर्णों के स्थान पर 'ह' हो जाता है जैसे—

केसरी 7 कहरी एकादश 7 ग्यारह
पशु 7 पोहा द्वादश 7 बारह
मसि 7 महि है।

(ii) हिन्दी शब्दों में कहीं-कहीं 'ष' के स्थान पर 'ख' मिलता है। यह स्थिति राजस्थानी और पंजाबी में भी है जैसे—

भाषा 7 भाखा
वर्षा 7 बरखा बिरखा
हर्ष 7 हरख
मेष 7 मेख
विष 7 बिख
पाषाण 7 पखान
षटकोण 7 खटकोन

५३ ह—

(i) हिन्दी में 'ह' बहुत महत्वपूर्ण वर्ण है। प्रायः इसका विरोध नहीं होता जैसे—

सहस्र 7 सहस्सो सहसो
सिंह 7 सीह
रोहिणी 7 रोहिनी

(ii) कहीं-कहीं ह अकारण ही शब्द के बीच में आ घुसता है जैसे—
मन = महन (मगन)

चासस्य 7 चूहन (चौन)

(iii) सघोष महाप्राण के विकार के रूप में भी ह बना रहता है जैसे—

ख— मुख 7 मुंह
आखेटक 7 अहेरी
सखी 7 सही

घ— मेघ 7 मेह
श्लाघन 7 सराहना
अरघट्ट 7 अरहट रहट
शोभन 7 सोमहन सुहाना

थ = शपथ > सौंह
गाथा > गाहा
कथन > कहना
मथन > महन

ध = बधिर > बहरा बहिरा
दधि > दही
साधु > साहु
वधू > बहू
गोधूम > गोहूँ गेहूँ
गोध > गोह

भ = गभीर > गहिरा गहरा
आभीर > अहीर
भाण्ड > हंड हंडा हांडी
शुभ > सुह
शोभन > सोहना
सौभाग्य > सुहाग
लभन > लहना

ठ = बहुत थोड़े उदाहरण ऐसे हैं जिनमें 'ठ' भी 'ह' में बदल जाता है जैसे—

कुठार > कुहाड़ कुहार

फ =
कहीं-कहीं 'फ' भी 'ह' में बदल जाता है जैसे—

शफरी > सहरी
सफल > सहल

सूचना— (i) कभी-कभी 'ठ' अपने मूर्धन्य साथी 'ढ' में बदल जाता है जैसे—

पठन > पढ़ना
मठिका > मढ़ी

(ii) कहीं-कहीं 'थ' 'ठ' में बदल जाता है, जैसे—

ग्रन्थि गाँठ
प्रथम > पठम

(iii) कहीं-कहीं 'थ्' का परिवर्तन 'ढ्' में हो जाता है जैसे—

शिथिल > शिढिल ढिल्ल > ढीला

४४ विसर्ग ( )—

(i) तद्भव शब्दों से विसर्ग प्रायः लुप्त हो जाते हैं जैसे—

दुःख > दुख

निःश्वास > निसास

(ii) कहीं-कहीं विसर्ग के पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे—

निःश्वास > नीसास

(iii) 'दुःख' का विसर्ग अपने स्थान पर प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी तद्भवों में 'क' छोड़ गया है जैसे— दुक्ख'।

४५ हिन्दी में विपर्यय के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं जैसे—

क्षपण > फेंकना

अपिधान > ओंदना (ढाँपना)

बुडण (प्रा० बुड्डण) > डूबना

संयुक्त व्यंजन

व्यंजन-संयोग तीन प्रकार का मिलता है १ सबल संयोग २ मिश्र संयोग तथा ३ निर्बल संयोग।

१ सबल संयोग—

सबल संयोग से तात्पर्य है उन व्यंजनों के संयोग से जो सबल कहलाते हैं। अनुनासिकों को छोड़ कर शेष स्पर्श व्यंजन[1] सबल हैं। यह संयोग स्पर्श+स्पर्श का होता है।

---

१ सबल व्यंजन— क ख ग घ
च छ, ज झ
ट ठ ड ढ
त थ द ध
प फ, ब भ

२ मिश्र संयोग—

सबल और निर्बल[1] व्यंजनों के संयोग को मिश्र संयोग कहते हैं। निर्बल व्यंजनों में (क) अनुनासिक (ख) अन्तस्थ और (ग) ऊष्म व्यंजन सम्मिलित हैं।

मिश्र संयोग के विविध भेद इस प्रकार हैं —

(क) स्पर्श + अनुनासिक संयोग
(ख) स्पर्श + अन्तस्थ संयोग
(ग) स्पर्श + ऊष्म संयोग

३ निर्बल संयोग—

जहाँ दो निर्बल व्यंजन मिलते हैं वहाँ निर्बल संयोग होता है। इसके भेद ये हैं —

(क) अनुनासिक + अनुनासिक संयोग
(ख) अनुनासिक + अन्तस्थ संयोग
(ग) अनुनासिक + ऊष्म संयोग
(घ) अन्तस्थ + अन्तस्थ संयोग
(ङ) अन्तस्थ + ऊष्म संयोग

१ सबल संयोग (स्पर्श + स्पर्श संयोग)—

(१) दो संयुक्त स्पर्श शब्द के आदि और अन्त में नहीं आते। अन्त में इनके

---

१ (क) अनुनासिक—ङ ञ ण न म्
(ख) अन्तस्थ—य र् ल व्
(ग) ऊष्म—श् ष् स् ह

२ निर्बल व्यंजनों का क्रम इस प्रकार है—
निर्बल—अनुनासिक म ण न
निर्बलतर—ऊष्म—श ष स ह
निर्बलतम—अर्द्धस्वर—व=व निर्बल
य=य निर्बलतर
ल, र —मध्यगत स्थिति
व = उ, य = इ — निर्बलतम

साथ कोई स्वर अवश्य मिला रहता है जैसे व्यक्त तृप्ति भक्त मुग्ध मुद्ग आदि में।

(ii) मध्यगत संयुक्त स्पर्श व्यंजनों में से हिन्दी में प्रायः प्रथम का लोप हो जाता है और संयुक्त स्पर्शों से पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे—

सप्त 7 सात
दुग्ध 7 दूध
मुद्ग 7 मूग
भक्त 7 भात

(iii) यदि संयुक्त स्पर्शों में से प्रथम अल्पप्राण और दूसरा महाप्राण हो तो अल्पप्राण विलुप्त होकर अपने पूर्व स्वर को दीर्घ कर देता है जैसे—

वृद्ध 7 बूढ़ा
शुद्ध 7 सूधा सीधा
रुद्ध 7 रूधा
पृच्छति 7 पूछे

(iv) यदि संयुक्त स्पर्श व्यंजन के बाद कोई भारी या संयुक्ताक्षर हो तो हिन्दी में कभी-कभी उससे पूर्व का स्वर दीर्घ नहीं भी होता जैसे—

उत्पाटन 7 उपाड़ना
उत्पाद्य 7 उपज
मृत्तिका मिट्टी
पट्टक 7 पट्टा पटा

२ मिश्र संयोग—

कहा जा चुका है कि सबल + निर्बल व्यंजनों के संयोग को मिश्र संयोग कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें विचारने योग्य हैं—

(क) जब दो असमानशक्तिवान वर्ण संयुक्त होते हैं तो प्राकृत में निर्बल समीकृत हो जाता है और हिन्दी में प्रायः उसका लोप हो जाता है।

(ख) जब दोनों वर्ण समान शक्ति वाले होते हैं तो वे किसी स्वर के आगम द्वारा वियुक्त या पृथक हो जाते हैं।

(ग) वे दोनों (निर्बल + सबल) किसी तीसरे असमान वर्ण में मिल जाते हैं।

मिश्र संयोग की दशा में निर्बल वर्ण चाहे सबल वर्ण के पहले आये

और बाद में हिन्दी में उनमें से एक अस्वीकृत होकर पूर्व स्वर को कभी-कभी दीर्घ कर देता है जैसे—

निद्रा > नींद
मुद्रा > मूंद
मद्य > माज
प्रस्तर > पाथर
उद्यम > ऊझम
मस्तक > माथा
हस्त > हाथ

(क) स्पर्श + अनुनासिक—

(i) यदि निर्बल वर्ण अनुनासिक हो और सबल वर्ण के पूर्व स्थिति हो तो वह अनुस्वार में बदल कर हिन्दी में पूर्व स्वर को दीर्घ कर देता है, जैसे—

पञ्च > पाँच अङ्क > आँक पङ्क्ति > पाँति शृङ्खला > साँकल सिञ्च > सींच अञ्जन > आँजना रञ्जन > राँजना कण्ठे > काँठे कण्टक > काँटा।

(ii) यदि स्पर्श + अनुनासिक संयोग में स्पर्श वर्ण पहले आवे तो अनुनासिक का लोप हो जाता है जैसे—

आत्मा > आपा
अधुनाति > अबे
तीक्ष्ण > तीखा
अग्नि > आग
उन्मग्न > उमगा

(iii) ज् + ञ ज्ञ के संयुक्त रूप में कई परिवर्तन मिलते हैं जैसे—

आज्ञा > आग्या
यज्ञोपवीत > जनेऊ
यज्ञ > जग्य जगि
राज्ञी > रानी

(ख) स्पर्श + अन्तस्थ का संयोग—

(अ) स्पर्श + य—

य जब किसी सबल व्यंजन से संयुक्त होता है तो कभी-कभी बिना किसी पूर्ति के लुप्त हो जाता है जैसे—

विद्युत > बिजली बिजुरी
सद्य > सद

साथ कोई स्वर मध्यम मिला रहता है जैसे व्यक्त, तृप्ति प्रक्ष मुग्धा मुग्ग प्रादि में।

(ii) मध्यमत संयुक्त स्पर्श व्यंजनों में से हिन्दी में प्राय प्रथम का लोप हो जाता है और संयुक्त स्पर्शों से पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे—

सप्त 7 सात
दुग्ध 7 दूध
मुद्ग 7 मूग
भक्त 7 भात

(iii) यदि संयुक्त स्पर्शों में से प्रथम अल्पप्राण और दूसरा सप्राण हो तो अल्पप्राण विलुप्त होकर अपने पूर्व स्वर को दीर्घ कर देता है जैसे—

वृद्ध 7 बूढ़ा
मुग्ध 7 मूधा सीधा
स्तम्भ 7 कथा
पृच्छति 7 पूछे

(iv) यदि संयुक्त स्पर्श व्यंजन के बाद कोई भारी या संयुक्त हो तो हिन्दी में कभी-कभी उससे पूर्व का स्वर दीर्घ नहीं भी होता जैसे—

उत्पाटन 7 उपाड़ना
उत्पाद 7 उपज
मृत्तिका मिट्टी
पट्टक 7 पट्टा पटा

२ भिन्न संयोग—

कहा जा चुका है कि सबल + निर्बल व्यंजनों के संयोग को भिन्न संयोग कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें विचारण योग्य हैं—

(क) जब दो असमानशक्तिवाले वर्ण संयुक्त होते हैं तो प्राकृत में निर्बल समीकृत हो जाता है और हिन्दी में प्राय: उसका लोप हो जाता है।

(ख) जब दोनों वर्ण समान शक्ति वाले होते हैं तो वे किसी स्वर के माध्यम द्वारा वियुक्त या पृथक हो जाते हैं।

(ग) वे दोनों (निर्बल + सबल) किसी तीसरे असमान वर्ण में मिल जाते हैं।

(घ) भिन्न संयोग की दशा में निर्बल वर्ण चाहे सबल वर्ण के पहले आये

और चाहे बाद में हिन्दी में उनमें से एक असमीकृत होकर पूर्व स्वर का कभी-कभी दीर्घ कर देता है जैसे—

भिक्षा > भीख
मुद्रा > मूँद
अद्य > आज
प्रस्तर > पाथर
उद्यम > ऊधम
मस्तक > माथा
हस्त > हाथ

(क) स्पर्श + अनुनासिक—

(i) यदि निर्बल वर्ण अनुनासिक हो और सबल वर्ण के पूर्व स्थित हो तो वह अनुस्वार में बदल कर हिन्दी में पूर्व स्वर को दीर्घ कर देता है, जैसे—

पञ्च > पाँच अङ्क > आँक पङ्क्ति > पाँति शृङ्खला > साँकल सिञ्च > सींच अञ्जन > आँजना रञ्जन > राँजना कण्ठे > काँठे कण्टक > काँटा।

(ii) यदि स्पर्श + अनुनासिक संयोग में स्पर्श वर्ण पहले आये तो अनुनासिक का लोप हो जाता है जैसे—

आत्मा > आता
मध्याति > मध
तीक्ष्ण > तीखा
अग्नि > आग
उन्मग्न > उमगा

(iii) ज् + ञ = ज्ञ के संयुक्त रूप में कई परिवर्तन मिलते हैं, जैसे—

आज्ञा > आग्या
यज्ञोपवीत > जनेऊ
यज्ञ > जग्य जग्गि
राज्ञी > रानी

(ख) स्पर्श + अन्तस्थ का संयोग—

(अ) स्पर्श + य—

य जब किसी सबल व्यंजन से संयुक्त होता है तो कभी-कभी बिना किसी पूर्ति के लुप्त हो जाता है जैसे—

[illegible] > [illegible]
[illegible] > [illegible]

मद्य 7 मद
योग्य 7 जोग
व्यजन 7 बजना भूना

(ii) कभी-कभी इस स्थिति में संयुक्त व्यजन के पूर्व का स्वर दीर्घ भी हो जाता है जैसे—

मद्य 7 माज
विद्युत् 7 बीजुरा
सत्य 7 सांच
नृत्य 7 नाच

(iii) प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी के शब्दों में स्पर्श-संयुक्त 'य्' का परिवर्तन 'इ' में हो जाता है जैसे—

अग्य 7 आगि
मान्य 7 मानि
साम्य 7 सामि
ग्राम्य 7 गामि (गामी)
व्याह 7 बिआह
त्याग 7 तिआग
ध्यान 7 धिआन

(iv) त+य्=त्य्

इस स्थिति में 'त्य्' 'च्' में बदल जाता है जैसे—

त्याग 7 चाग
नृत्य 7 नाच
मृत्यु 7 मीचु मीच
सत्य 7 सांच

(v) थ्+य्=थ्य्

इस स्थिति में थ् का परिवर्तन 'छ्' में और य्' का 'छ्' मे हो जाता है, जैसे—

पथ्य 7 पच्छ, पछ
रथ्या 7 रच्छा
मिथ्या 7 मिच्छा

(vi) द्+य्=ज

विद्युत् > बिजली
द्युति > जोति
विद्या > बिज्जा
मद्य > मज्ज

(vii) ध्+य् (=ध्य्) का परिवर्तन 'झ' में हो जाता है जैसे—

मध्य > माँझ, माँहि   बुध्यते > बुझै
ध्यान > झाण   बन्ध्या > बाँझ
सन्ध्या > साँझ   उपाध्याय > ओझा झा

(आ) स्पर्श+र् का संयोग

(i) यदि संयुक्त व्यंजनों में से 'र्' प्रथम होता है तो हिन्दी में उसका लोप हो जाता है जैसे—

ग्रन्थि > गाँठ
कर्कट > केकड़ा
कर्कटिका > ककड़ी
कर्पट > कपड़ा
कर्पास > कपास
कर्पूर > कपूर
कर्बुर > कबरा
खर्जूर > खजूर
गर्जन > गाजना
गर्भिणी > गाभिन गाभन
दुर्बल > दुबला
बर्कर > बकरा
मार्ग > मग
मार्गण > माँगना
मार्जन > माँजना
सर्प > साँप

(ii) जब 'र्' संयुक्त व्यंजनों में से दूसरा या अंतिम होता है तब भी 'र्' का लोप हो जाता है जैसे—

व्याघ्र > बाघ   ग्राम > गाम गाँव
भ्राता > भाऊ भाई   भ्रमर > भौंरा
भ्रू > भौंह।

(iii) 'प्र' तथा 'प्रति' उपसर्गों में भी 'र्' का विलोप हो जाता है जैसे—

प्रस्तर > पत्थर पाथर
प्रस्थापन > पठाना
प्रतिकार > पैकार

(iv) कभी-कभी शब्द के आदि समास में 'र्' 'प्र' से अलग होकर या तो 'प' के बाद स्वतन्त्र होकर आता है या फिर समीपवर्ती व्यंजन पर आरूढ़ हो जाता है किन्तु ऐसा बोलियों की शब्दावली में अथवा पुरानी और मध्यकालीन हिन्दी के शब्दों में ही अधिकांशतः होता है। खड़ी बोली के साहित्यिक रूप में ऐसे प्रयोग के लिए बहुत कम गुंजाइश है जैसे—

प्रताप	>	परताप पर्ताप
प्रसंस	>	परसंस पर्संस
प्रकाश	>	परकास पर्कास पर्गास
प्रगण	>	परगना पर्गना
प्रणाली	>	परनाली पर्नाली
प्रतिच्छाया	>	परछाईं पर्छाईं

(v) यदि मध्य संयुक्त व्यंजन में 'र्' प्रथम सदस्य हो तो वह अपना स्थान बदल कर पूर्व व्यंजन में जा मिलता है जैसे—

धर्म > ध्रम्म ध्रम
वर्ण > ब्रन ब्रन
कर्म > क्रम्म क्रम
सुवर्ण > सोब्रन
सर्व > स्रब्ब स्रब
गन्धर्व > गंध्रब्ब गंध्रब
कर्ण > क्रन क्रन

सूचना— उच्चारण की यह पद्धति खड़ी बोली के इस गौरवपूर्ण साहित्यिक युग में भी मिटी नहीं है। भारत के गाँवों में ही नहीं ऐसे उच्चारण नगरों में भी सुने जाते हैं। राजस्थान और पंजाब के अनेक हिन्दी बोलने वाले लोग ही नहीं वरन् भोजपुरी प्रदेश के हिन्दी बोलने वाले लोग भी ऐसी उच्चारण प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हैं। यही कारण है कि हिन्दी में 'सर्व' का 'सब' रूप मिलता है अन्यथा पूर्वीकरण के नियम से 'सव्व' और फिर 'साव' होना चाहिये था किन्तु 'र' ने अपना स्थान 'व' से 'स' पर पहले ही बदल लिया है इसलिए पूर्वीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

(vi) संयुक्त व्यंजन के प्रथम सदस्य के रूप में जब 'र्' विलुप्त होता है तो कभी-कभी पूर्ववर्ती व्यंजन को सप्राण बना देता है, जैसे—

गर्त > खड्ड खड
कर्पर > खपरा खोपड़ा
झर्झरी > झाँझरी झाँझरी

(vii) जब 'र्' किसी प्राय दीर्घ संयुक्त व्यंजन का सदस्य होता है तो लुप्त हो जाता है जैसे—

भ्रातृ > भाऊ, भाई
ग्राम > गाम गाँव
ग्रास > गास

(viii) कभी-कभी 'र्' शब्द के प्राय दीर्घ संयोग को छोड़ कर अपने संयोगी को ह्रस्व बना कर बाद में स्वयं स्वतन्त्र होकर दीर्घ स्वर से मिल जाता है, जैसे—

ग्रास > गरास
ग्राह > गिराह
प्राण > पिरान परान

सूचना—अधिकांशतः ऐसे शब्द प्राय बोली में प्रयुक्त होते हैं।

(ix) र् + त = र्त के स्थान पर कभी-कभी प्राकृत में 'ट्ट' तथा हिन्दी में 'ट्' हो जाता है, जैसे—

कर्तन > कट्टण > काटना
वर्तक > वट्टय > बटेर
वर्तुल > वट्टुल > बटला

(x) कहीं कहीं 'र्त' का 'र्' किसी प्रभाव प्रक्षेप के बिना ही लुप्त हो जाता है जैसे—

कर्तरी > कतरनी
कार्तिक > कातिक
वार्ता > बात
धूर्त > धूत

(xi) कहीं-कहीं 'र्त' के स्थान पर 'ड़' हो जाता है अर्थात् 'र्' लुप्त होकर 'त्' को 'ड़' बना देता है जैसे—

गर्त > गड़ा गाड़

(xi) कहीं-कहीं र् + त = र्त का परिवर्तन हिन्दी 'ड' के रूप में भी हो जाता है, जैसे—

मर्त 7 मट्टा मठा

गर्तगर्त 7 गड्डड्ड गड़बड़

(xii) त् + र् = त्र के स्थान पर

(i) कहीं-कहीं 'ट' हो जाता है जैसे—

मन्त्री 7 मुट्ठी 7 माठा

(ii) कहीं-कहीं 'ह' हो जाता है जैसे—

कुत्र 7 कहाँ

यत्र 7 यहाँ

तत्र 7 तहाँ

यत्र 7 जहाँ

(iii) कहीं-कहीं 'त' हो जाता है किन्तु इस प्रक्रिया में यदि पूर्व स्वर ह्रस्व हो तो दीर्घ हो जाता है जैसे—

मित्र 7 मीत

क्षेत्र 7 खेत

धौत्र 7 धोता धोती

गात्र 7 गात

गोत्र 7 गोत

रात्रि — रात

सूत्र 7 सूत

चैत्र 7 चैत

(xiii) कहीं त् + र् = त्र के स्थान पर 'ट' हो जाता है जैसे—

त्रसर 7 टसर त्रुट 7 टूट त्रुटन 7 टूटना।

(xiv) र् + थ् = र्थ तथा र् + द् = र्द में से हिन्दी में 'र्' का लोप हो जाता है जैसे—

चतुर्थ 7 चौथा

गर्दभ 7 गदहा

कर्दम 7 कादा

कूर्दन 7 कूदना

(xv) र् + ध् = र्ध के स्थान पर हिन्दी में 'ढ' हो जाता है जैसे—

वर्धकि 7 बढ़ई

अर्धतृतीय 7 अढ़ाई

(इ) स्पर्श + न का संयोग—

(i) संयुक्त व्यञ्जन में प्रथम वर्ण होने पर न लुप्त हो जाता है जैसे—

वल्गा > बाग

अल्प > आपि अक

उल्का > ऊका

(ii) कभी-कभी 'ल' शब्द के साथ संयोग को छोड़ कर अपने संयोगी को इ-युक्त करके स्वतन्त्र हो जाता है, जैसे—

प्लावन > पिलावन

ग्लानि > गिलानि

क्लान्त > किलांत

क्लेश > किलेस

(iii) उपर्युक्त संयोग यदि ह्रस्व 'अ' युक्त हो तो 'ल' उससे अलग हो जाता है जैसे—

प्लक्ष > पलख (प्रा० पलक्ख = बटवृक्ष)

(ई) स्पर्श + व्

(i) कहीं-कहीं व हिन्दी में अपनी संयोग दशा से लुप्त हो जाता है जैसे—

स्वादु > साद

पक्व > पका

सत्व > सत सत्त

क्वाथ > काढ़ा

(ii) कहीं-कहीं संयोग की दशा में 'व' के स्थान पर 'उ' हो जाता है जैसे—

त्वरा > तुरा

द्वि > दुइ

ज्वर > जुर

ध्वसन > धुरना

स्वर > सुर

(iii) कहीं-कहीं 'त्' से संयुक्त 'व्' अपने साथी के साथ लुप्त हो जाता है, जैसे—

चत्वारि > चार

चत्वारिंशत् > चालीस

(iv) कहीं 'त्व' के स्थान पर 'प' हो जाता है जैसे—

वृद्धत्व > बुढ़ापा

मुटत्व > मुटापा

भ्रातृत्व > भायप भायपा

(v) कहीं-कहीं ज् + व = ज्व् के स्थान पर व् हो जाता है जैसे—

ज्वसन 7 बसना

उज्ज्वासन 7 उबासना

(vi) कहीं ज् + व् = ज्व् के स्थान पर 'झ' भी हो जाता है जैसे—

ज्वाल 7 झास

ज्वसन 7 झुरना

ज्वल 7 झल

(ग) स्पर्श + ऊष्म—

इस स्थिति में ऊष्म का प्रायः लोप हो जाता है और उसका अल्पप्राण-स्पर्श संयोगी प्रायः महाप्राण हो जाता है।

कभी-कभी संयुक्त व्यंजन से पूर्व का स्वर दीर्घत्व या गुणत्व प्राप्त कर लेता है।

(अ) स्पर्श + श —

पश्चिम 7 पच्छाँ पछवाँ

वृश्चिक 7 बिच्छ बीछू

(आ) स्पर्श > ष —

पुष्कर 7 पोखर मुष्टिका 7 मुठिया

शुष्क 7 सूखा इष्ट 7 एठा

यष्टि 7 लाठी दृष्टि / डीठि पृष्ट 7 पूठा

मिष्ट 7 मीठा, भ्रष्ट 7 भाठ राष्ट्र 7 राठ

पिष्टि 7 पेठी

(इ) कहीं-कहीं 'ष' अपने सहयोगी 'ठ' को अल्पप्राण और अपने पूर्ववर्ती स्वर को महाप्राण बनाकर लुप्त हो जाता है जैसे—

ओष्ठ 7 होट

(ई) कहीं-कहीं ष् अपने संयोगी 'ट्' को 'ड़' बनाकर लुप्त हो जाता है जैसे—

वेष्टन 7 वेढ़न

वेष्टिम 7 वेढ़मी

(उ) कहीं कहीं 'ष' अपने संयोगी 'ठ्' को 'ढ' में बदल कर लुप्त हो जाता है, जैसे—

कुष्ठ 7 कोढ

(ड) स्पर्श + स् —

(i) (स्)—

संयुक्ताक्षर में स्थित पूर्ववर्ती 'स्' अपने साथी को सप्राण करके लुप्त हो जाता है जैसे—

स्तन 7 थन
स्तंभ 7 खंभा
मस्तक 7 माथा
पुस्तक 7 पोथी
हस्ती 7 हाथी
प्रस्तर 7 पाथर

(ii) स्थ्—'स्' 'थ्' के साथ प्रथम सदस्य के रूप में हिन्दी में लुप्त हो जाता है और अपने संयोगी को 'ठ' में बदल जाता है जैसे—

स्थग 7 ठग (छली कपटी)
स्थगन 7 ठगना
स्थान 7 ठाँव ठान ठाण
स्थिति 7 ठिक, ठिया
स्थविर 7 ठेरा (बूढ़ा)

(iii) कहीं-कहीं 'स्' अपने संयोगी 'थ' को कोमल बनाता हुआ अपने पूर्ववर्ती एक मात्र वर्ण (स्वर) को सप्राण कर देता है जैसे—

अस्थि 7 हाड़ हड्डी

(iv) स्फ—शब्द के आदि-वर्ण के रूप में 'स्' अपने संयोगी 'फ' से बिना किसी प्रभाव प्रक्षेप के लुप्त हो जाता है जैसे—

स्फोटक 7 फोड़ा
स्फुटन 7 फूटना
स्फटन 7 फटना
स्फुरण 7 फरना (हिलना कांपना)
स्फुरण 7 फुरना फिरना (घूमना-फिरना)

सूचना—'ष्' तथा 'स' किसी संयुक्त वर्ण के अन्त्य संयोगी नहीं होते। यदि होते हैं तो केवल 'क' 'ट्' और 'प्' के जिनको वे स्वयं लुप्त होकर ख छ ठ तथा 'फ' में बदल देते हैं जैसे—

(१) क+ष्—

मक्षिका 7 मक्खी माखी
पक्षी 7 पंखी पक्खी
क्षीर 7 खीर छीर
दक्षिणी 7 दखिनी दक्खिनी दच्छिनी
क्षार 7 खार छार
कुक्षि 7 कुक्खि, कोख

(ii) अनुनासिक+ह=म्ह म्ह

(i) अनुनासिक+य्—

(अ) ण्+य्=ण्य् जैसे—अरण्य > रन (बन जंगल उजाड़)

आरण्य > अरना (जंगली वन्य)

(आ) न्+य्=न्य् जैसे— शून्य > सूना सून

धान्य > धान

न्याय > निआउ

(इ) म्+य=म्य् जैसे—सौम्य > सोमि

ग्राम्य > गामी

(ii) अनुनासिक+र्—

(अ) ण्+र्=र्ण जैसे—कर्ण > कान ऊर्ण > ऊन

प्राघूर्ण > पाहुना सुवर्ण > सोना

पर्ण > पान

(आ) र्+म्=र्म जैसे— कर्म > काम धर्म > घाम

म्+र्=म्र जैसे—आम्र > आम ताम्र > ताँबा

(iii) अनुनासिक+ल—

(अ) ल्+म्=ल्म् जैसे—शाल्मली > सेमल, सेंबल

गुल्म > गूमा

म्+ल=म्ल—इस स्थिति में दोनों संयोगी अलग हो जाते हैं जैसे—म्लान > मिलान मलान

म्लेच्छ > मलेछ

सूचना—प्राय अनुनासिक और 'व्' का संयोग नहीं होता। जहाँ होता है वहाँ 'व्' लुप्त हो जाता है और हिन्दी में अपने संयोगी को 'उ' स्वर दे जाता है जैसे— कण्व > कनु, कनुअ

(ग) अनुनासिक-ऊष्म-संयोग—

संस्कृत में इस संयोग के अनेक रूप मिलते हैं। कहीं श् + न = श्न् कहीं श् + म् = श्म कहीं ष + ण = ष्ण कहीं स् + न् = स्न् और कहीं स् + म् = स्म् की स्थिति होती है। इन सभी के रूप-परिवर्तन को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं —

(i) कहीं-कहीं अनुनासिक का लोप हो जाता है जैसे—

रश्मि > रास स्मृति > सुरत

(ii) कहीं-कहीं ऊष्म का लोप हो जाता है जैसे—

श्मशान > मसान

स्नेह > नेह स्मश्रु > मूछ

(iii) कहीं ऊष्म ह् में बदल जाता है जैसे—

कृष्ण 7 कान्ह कूष्माण्ड 7 कांहड़ा
तृष्णा 7 तिन्हा तेन्हा
विष्णु 7 बिष्णु
स्नान 7 नहान

(iv) कहीं ध्वनि होकर वर्ण विपर्यय हो जाता है जैसे—

ऊष्मा 7 उमस

(v) कहीं-कहीं दोनों किसी-न-किसी रूप में ठहर जाते हैं जैसे—

श्मशान 7 समसान ('अ' के आगम से)
स्नान 7 सनान
कृष्ण 7 किशन
स्मरण 7 सुमिरन सुमरन ('उ' के आगम से)

(vi) (अ) कहीं-कहीं स् + म् के संयोग में स् के स्थान पर 'ह' हो जाता है—

अस्मत् 7 हम

(आ) कहीं-कहीं स् + म् के संयोग में 'म्' का लोप हो जाता है जैसे—भस्म 7 भस

(ख) अन्तस्थ–अन्तस्थ–संयोग—

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि य् र् ल 'व्' अन्तस्थ व्यंजन हैं। इनमें भी कुछ अधिक सबल हैं और कुछ अधिक निर्बल। इसमें सन्देह नहीं कि वह 'व्' जिसे अधिकांशतः ब् समझा जाता है सबसे अधिक सबल है किन्तु वह 'उ' में बदलने की प्रवृत्ति के साथ सबसे अधिक निर्बल भी है। यही स्थिति 'य्' की भी है। जो 'य्' 'ज्' के रूप में बोला जाता है (जैसे—यमुना 7 जमुना) वह सबल है किन्तु जिसकी प्रवृत्ति 'इ' में बदलने की है वह 'य्' (नयन 7 नइन = नैन) निर्बल है।

'र्' और 'ल्' की स्थिति बीच की है। इनका न तो कोमलीकरण होता है और न कठोरीकरण।

अन्तस्थ व्यंजनों के बल का क्रम इस प्रकार है —

(१) 'व्' जब 'ब्' समझा जाता है।
(२) 'य्' जब 'ज्' समझा जाता है।
(३) 'ल्'
(४) 'र्'

(५) 'य्' अब 'उ' में कोमलीकृत होता है।

(६) 'य्' अब 'इ' में कोमलीकृत होता है।

संयोग का स्वरूप—

(अ) र् + य् = र्य

(i) इस स्थिति में कभी-कभी 'र्' का लोप तथा 'य' का 'ज्' में परिवर्तन हो जाता है जैसे—

कार्य 7 काज।

(ii) कभी-कभी 'य्' का लोप तथा 'र्' का 'ल' हो जाता है, जैसे—

पर्यङ्क 7 पलग पलका

(iii) कभी-कभी 'र्' सुरक्षित रहता है और 'य्' को 'इ' या 'ई' हो जाता है जैसे—

चौर्य 7 चोरी तूर्य 7 तुरी तुरई।

(iv) कभी-कभी 'र्' सुरक्षित रहता है तथा 'य्' का लोप हो जाता है जैसे—

तूर्य 7 तूर सूर्य 7 सूर

(v) कभी-कभी 'र्' सुरक्षित रहता है और 'य्' का 'ज्' हो जाता है तथा 'अ' श्रुति से दोनों का वियोग हो जाता है, जैसे—

सूर्य 7 सूरज
धैर्य 7 धीरज
कार्य 7 कारज
आश्चर्य 7 अचरज
मर्यादा 7 मरजादा

(आ) स्+य्=स्य्

(i) इस स्थिति में प्रायः 'य्' का लोप हो जाता है जैसे—

कस्य 7 कस कास
तुल्य 7 तुल तुल
मूल्य 7 मोल

(ii) कहीं-कहीं 'य्' अपने स्थान पर 'ह्' बढ़ाकर स्वयं लुप्त हो जाता है जैसे—

कस्य 7 कास्ह

(इ) व्+य्=व्य्

(i) इस स्थिति में कभी कभी 'य्' का लोप और 'व्' का 'ब्' हो जाता है जैसे—

द्रव्य 7 दरब व्याघ्र 7 बाघ व्याकुल 7 बाउल

(ii) कहीं-कहीं 'व्' का ब् और 'य्' का 'इ' हो जाता है जैसे—

व्यथा 7 बिथा
व्यतीत 7 बीत

(ई) व्+र्=व्र —

इस स्थिति में किसी श्रुति के कारण दोनों व्यंजनों का वियोग हो जाता है और 'व्' का 'ब' हो जाता है जैसे—

व्रत 7 बरत बिरत
व्रात 7 बरात

(उ) र्+व्=र्व —

(i) इस स्थिति में कभी-कभी 'र' का लोप हो जाता है और 'व्' के स्थान पर 'ब्' हो जाता है जैसे—

सर्व 7 सब
चर्वण 7 चबना

(ii) कहीं-कहीं श्रुति से दोनों का वियोग हो जाता है और 'व' का 'ब्' हो जाता है जैसे—

गर्व 7 गरब
पर्व 7 परब
पूर्व 7 पूरब

(ऊ) र्+ल=र्ल

इस स्थिति म प्रायः 'र्' का लोप हो जाता है जैसे—

दुर्लभ 7 दूलह
निर्लेप 7 निलेप
दुर्लक्ष्य 7 दुलक्ख दुलख

(ए) स+स=स्स

इस स्थिति में एक 'स' लुप्त हो जाता है जैसे—

पस्सव 7 पास पासा

(ए) ष्+व्=ष्

इस स्थिति में 'व्' का लोप हो जाता है जैसे—

बिल्व 7 बेल जल्वाट 7 जलाड़

(क) ऊष्म प्रत्यय-योग—

इस योग के अनेक रूप होते हैं—(i) ऊष्म+य् का योग (ii) ऊष्म+र् का योग (iii) ऊष्म+म् का योग (iv) ऊष्म+व का योग।

सूचना—इस स्थिति में प्राय प्रत्यय का लोप हो जाता है अन्यथा किसी भ्रति द्वारा दोनों का वियोग हो जाता है या प्रत्यय में कोई परिवर्तन हो जाता है।

१ प्रत्यय का लोप—

(i) ऊष्म+य

श्येन 7 सेन		पुष्य	7	पूस
श्यामल 7 साँवला		पौष्य	7	पूस
श्यामक 7 सामा		कांस्य	7	काँसा
श्यावश्याय 7 ओस		हास्य	7	हास्
शस्य 7 स्स		बाष्पक	7	बाम्फ
तस्य 7 तिस		गुह्य	7	गूह
रहस्य 7 रहस				
भविष्य 7 भविस				

(ii) ऊष्म+र्

अश्रु 7 आँसू
श्रावण 7 सावन
स्राव 7 साव

(iii) ऊष्म+व

श्वास 7 साँस
श्वशुर 7 ससुर
ईश्वर 7 ईसर ईसुर
पार्श्व 7 पास
जिह्वा 7 जीहा
श्वक 7 सवा
श्वाँस 7 साँस
स्वपर्ण 7 सोना
स्वामी 7 साँई
स्वजन 7 सुजन

२ श्रुति–द्वारा वियोग—

श्रम — सिरम
आश्रम 7 आसरम
आश्रय 7 आसरा
हर्ष 7 हरस हरख
वर्षा 7 बरसा, बिरखा
वर्ष 7 बरस
श्लाघन 7 सराहना
स्पर्श 7 परस
अर्हत् / अरहा
अर्हणीय 7 अरहणीय
प्रह्लाद 7 पहलाद
विह्वल 7 बिहवल

३ ऊष्म+अन्तस्थ का परिवर्तन

जिह्वा 7 जीभ
बाह्य 7 बाझ (out of except)

————

अध्याय ४

संज्ञा-शब्द

रचना

हम हिन्दी-संज्ञाओं को दो वर्गों में रख सकते हैं — १ एक तो वे जो किसी व्यक्ति या वस्तु का नाम होती हैं तथा २ दूसरी वे जो वस्तु या व्यक्ति के गुण का वर्णन करती हैं। प्रथम प्रकार की संज्ञाओं को नामवाचक या जातिवाचक कहा जाता है और द्वितीय प्रकार की संज्ञाओं को गुणवाचक या भाववाचक अभिधा दी जाती है।

धातु, अनुबंध एवं अन्त्य प्रत्यय

संस्कृत संज्ञाओं की काया तीन प्रमुख अंगों के योग से निर्मित हुई है। उनको धातु अनुबंध (Suffix) तथा अन्त्य प्रत्यय (termination) कहते हैं। धातु और अनुबंध या प्रत्यय से मिल कर मूल शब्द बनता है और तीनों के मिलने से प्रयोगार्ह पूर्ण संज्ञा बनती है जिसका प्रयोग बोलने या लिखने में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए संस्कृत शब्द 'नर' को लिया जा सकता है, जिसके तीन अंग हैं—'नर्+अ+स्'। इसमें वैयाकरणों ने 'नृ+अच्' की स्थिति मानी है किन्तु 'शब्द' को समझने में उक्त तीन अंग अधिक स्पष्ट रूप से सहायक हो सकते हैं। इसमें 'नर्' धातु है, 'अ' अनुबंध या प्रत्यय है और 'स्' अन्त्य प्रत्यय है। यहाँ 'नर्+अ' मूल शब्द है।

इस प्रकार प्रयोगार्ह शब्द के तीन अंग हुए—धातु, शब्द निर्माणकारी प्रत्यय तथा रूप-निर्माणकारी प्रत्यय। हिन्दी में रूप-निर्माणकारी प्रत्यय वाक्य में संज्ञा की अवस्था या दशा (कारक) के अनुसार बदलते हैं।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत संज्ञाओं के रूप-निर्माणकारी प्रत्यय अपने मूल रूप को खो बैठे हैं। हिन्दी में एक वचन का चिह्न बिल्कुल लुप्त हो गया है, हाँ बहुवचन में निर्बल और घिसे चिह्न अवशिष्ट दीख पड़ते हैं जो बहुत अपभ्रष्ट और संदिग्ध हैं।

हिन्दी में कारक-भेदों का कुछ अर्थांश शब्द चिह्न या परसर्ग लगा कर व्यक्त किया जाता है। संस्कृत 'नर' 'नरस्य' 'नराय' आदि शब्द हिन्दी में क्रमश 'नर' 'नरका', 'नर के लिए' आदि द्वारा व्यक्त किये जाते हैं।

अतएव हिन्दी शब्दों की खोज उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी हिन्दी प्रत्ययों की। शब्दों के उपयोग का समुचित ज्ञान प्रत्यय' की सम्यक् अवगति से ही हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'परिमाण' और 'भाव' धातु-रूप को परिवर्तित कर देते हैं। कैसे ? यही तो विचारणीय प्रश्न है। दूसरी विचारणीय बात है विकास के अनेक रूपों में धातु और अनुबन्ध (प्रत्यय) से बने हुए मूल शब्द की प्रक्रिया का स्वरूप

कृदन्त तथा तद्धित

संस्कृत के वैयाकरणों ने नाममूलक शब्दों के दो भेद किये हैं—'कृदन्त-शब्द' तथा 'तद्धित-शब्द'। उनका मत है कि संज्ञा-शब्दों के पीछे निर्माण की प्रक्रिया है। संस्कृत भाषा का प्रत्येक शब्द धातु से व्युत्पन्न है, जो अनेक प्रकार के योगों और परिवर्तनों की प्रक्रिया को व्यक्त करता है। अतएव धातुओं से बने हुए पहले प्रकार के शब्द वे हैं जिनमें 'कृत् प्रक्रिया प्रवर्तित है और दूसरे प्रकार के शब्दों में 'तद्धित प्रक्रिया का योग है। ये शब्द बनी हुई संज्ञाओं से ही प्रत्यय के लगने से बने हैं।

धातु में प्रत्यय लगने से व्युत्पत्ति प्रभावित हो जाती है। ये प्रत्यय बहुत से उदाहरणों में, धातु में न केवल स्वर अथवा अक्षर ही जोड़ देते हैं, वरन् धातु में कुछ परिवर्तन भी कर देते हैं। उनके योग से या तो स्वर दीर्घ हो जाता है, या अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है अथवा किसी अन्य प्रकार का परिवर्तन जन्म ले लेता है।

धातु पर प्रत्यय के प्रभावों को दिखाने के लिए भारतीय वैयाकरणों ने प्रत्यय के पूर्व या पश्चात् कुछ वर्ण जोड़ दिये हैं जो स्मारक का काम करते हैं। वे 'पाक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं पाक = पच् + घञ् अर्थात् 'पच्' धातु में 'घञ् प्रत्यय लगाने से 'पाक' शब्द बना। इस प्रत्यय का विशेष प्रभाव धातु में अन्तिम 'अ' जोड़ने में व्यक्त होता है किन्तु इससे धातु का स्वर भी दीर्घ हो जाता है। प्रभाव की सूचना 'ञ' वर्ण के द्वारा मिलती है। इसके अतिरिक्त इसने अन्तिम तालव्य वर्ण को कण्ठ्य में बदल दिया है जिसकी सूचना 'घ' से हो गयी है।

प्रत्ययों की बहुत बड़ी संख्या है और वैयाकरण उनकी वृद्धि ही करते गये हैं, जिससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर भी व्यक्त हो सके। यहाँ सबकी विवेचना न तो संभव है और न अपेक्षित ही। यहाँ केवल उन्हें वर्गीकृत करके हिन्दी भाषा में उदाहरणों द्वारा दिखाया जायेगा।

वैयाकरणों ने कृदन्त शब्दों में क्रिया से बने हुए विशेषण, क्रिया से बनी हुई भाववाचक संज्ञाएं तथा क्रिया से बने हुए भाव रूप सम्मिलित किए हैं। इस अध्याय में हम केवल उन प्रत्ययों की विवेचना करेंगे जिनसे मूल संज्ञा शब्द बनते हैं।

प्रत्यय या तो एकाक्षरीय होते हैं या द्वयक्षरीय। वैयाकरणों ने जिन प्रत्ययों का वर्णन किया है उन सबका सम्बन्ध हिन्दी से नहीं है। इसलिए उस रूप में उन सबका उल्लेख समीचीन नहीं है क्योंकि उनसे जो शब्द बने वे आधुनिक भारतीय भाषाओं के उदय से पूर्व ही बन चुके थे। यहाँ केवल उन प्रत्ययों का उल्लेख आवश्यक समझा गया है जिनके चिह्न हिन्दी में मिलते हैं। ये प्रत्यय हिन्दी में पुरान शब्दों के साथ चले आये हैं। हिन्दी के तत्सम शब्दों में संस्कृत के मूल प्रत्यय भी उल्लेखनीय हैं।

कृत् प्रत्यय एवं मूल संज्ञा शब्द—

अकारान्त शब्द—इस वर्ग की संज्ञाएं तीनों लिंगों में मिलती हैं। संस्कृत में प्रथमा विभक्ति, पुल्लिंग एक वचन में अत्, स्त्रीलिंग में आ और नपुंसक लिंग में अम्' होता है। पुंल्लिंग का 'स्' स्थायी नहीं है। घोषवर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द से पूर्व अकार के अ के साथ यह 'ओ' में बदल जाता है जैसे राम गच्छति' से पूर्व 'रामो' रूप ले लेता है किन्तु 'वसति' से पूर्व 'राम' में यह परिवर्तन नहीं होगा। संस्कृत में 'अघोष' वर्णों की अपेक्षा घोष वर्णों की संख्या अधिक थी अतएव प्रथमा में ओकारान्त शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता था और प्रसन्न लोग तो इसका प्रयोग प्रायः करते थे। इसीलिए वररुचि ने यह एक सामान्य नियम दिया है कि अकारान्त शब्द प्रथमा एक वचन में प्राकृत में ओकारान्त' हो जाते हैं जैसे—

वृक्ष 7 वच्छो
वृषभ 7 वसहो
पुरुष 7 पुरिसो

अपभ्रंश में इस 'ओ' के स्थान पर 'उ' लग जाता है जैसे—

पुरुष 7 पुरिसो (प्रा०) 7 पुरिसु (अप०)

आधुनिक भारतीय भाषाओं में अकारान्त शब्दों के दो रूप प्रारम्भ हुए 'उकारान्त' और ओकारान्त'। काव्य में उकारान्त शब्द ऊकारान्त' भी हो जाते हैं जैसे—बीरु सरीरु कपारु आदि। इनका प्रयोग चौपाई-काव्य में अधिकता से मिलता है। सामान्यतया ये शब्द बीर, सरीर कपार आदि के ही रूप हैं। इन शब्दों का दूसरा रूप ओकारान्त' है जैसे-बोड़ो घड़ो भेसो भैंसा आदि। पुरानी हिन्दी (विशेषतः ब्रज) के रूपों में प्रायः ओकारान्त रूप भी मिलते हैं जैसे—घोड़ो

संस्कृत	हिन्दी
क्षुर	छुरा
पेट	पेटा
चूर्ण	चूरा
दीप	दिया
ध्वज	धजा धुजा
नाम	नामा
वत्स	बच्छा बच्चा
भस्म	भामा
श्याल	साला
स्कन्ध	कंधा
स्तम्भ	खम्भा
मूष	मूसा
घट	घड़ा

भाषा वैज्ञानिकों ने इस परिवर्तन का कारण संस्कृत के मूल शब्दों के अन्त में 'क' (यथा घट + क) की कल्पना की है। परिवर्तन प्रक्रिया को वे इस रूप में प्रदर्शित करते हैं —

घटक 7 घडम 7 घड़ा

यह प्रक्रिया ठीक है किन्तु यह अनुमान कि अकारान्त मूल शब्द के साथ कल्पित 'क' के कारण हिन्दी का 'घड़ा' शब्द व्युत्पन्न हुआ अधिक तर्कसंगत नहीं है। इन शब्दों को पण्डितों और वैयाकरणों ने नहीं बनाया है वरन् ये जन-वाणी के प्रवाह में बने हैं अतएव उक्त अनुमान निराधार न होते हुए भी सबल नहीं है। मेरी समझ में इसका कारण दूसरा है।

संस्कृत अकारान्त शब्दों पर अन्त्याक्षरीय बलाघात का प्रभाव—

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि संस्कृत के अनेक अकारान्त शब्द हिन्दी में भी अकारान्त बने रहे हैं किन्तु अनेक विरोधी उदाहरण भी प्रस्तुत हैं। संस्कृत के जिन शब्दों के अन्त्याक्षर पर बलाघात नहीं है वे हिन्दी में अकारान्त ही रहते हैं, किन्तु जिन शब्दों के अन्त्याक्षर पर बलाघात होता है वे हिन्दी में आकारान्त हो जाते हैं। 'धण्ड' से 'धण्डा' इसी नियम के अन्तर्गत बना है। ब्रज भाषा और राजस्थानी में धण्डो छरो, कीड़ो आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

उक्त नियम भी सर्वत्र लागू नहीं होता संस्कृत के कुछ शब्द ऐसे भी मिलते

हैं जिनके प्रत्ययाक्षर पर बलाघात होता है फिर भी उनके तद्भवों में अन्त में ह्रस्व ही मिलता है। उदाहरण ये हैं—

ऋक्ष > रीछ
गृह > घर
वर्ष > बरस
पर्ण > पान
दास > दास
दुग्ध > दूध

किन्तु संस्कृत के बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जिनके प्रत्ययाक्षर पर बलाघात न होने पर भी उनके तद्भव आकारान्त होते हैं जैसे—

लोह > लोहा
महिष > भैंसा
कोण > कोना
पादोन > पौना
कूप > कूआ कुआ
शुक > सुआ

'न' तथा 'अन' प्रत्ययान्त शब्द—

संस्कृत 'न' तथा 'अन' प्रत्यय वाले शब्द भी हिन्दी में प्रायः अकारान्त ही रहते हैं, जैसे—

यत्न > जतन
प्रश्न > पृस्न पिरसन
स्वप्न > सुपिन सुपन

सूचना— केवल 'सपना' शब्द ही ऐसा है जिसमें 'न' प्रत्यय के तत्सम शब्द का तद्भवरूप 'आकारान्त' है।

संस्कृत शब्दों में 'अस' प्रत्यय का प्रयोग सामान्य रूप से होता है। इसका प्रयोग संस्कृत के दोनों लिंगों में होता है और इससे बने हुए अधिकांश शब्द अन्त्याक्षरीय बलाघात से मुक्त होते हैं। प्रायः ऐसे शब्दों के आद्याक्षर पर ही बल होता है।

पुल्लिंग संज्ञा शब्दों का मूलार्थ क्रतु-संबद्ध था। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में उनका प्रयोग बहुलता से मिलता है। वे हिन्दी में तत्सम रूप में या बहुत कम परिवर्तित रूप में प्रयुक्त होते हैं। यदि वे शब्द सरल व्यंजनों वाले होते हैं तो परिवर्तन को बहुत कम अवकाश मिलता है जैसे—

मन्दन 7 मंदन
यामन / गायन
दर्पण 7 दापन दर्पन दरपन
वहन 7 बहन
वमन 7 वमन बमन
तरण 7 तरन
किरण 7 किरन
मोदन 7 मोदन

नपुंसक लिंग के रूप अधिक विचारणीय हैं। नपुंसक लिंग के अन्तर्गत शब्दों के दो भेद दिखाई देते हैं —

(१) सरल नामवाचक संज्ञाएँ तथा वस्तु या क्रिया को सूचित करने वाली संज्ञाए

(२) भाववाचक संज्ञाए

१ (क) सरल नामवाचक या वस्तुवाचक संज्ञाए —इस वर्ग के शब्द संस्कृत और हिन्दी दोनों में अन्त्याक्षर बलाघात से मुक्त होते हैं जैसे—

सं	हि.
अङ्गनं	आँगन
काञ्चनं	कंचन
चन्दनं	चंदन
स्नान	सनान स्नान नहान
नयन	नयन नैन
स्मरण	सुमिरन स्मरण
वेष्टन	वेठन

१ (ख) अन्य संज्ञाओं का दूसरा वर्ग वह है जिन्हें क्रियार्थक भी कहते हैं। ये क्रियाओं का काम करती हैं जैसे—

करणं 7 करना
मरणं 7 मरना

संस्कृत में ये शब्द अन्त्याक्षरीय बलाघात से मुक्त थे किन्तु हिन्दी में आकारान्त (दीर्घान्त) हो गये हैं अर्थात् इनके कारण नियम उल्लंघित हो रहा है। इस प्रकार के उदाहरण कुछ और भी हैं। नीचे देखिये —

अपनं 7 आना
हरणं 7 हरना

प्राचीन हिन्दी में इस वर्ग की क्रियार्थक संज्ञाएं अकारान्त होती हैं जैसे—

१ जय हरन कौं।
२ अंग जुरन चालिम कुम्हार।
३ कोउ न छमन पावै।
४ रसवारे सब बरजन लागे।
५ मौसम की धावो।

संज्ञार्थक क्रियाएं कुछ मुहावरों में संज्ञावत् प्रयुक्त होता है और ऐसी स्थिति में उनका रूप अकारान्त होता है जैसे—

करना–भरना=करन–भरन
लेना –देना =लेन–देन
लड़ना–भिड़ना=लड़न–भिड़न
हिलना–डुलना=हिलन–डुलन
भरना–पोसना=भरन–पोसन
पालना–पोसना=पालन–पोसन

२ भाववाचक संज्ञाएं —'अन्' प्रत्यय से बनी हुई भाववाचक संज्ञाएं भी नपुंसक लिंग होती हैं। संस्कृत में इनका रूप अकारान्त होता है जैसे चिन्तन, सहन। हिन्दी में इनके दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं — एक तो संज्ञा प्रयोग और दूसरा क्रियार्थक संज्ञा प्रयोग। पहले प्रकार के प्रयोगों में ये शब्द अकारान्त ही रहते हैं किन्तु दूसरे प्रकार के प्रयोगों में चीतना, सहना आदि रूप होकर ये शब्द आकारान्त हो जाते हैं।

उपान्त्य अर्द्ध स्वरीय अकारान्त शब्द—

अकारान्त शब्दों का एक दूसरा वर्ग वह है जिसके शब्दों के उपान्त्य (अन्त से पूर्व के) में कोई अर्द्ध स्वर— 'य र ल व' होता है अर्थात् जिनके अन्त में 'अ' और उससे पहले का व्यंजन य् र् ल् या व् होता है। इनमें 'य' का प्रयोग प्रमुखत तद्भिनो में होता है। कृदन्तों में भी कुछ स्त्रीवाचक शब्द हैं जिनका विवेचन प्रसग से किया जायेगा।

(क) यकारान्त शब्द—

सत्य 7 सांच नृत्य 7 नाच

(ख) रकारान्त शब्द—

ये शब्द दो प्रकारे के होते हैं एक तो वे जिनमें प्रत्यय सीधा धातु में जोड़ दिया जाता है और दूसरे वे जहाँ धातु और प्रत्यय को जोड़ने के लिए कोई स्वर बीच म आ जाता है। संस्कृत में दोनों प्रकार के शब्द अन्तस्समाघात वाले होते हैं किन्तु संयुक्त व्यंजन के अन्तिम वर्ण के लोप के कारण 'बलाघात' विलीन होजाता है। इस प्रकार सामान्यतया समग्र प्रत्यय ही विलीन होजाता है —

(i) वे शब्द जिनमें प्रत्यय सीधा धातु में जुड़ता है—

अभ्र (मेघ) 7 आम
आम्र 7 आम
चन्द्र 7 चाँद
गृध्र 7 गीध
व्याघ्र 7 बाघ
समुद्र 7 समुद, समन्दर

(ii) वे शब्द जहाँ धातु और प्रत्यय को कोई स्वर जोड़ता है —

चमर 7 चौंर
दर्दुर 7 दादुर
देवर 7 देवर
बदर 7 बेर
भ्रमर 7 भँवर, भौर
मन्दिर 7 मंदिर
श्वशुर 7 ससुर

(ग) लकारान्त शब्द—

इन शब्दों के अन्तर्गत संज्ञा-शब्द ही नहीं विशेषण-शब्द भी सम्मिलित हैं, जैसे—शीतल चंचल श्यामल शिथिल आदि। वे विशेषण-शब्द हिन्दी में प्राय आकारान्त तद्भव शब्दों के रूप में मिलते हैं जैसे साँवला ∠ श्यामल सीला ∠ शीतल ढीला ∠ शिथिल आदि किन्तु लकारान्त संज्ञा शब्द हिन्दी में भी प्राय अकारान्त ही रहते हैं। यह दूसरी बात है कि कहीं कहीं उनमें 'ल' के स्थान पर 'र' होजाता है। उदाहरण ये हैं —

कमल 7 कँवल
कम्बल 7 कम्मल कंबल
कवल 7 कौल कौर
कदल 7 केर
कुशल 7 कुशल

कोकिल 7 कोइल कोयल
पिप्पल 7 पीपल पीपर
मण्डल 7 मंडल
युगल 7 जुगल
शृङ्खल 7 सांकर संकर सांकल
अर्गल 7 आगल

(घ) बकारान्त शब्द—

इन शब्दों में से भी बहुत से विशेषण होते हैं जैसे—सब सर्व आदि
इनमें कहीं-कहीं हिन्दी में प्रत्यय बकार का आकार हो जाता है जैसे—सब ∠ सर्व
सब्य ∠ सभा किन्तु कुछ शब्द बकारान्त ही रहते हैं जैसे सर्व ∠ सब।
बकारान्त संज्ञाओं में प्रत्यय व का रूप सुरक्षित रहता है जैसे—

अश्व 7 अस्स
पूर्व (दिशा) 7 पूरब
बिम्ब 7 बम
पार्श्व 7 पास

उपान्त्य 'म्' वाले प्रकारान्त शब्द (मकारान्त शब्द)—

हिन्दी में इन शब्दों के कई रूप मिलते हैं।
(i) कहीं-कहीं प्रकार के साथ 'म्' सुरक्षित रहता है जैसे धाम ∠ धर्म
धरम ∠ धर्म नाम ∠ नाम धाम ∠ धाम काम ∠ कर्म चाम ∠ चर्म आदि।
(ii) कहीं-कहीं 'म' लुप्त होकर पूर्वाक्षर को दीर्घ कर जाता है जैसे-
कर्दम ∠ कादा कादा।
(iii) कहीं-कहीं उपान्त्य म्' लुप्त होकर अपने सहयोगी स्वर को दीर्घ
और सानुनासिक बना देता है जैसे—धूम 7 धुआं श्याम 7 सांवा सांवां।
(iv) कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों का प्रत्यय म' 'म के स्थान पर 'व' में
सुरक्षित रहता है जैसे—ग्राम 7 गांव नाम 7 नांव।
(v) कहीं-कहीं 'म' के स्थान पर 'उ' हो जाता है जैसे—ग्राम 7 गांउ
नाम 7 नांउ धाम 7 धांउ।

सूचना —'म' प्रत्यय के योग से पुल्लिंग तथा नपुंसक लिंग की संज्ञाएं बनती हैं।
इससे बहुत से विशेषण भी बनते हैं। श्याम स्याम आदि उदाहरणों से
विशेषणों का परिचय मिल सकता है। इससे बना हुआ शब्द प्रायः
अन्त्याक्षरबलाघात वाला होता है, किन्तु इससे बने हुए बहुत से शब्द
ऐसे भी हैं जिनमें बलाघात धातु अक्षर पर होता है। कर्दम धर्म आदि
शब्द इसी कोटि के हैं।

कुपान्त्य (क है उपान्त्य में जिसके) शब्द
या ककारान्त शब्द—

संस्कृत में 'क' प्रत्यय अति प्रयुक्त है और हिन्दी में भी इसका प्रयोग बहुत सामान्य है। यह अनेक वर्गों में विभक्त हो जाता है। इसका प्रयोग कृत् और तद्धित दोनों प्रत्ययों के रूप में होता है। इस प्रत्यय के युक्त शब्द जो संस्कृत में तद्धितान्त माने जाते हैं, हिन्दी में पूर्णतः कृदन्त माने जाते हैं।

'क'—यह प्रत्यय सामान्यतया धातु में किसी स्वर के द्वारा जुड़ता है। संज्ञाओं का निर्माण करने वाले अद्यपर्यन्त प्रचलित प्रत्ययाकार 'अक' 'इक' 'उक' 'आक' और 'ऊक' हैं। 'क' के योग से 'कर्त्ता' (agent) का अर्थ द्योतित होता है। आश्चर्य नहीं कि यह 'कर' का ही संक्षिप्त रूप हो।

संस्कृत और प्राकृतों में 'क' प्रत्यय का प्रयोग समान रूप से चला आया है, किन्तु ११–१२वीं शती में जबकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं मैदान में उतरने लगीं, संस्कृत ध्वनियों में भ्रम पैदा हो गया।

'क' प्रत्यय से बने हुए शब्दों के चार भेद हैं —

(१) कर्तृत्वबोधक शब्द—इस क्रम में वे शब्द आते हैं जिनसे सीधा कर्ता का अर्थ बोधित होता है जैसे—कारक पाचक वाचक सेवक आदि।

(२) कर्तृत्वसंकेतक शब्द—जिन शब्दों से कर्ता के अर्थ को सांकेतिक रूप से ग्रहण किया जा सकता है, वे कर्तृत्वसंकेतक शब्द कहलाते हैं जैसे—

(i) सरक–(सड़क) जो चलती ही रहती है।

(ii) द्योतक–(आँख का तारा) जो चमकता है।

(iii) पावक–(अग्नि) जो पावन करती है।

(iv) तमक–(मत्स्यमा) जो लोटता है।

ये शब्द अकर्मक क्रियाओं से बने हैं। सकर्मक क्रियाओं से बने शब्दों के उदाहरण देखिये —

(i) चित्रक–(चीता) जिस पर चित्ते पड़े हुए हैं।

(ii) खातक–(गड्ढा) जो खोदा गया है।

(iii) शुक (कमल) जो खिलता है।

(iv) सूतक–(जन्म) जो उत्पत्ति या प्रसव द्योतित करता है।

(३) कर्तृत्वलोपक शब्द—जो शब्द कर्तृत्व के अर्थ को बिल्कुल खो बैठे हैं वे इस वर्ग के हैं। ये शब्द शुद्ध संज्ञाएं हैं जैसे—

(i) कटक (सेना)–घेरनेवाला।

(ii) वृक (भेड़िया)–पकड़नेवाला।

(iii) मरक (बोअय)—पीड़ित करनेवाला।

(iv) मोक (वगद्)—बेरानेवाला।

(४) व्यर्थ या स्वार्थ प्रत्यय शब्द—

इस वर्ग में वे शब्द सम्मिलित हैं जिनमें 'क' प्रत्यय का कोई प्रयोजन नहीं है अथवा जिनके लगने से व्याकरण-रूप की जटिलता निवारित हो जाती है जैसे—

कटि से कटिका (कमर)
करण्ड से करण्डिका (टोकरी)
काल से कालक (काला)
गोल से गोलक (गोला)
जाल से जालक (जाल)
तन्तु स तन्तुक (धागा)

यह प्रत्यय संस्कृत संज्ञा शब्दों में प्रयोक्ता की इच्छा से कहीं भी जुड़ सकता है।

हिन्दी में संस्कृत के ककारान्त शब्द—

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि संस्कृत के सभी अकारान्त शब्द हिन्दी में अकारान्त नहीं बने रहते हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा परिवर्तन पर प्रकाश डाला जा चुका है। संस्कृत शब्दों में जुड़ा हुआ 'क' प्रत्यय परिवर्तन की किन किन गलियों में घूमता है उदाहरणों द्वारा यह भी अभी दिखाया जा चुका है। अब हम संस्कृत के उन शब्दों को लेते हैं जो मूल संज्ञा शब्द हैं और जिनमें 'अक' 'इक' 'उक' आक' और 'ऊक' का योग हुआ है। इनके अन्तर्गत पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के शब्दों को देखना है।

(१) अक प्रत्यय (पुल्लिंग में)—

हिन्दी तत्समों में यह प्रत्यय सुरक्षित है और कर्ता के अर्थ को द्योतित करने वाले शब्दों में भी सामान्यतया यह बना रहता है जैसे—कारक हारक ग्राहक आदि।

तद्भव शब्दों का बड़ा रोचक समूह है जो प्राकृतों की दीर्घ यात्रा करके हमारे पास आया है। 'अक'-प्रत्यय के 'क' का लोप हो जाने से प्राकृतों में 'अक' का 'अओ' रह जाता है। यही राजस्थानी और गुजराती में ओ रह जाता है किन्तु हिन्दी में इसका परिवर्तन 'आ' में हो जाता है। इस प्रकार हमें नीचे लिखे रूप मिलते हैं —

सं०		प्रा		राज०		हिं
ग्रामसक	7	ग्रामसओ	7	गाँवसो	=	गाँवसा
कण्टक	/	कटओ	7	काँटो	=	काँटा

घोटक	7	घोडओ	7	घोड़ो	=	घोड़ा
चित्रक	7	चित्तओ	7	चीतो	=	चीता
नियुत्रक	7	नियुत्तओ	7	नियूतो	=	नियूता
पत्रक	7	पत्तओ	7	पत्तो	=	पत्ता
पुस्तक	7	पोत्थओ	7	पोथो	=	पोथा
भाटक	7	भाडओ	7	भाड़ो	=	भाड़ा
मस्तक	7	मत्थओ	7	माथो	=	माथा
स्फोटक	7	फोडओ	7	फोड़ो	=	फोड़ा

'अक'—स्त्रीलिंग —

अक' प्रत्यय के स्त्री-रूप सदैव इका अन्त होते हैं, जैसे—स्फोटक से स्फोटिका। इसी प्रकार 'भाटक' से भाटिका (स्त्री०) शब्द बनता है।

सूचना —उक्त उदाहरणों को देख कर यह प्रत्यय होने लगता है कि संस्कृत के वे शब्द जिनके अन्त में 'क' होता है हिन्दी में आकारान्त हो जाते हैं जैसाकि घोड़ा (घोटक) सोना (सुवर्णक) पत्ता (पत्रक) आदि शब्दों से व्यक्त होता है।

नये शब्दों में भी 'अक' का प्रयोग मिलता है। कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए हम संस्कृत शब्दों तक, विशेषतः स्त्रीवाचक शब्दों तक पहुंच सकते हैं। इनमें से कुछ नामवाचक हैं। यदि इनकी व्युत्पत्ति के लिए हम उन स्त्री वाचक शब्दों को जिनके अन्त में 'इका' प्रत्यय आता है देखें तो ऐसा लगता है कि उन्होंने अस्य 'आ खोकर इ' को 'अ' में बदल दिया है। ठढ़क, बैठक आदि शब्दों की व्युत्पत्ति कुछ इसी प्रकार की है किन्तु इनसे संबंधित संस्कृत के स्त्री वाचक शब्द अप्राप्य हैं।

क-अन्त (स्त्रीवाचक) शब्द —

नये शब्दों में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अन्त में 'क' आता है, किन्तु उनका प्रयोग स्त्रीलिंग में होता है। इनसे तीक्ष्ण ध्वनि वेदना भयंकर या तीक्ष्ण व्यापार की सूचना मिलती है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं —

भटक	सनक	भटक	टपक
कसक	धड़क	भिड़क	टहक
कड़क	चटक	टसक	ठिठक
चमक	चटक	टमक	ठुनक
पड़क	दसक	बहक	फड़क

झटक ,	झटक	लपक	सटाक
भड़क	सटक	चसक	टसक
थिरक	भभक	झमक	तड़क
ढबक	ठुमक ,	झमक	धसक

ये सब संज्ञा शब्द हैं, जिनके अन्त में 'क' है। इनमें टोक, चौंक भौंक आदि शब्दों को सम्मिलित नहीं किया गया है क्योंकि इनमें 'क' कोई प्रत्यय नहीं है, वरन् शब्द का एक अंश है। उपर्युक्त सभी शब्दों का उपयोग धातु के समान भी किया जा सकता है। आकारान्त हो जाने पर ये शब्द सामान्य भूत का आशय भी व्यक्त करते हैं जैसे—आग भड़की और मोहन 'झटका'। जाना लेना, देना रहना आदि के योग से उक्त शब्दों से संयुक्त क्रियाएँ भी बनायी जा सकती हैं जैसे—लटक रहा है भड़क गया पटक दिया आदि प्रयोगों में।

राजस्थानी और गुजराती में अन्त्य 'अ' प्राय दीर्घ होता है जैसे भड़का झटका भटका आदि में अथवा 'ओ' भी हो जाता है जैसे भुड़को भड़को, झटको भड़को आदि। ब्रज भाषा में दूसरा प्रयोग चलता था किन्तु खड़ी बोली में पहला प्रयोग भी प्रचलित है। 'झटक' और 'झटका'—जैसे दो संज्ञा-प्रयोगों में अन्तर यह है कि अकारान्त प्रयोग स्त्री वाचक है और आकारान्त प्रयोग पुंल्लवाचक है।

इक—प्रत्यय —

यह प्रत्यय भी 'अक' के समान ही व्यवहार में आता है। तत्समों में 'क' बना रहता है किन्तु तद्भवों मे वह लुप्त हो जाता है। यहाँ 'इक' के 'क' के लुप्त होने पर 'इ' और 'अ' तथा बाद में इ+आ रह जाते हैं। 'अक' प्रत्यय के उदाहरणों मे 'क' के लोप से परिणाम अ+ओ (ब्रज भाषा में) तथा अ+आ (खड़ी बोली मे) होता है। इन दोनों दशाओं में 'अ' आगामी से दीर्घ 'आ' में लीन हो जाता है और 'इ' अनुवर्ती समान स्वर के न होने से विलय का विरोधी सिद्ध होता है इसलिए हमारे सामने दो प्रकार के शब्द-रूप आते हैं जिनमें से एक प्रकार के शब्दों का अन्त 'ई' में होता है और दूसरों का 'इआ', 'इया' या 'या' में होता है।

सूचना —हिन्दी के ईकारान्त शब्दों के संबंध में हमारे सामने एक कठिनाई आती है वह यह कि संस्कृत के 'इका' प्रत्यय वाले शब्दों के तद्भव-रूप ही ईकारान्त नहीं होते वरन् 'ईय' 'इन्, 'इक' और 'इका' प्रत्ययान्त शब्द भी हिन्दी में ईकारान्त हो गये हैं, जैसे —

ईय	—	पानीय	7	पानी
इन्	—	स्वामिन्	/	स्वामी दाई
		धनिन्	7	धनी

इक	—	मौक्तिक	7	मोती
इका	—	मक्षिका	7	मक्खी, माखी
		मृत्तिका	7	मिट्टी माटी
		कर्कटिका	7	ककड़ी
		कुञ्चिका	7	कूंची कुंची
		वाटिका	7	बाड़ी
		त्रोटिका	7	तोड़ी

सूचना —'इका' प्रत्यय वाले शब्द स्त्रीलिंग हैं, किन्तु 'इक' प्रत्यय वाले पुल्लिंग हैं।
'मौक्तिक' शब्द इसी प्रकार का है।

उक-प्रत्यय —

'अक' और 'इक' के समान ही उक प्रत्यय है। इसका निश्चय बड़ी आसानी से हो सकता है। इसका स्वर दूसरे प्रत्ययों में नहीं मिल सकता है। इसके संबंध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं —(i) एक तो यह कि 'उक' का पूर्णरूप केवल तत्समों में मिलता है। (ii) 'उक' का 'क' अपने अनुगामी 'अ' (स्त्रीलिंग में 'आ') के साथ लुप्त हो जाता है और उसकी पूर्ति 'ऊ' के दीर्घीकरण से हो जाती है। इस प्रत्यय से बने हुए शब्द 'कर्तृत्व' का द्योतन करते हैं जो या तो सीधा शब्द से ही व्यक्त हो जाता है अथवा उससे संकेतित हो जाता है। इस प्रत्ययवाले शब्दों के उदाहरण ये हैं —

	शब्द	क्रिया	अर्थ
१	उजाड़ू	उजाड़ना	उजाड़ने वाला
२	उतारू	उतारना	उतारने या उतरने वाला
३	काटू	काटना	काटने वाला
४	खाऊ	खाना	खाने वाला
५	खिलू	खेलना	खेलने वाला
६	पहरू	पहरा देना	पहरा देने वाला
७	मारू	मारना	मारने वाला
८	डाकू	डाकना	डाका डालने वाला
९	धकेलू	धकेलना	धकेलने वाला
१०	जागू	जागना	जागने वाला
११	टालू	टालना -	टालने वाला
१२	बिगाड़ू	बिगाड़ना	बिगाड़ने वाला

१३ पढ़् पढ़	पढ़ना	पढ़ने वाला
१४ रट्	रटना	रटने वाला

सूचना —हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनके रूप से तो 'कर्तृत्व' ही भासित होता है, किन्तु वास्तव में अर्थ 'कर्तृत्व' से संबंधित नहीं होता है। वे शब्द केवल नाम-सूचक संज्ञा शब्द हैं।

जैसे —

बालू	∠	बालुका
बीछू, बिच्छू	∠	वृश्चिक
मासू	∠	मस्सूक

'उक' प्रत्यय से बने हुए हिन्दी-शब्द-रूप

'उक' प्रत्यय से हिन्दी में दो प्रकार के शब्द-रूप बनते हैं। एक प्रकार के शब्द-रूपों में अन्त में 'ऊ' मिलता है और दूसरे प्रकार के शब्द-रूपों में 'उआ' मिलता है। दोनों के उदाहरण नीचे देखिये —

पढ़ू	पढ़ुआ
खाऊ	खउआ (खौआ)
गाऊ	गउआ गवैया
उड़ाऊ	उड़उआ (उड़ौआ)
मारू	मरुआ (मरौआ)

सूचना —व्रजभाषा में 'उआ' का प्रयोग स्वेच्छा से कहीं भी कर लिया जाता है जैसे 'बिटुआ' 'बबुआ' 'ननुआ' 'पसुआ' आदि शब्दों में। इनको सर्वत्र 'उक' प्रत्यय वाले तद्भवों से व्युत्पन्न मानना उचित न होगा। ऐसे प्रयोग दिल्ली, मेरठ, खुर्जा मुजफ्फरनगर आदि क्षेत्रों की बोली में भी मिल सकते हैं।

प्रेरणार्थक धातुओं से निर्मित ऊकारान्त संज्ञा-शब्द

'उक' का अवशेष हिन्दी की प्रेरणार्थक धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्दों में 'ऊ' के रूप में दिखायी देता है।

जैसे :—

प्रेरणा॰ धातु		ऊकारान्त हिन्दी तद्भव
फुसला	(फुसलाना)	फुसलाऊ
सिखा	(सिखाना)	सिखाऊ

उड़ा	(उड़ाना)	उड़ाऊ
टिका	(टिकाना)	टिकाऊ
बिका	(बिकाना)	बिकाऊ
बटा	(बटाना)	बटाऊ
घुसा	(घुसाना)	घुसाऊ
बसा	(बसाना)	बसाऊ
उठा	(उठाना)	उठाऊ
बीता	(बीतना)	बिताऊ

'आक'—प्रत्यय —

इस प्रत्यय से बने हुए हिन्दी शब्द अकारान्त होते हैं । हिन्दी में ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत सामान्य है, किन्तु आक' प्रत्यय से संबंधित एक प्रत्यय 'आकू' भी हिन्दी में बहुत प्रचलित है और इन दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग बिना किसी भेद-भाव के होता है । दोनों के उदाहरण ये हैं —

	आक'	'आकू'
१	उड़ाक	उड़ाकू
२	पैराक	पैराकू
३	लड़ाक	लड़ाकू

सूचना—कहीं-कहीं 'आक' प्रत्यय हिन्दी में 'आका' रूप भी धारण कर लेता है, जैसे—लड़ाका चड़ाका आदि ।

'ऊक'—प्रत्यय —

यह प्रत्यय संस्कृत में विरल है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इसका प्रयोग कम ही होता है । यह प्राय तत्सम शब्दों में ही सुरक्षित है जैसे — मण्डूक मधूक वावदूक आदि ।

सूचना—हिन्दी में प्रयुक्त तद्‌भवों में 'ऊक' का 'ऊ' कहीं—कहीं लुप्त हो जाता है जैस —मेंढक । कहीं-कहीं 'ऊक' का 'उआ' हो जाता है जैसे मधूक 7 महुआ ।

'त्र' प्रत्यय —

संस्कृत शब्दों में एक प्रत्यय 'त्र' भी प्रयुक्त होता है । इस से बने हुए शब्द 'करण' सूचक होते हैं । यह प्रत्यय हिन्दी-तद्‌भवों में दो प्रकार के परिवर्तन की सूचना देता है एक तो वह रूप जहाँ तत्सम 'त्र' का 'र्' लुप्त हो कर 'त' शेप रह जाता है, जैसे —

आधुनिक हिन्दी में 'ऋ' के स्थान पर 'इ' 'ई' तथा 'उ' होजाता है, जैसे—

मातृ 7 माइ, माई, मातु

पितृ 7 पिउ पितु

भ्रातृ 7 भाई भ्रातु

नप्तृ 7 नाती

हिन्दी में कुछ उदाहरणों में 'तृ' के स्थान पर 'ऊ' भी आजाता है, जैसे—

भ्रातृ 7 भाऊ

मातिपृ (स्वापितृ) 7 माऊ

बारितृ 7 बाऊ

सूचना—ऋकारान्त शब्दों का स्वरूप हिन्दी में कहीं-कहीं अकारान्त या आकारान्त भी मिलता है, जैसे—

मातृ 7 मात माता

भ्रातृ 7 भ्रात भ्राता

पितृ 7 पिता

अन् वन् मन्, तथा इन्—

इन प्रत्ययों में से पहले तीन के प्रयोगों में समानता होती है। इनसे बने हुए पुल्लिग शब्द प्रथमा एकवचन में आकारान्त होते हैं किन्तु नपुंसकलिंग के प्रथमा एकवचन के रूप अकारान्त होते हैं। हिन्दी में इनका प्रयोग पुल्लिग में होता है। 'राजन्' शब्द का प्रयोग सम्बोधन को छोड़कर सर्वत्र राजा ही होता है। नामन्, जन्मन्, पर्वन् आदि क्रमशः नाम जन्म पर्व आदि रूपों में प्रयुक्त होते हैं तथा दामन् चर्मन् प्रेमन् आदि भी क्रमश दाम चर्म प्रेम आदि रूपों में प्रयुक्त होते हैं।

'इन्' प्रत्यय वाले संज्ञा शब्द प्रथमा में ईकारान्त होते हैं। हिन्दी में इनका प्रयोग ईकारान्त होता है जैसे—स्वामिन् का स्वामी गृहिन् का गृही और धर्मिन् का धर्मी प्रयोग होता है।

'इ' 'नि' 'ति'—

'टाप्' और 'घञ्' प्रत्यय वाले स्त्रीवाचक शब्द ही हिन्दी में अकारान्त नहीं हो जाते वरन् बहुत से 'इ' 'नि' और 'ति' प्रत्यय वाले शब्द भी हिन्दी-तद्भवों में अकारान्त हो जाते हैं। इन प्रत्ययों के धातु में लगने से नामवाचक या भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं। हिन्दी के अनेक उदाहरणों में इन संज्ञाओं के अन्त में रहने वाली 'इ' का लोप होजाता है जैसे—

भगिन 7 भाग हानि 7 हान, मरणि 7 मरन गति 7 गत, मति 7 मत बसति 7 बसत आदि ।

हिन्दी में 'ति' प्रत्यय का प्रयोग तद्भव धातुओं के साथ स्वतंत्रता से होता है। कहीं-कहीं प्रत्यय इ' दीर्घ 'ई' हो जाती है और कहीं कहीं इकारान्त स्त्रीवाचक शब्द अकारान्त होजाते हैं जैसे—

बढ़ति = बढ़ती = बढ़त

भरति = भरती = भरत

बसति = बसती = बसत

लागति = लागती = लागत

सूचना—इस प्रत्यय का गलत प्रयोग फ़ारसी शब्दों में भी कर लिया जाता जैसे—कम+ती=कमती ज्यादा+ती=ज्यादती । इससे कई बड़े अपभ्रष्ट शब्द भी बन गये हैं जैसे बास्ती परवस्ती आदि। यदि 'परवस्ती' को 'परवस्ता' फ़ारसी विशेषण से व्युत्पन्न मान भी लें तो 'बास्ती' को कहाँ खोजा जाये ? इसका शुद्ध रूप ज्यादती ही है।

'अक्कड़'—

यह प्रत्यय भी धातु में लगकर उस व्यक्ति की सूचना देता है जिसका ऐसा स्वभाव बन गया है जैसे—

पीना (पी) पियक्कड़

भूलना (भूल) भुलक्कड़

घूमना (घूम) घुमक्कड़

औटी औती—

इन दोनों प्रत्ययों से जातिवाचक और भाववाचक दोनों प्रकार की संज्ञाएं बनती है। ये भी धातुओं में लगते हैं जैसे—

सकना सक+औटी = सकौटी

मनाना मना+औती = मनौती

कसना कस+औटी = कसौटी

फेरना फेर+औती = फिरौती

अक्कड़ —

धातु में लगकर यह प्रत्यय भी 'भाव' या स्वभाव वाले व्यक्ति का अर्थ व्यक्त करता है जैसे—

पकड़ना   पकड़+अक्कड़ = पकड़क्कड़
मटकना   मटक+अक्कड़ = मटक्कड़

एरा—

इस प्रत्यय के धातु में जुड़ने से जातिवाचक और भाववाचक दोनों प्रकार की संज्ञाएं बनती है जैसे—

बसना   बस+एरा = बसेरा
बढ़ना   बढ़+एरा = बढ़ेरा

ओड़ ओड़ा और ओरा—

धातु में इन प्रत्ययों के लगने से कर्तृ वाचक संज्ञाएं बनती है जैसे—

हँसना   हँस+ओड़ (ओड़ा) = हँसोड़ हँसोड़ा
चाटना   चाट+ओर (ओरा) = चटोर चटोरा

आड़ी—

यह प्रत्यय गुण-सूचक जातिवाचक संज्ञा का निर्माण करता है जैसे—

खेलना   खेल+आड़ी = खिलाड़ी
टालना   टाल+आड़ी = टलाड़ी
चलना   चल+आड़ी = चलाड़ी

क अक—

धातु में इन प्रत्ययों के लगने से जातिवाचक और भाववाचक दोनो प्रकार की संज्ञाए बनती है जैसे—

फाटना (फटना)   फाट+क = फाटक
बैठना   बैठ+क = बैठक

वाल—

धातु में इसके लगने से कर्तृ वाचक संज्ञाए बनती है, जैसे—

रखना   रख+वाल = रखवाल
घेरना   घेर+वाल = घेरवाल

सूचना—यह प्रत्यय 'पाल' से निकला है और इसका अर्थ 'पालना' होता है। 'कोतवाल' में भी यही प्रत्यय है।

ऐया—

धातु में लगकर यह प्रत्यय भी कर्तृ वाचक संज्ञा बना देता है जैसे—

गाना   गा+ऐया = गवैया
लड़ना   लड़+ऐया = लड़वैया
खाना   खा+ऐया = खवैया

हार—

यह प्रत्यय 'वाला' का अर्थ देता है। सामान्य क्रिया के साथ लगकर यह कर्तृ-वाचक संज्ञा का निर्माण करता है। सामान्य क्रिया का अन्त्य दीर्घ 'आ' ह्रस्व 'अ' होजाता है जैसे—

काटना	काटन+हार	= काटनहार
जाना	जान+हार	= जानहार
खाना	खान+हार	= खानहार

सूचना—इस प्रत्यय से कर्तृ वाचक संज्ञाए ही बनती हैं।

हा—

यह प्रत्यय धातु में लगकर 'स्वभाव वाले' की सूचना देता है जैसे—

काटना	काट+हा	= काटहा कटहा
रटना	रट+हा	= रटहा
चरना	चर+हा	= चरहा

सूचना—कभी-कभी यह तद्धित प्रत्यय का काम भी करता है जैसे-स्कूलहा मलिहा या वरिहा आदि।

अड़—

धातु में अड़ प्रत्यय के लग जाने से भी 'स्वभाववाले' की सूचना देने वाली गुणवाचक संज्ञा बनती है जसे—

खाना	खा+अड़	= खड़
मारना	मार+अड़	= मड़

ऐत—

धातु योग से यह प्रत्यय भी वाला—अर्थक संज्ञा का निर्माण करता है जैसे—

बांटना	बांट+ऐत	= बँटैत बाँटैत
लड़ना	लड़+ऐत	= लड़ैत

इसी अध्याय में पीछे किये हुए विवेचन में कृदन्त संज्ञाओं का विवेचन सामान्य ढंग से किया गया है। आगे उन संज्ञाओं का विवेचन किया गया है जो कृदन्त व रचनात्मक संज्ञाए हैं।

हिन्दी में अधिकांश संज्ञाए संस्कृत से ग्रहण की गयी हैं और संज्ञाओं के उस रूप संबंधित सिद्धान्त को हिन्दी ने अपने तद्भवों और देशजों में भी प्रयुक्त किया है। ऐसी क्रियाओं की सत्ता के कारण हम उन्हें 'मूल' मानते हैं। इन संज्ञाओं के अनेक

रूपों के अनेक वर्ग हैं। उन्हीं का विवेचन यहाँ अभीष्ट है। इस विवेचन का प्रमुख आधार प्रत्ययमूलक है। ये संज्ञाएं भाववाचक हैं —

'आई' 'ई'

प्रेरणार्थक धातुओं की प्रकृति में 'ई' प्रत्यय के योग से व्यापार व्यवसाय या पारिश्रमिक सूचक संज्ञाएं बनती हैं जैसे —

सामान्य क्रिया	प्रेरणार्थक क्रिया	भाववाचक संज्ञा
धोना	धुलाना	धुला+ई=धुलाई
गाँठना	गँठाना	गँठा+ई=गँठाई
पुछना	पुछाना	पुछा+ई=पुछाई
सेकना	सिकाना	सिका+ई=सिकाई
ढोना	ढुलाना	ढुला+ई=ढुलाई
बटना	बटाना	बटा+ई=बटाई
चरना	चराना	चरा+ई=चराई
पीसना	पिसाना	पिसा+ई=पिसाई
झलकना	झलाना	झला+ई=झलाई

'उ' तथा 'व'—

प्रेरणार्थक प्रकृति के बाद 'उ' या 'व' लगने से 'स्थिति' या 'दशा' की सूचक संज्ञाएं बनती हैं, जैसे —

सामान्य क्रिया	प्रेरणार्थक क्रिया	संज्ञा
अटकना	अटकाना	अटकाउ=अटकाव
खींचना	खिंचाना	खिंचाउ=खिंचाव
जमना	जमाना	जमाउ=जमाव
घिसना	घिसाना	घिसाउ=घिसाव
घूमना	घुमाना	घुमाउ=घुमाव
छिपना	छिपाना	छिपाउ=छिपाव
बचना (बिकना)	बिकाना	बिकाउ=बिकाव
दुरना	दुराना	दुराउ=दुराव

'आहट' —

ध्वनिमूलक शब्दों में 'आहट' प्रत्यय लगा कर भाववाचक संज्ञाएं बनायी जाती हैं। स्मरण रखने की बात है कि क्रियाओं की प्रकृति में ध्वनिसूचक संज्ञा शब्द भी निहित होते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं —

गड़गड़ाना	गड़गड़+आहट	=गड़गड़ाहट
झुँझलाना	झुँझल+आहट	=झुँझलाहट

भनभनाना	भनभन+आहट	=भनभनाहट
भिनभिनाना	भिनभिन+आहट	=भिनभिनाहट

सूचना—कुछ अन्य शब्दों में लग कर भी यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण कर देता है जैसे—मुस्कुराहट घबराहट खिसियाहट, चमचमाहट थरथराहट आदि।

'आवट' या वट

यह प्रत्यय भी प्रेरणार्थक प्रकृति से भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करता है जैसे—

घोला	घुमाना	घुमावट
सजना	सजाना	सजावट
मिलना	मिलाना	मिलावट
तनना	तनाना	तनावट
घूना	घुवाना घुहाना	घुहावट
चमकना	चमकाना	चमकावट
चुनना	चुनाना	चुनावट
बनना	बनाना	बनावट

आव'—

यह प्रत्यय सामान्य धातु में लगता है और भाववाचक संज्ञा का निर्माण करता है जैसे—

चढ़+आव	=	चढ़ाव
तन+आव	=	तनाव
घूम+आव	=	घुमाव
पट+आव	=	पटाव
घुस+आव	=	घुसाव
घिर+आव	=	घिराव
सूझ+आव	=	सुझाव
मल+आव	=	मलाव
जम+आव	=	जमाव

सूचना—कहीं-कहीं यह प्रत्यय जातिवाचक संज्ञाओं में लगकर भाववाचक बना देता है, जैसे—पत्थर (पाथर) से 'पथराव'

'आवन'—

इससे बिगड़ कर औने औना' तथा 'आन' प्रत्यय बन जाते हैं किन्तु ये

प्रत्यय प्राय वही काम नहीं करते जो 'आवन' करता है। इन प्रत्ययों के संयोग से बने हुए बिछौना खिलौना आदि शब्द जातिवाचक संज्ञाओं के उदाहरण भी बनते हैं, किन्तु, 'आवन' प्रेरणार्थक क्रिया-प्रवृत्ति में लग कर भाववाचक संज्ञा बना देता है जैसे—

सामान्य क्रिया	प्रेरणार्थक क्रिया	भाववाचक संज्ञा
पहिरना	पहिराना	पहिरावन
बढ़ना	बढ़ाना	बढ़ावन
मरना	मराना	मरावन
खिलना	खिलाना	खिलावन
चिनना	चिनाना	चिनावन
बिछना	बिछाना	बिछावन
छूटना	छुटाना	छुटावन
धंसना	धंसाना	धंसावन धंसान
थकना	थकाना	थकान'
उठना	उठाना	उठान

'ऐती'

यह प्रत्यय धातुओं में लग कर भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करता है, जैसे—

चढ़+ऐती = चढ़ैती बाँट+ऐती=बँटैती
पढ़+ऐती = पढ़ैती लड़+ऐती=लड़ैती
डाक (चिल्लाना) +ऐती=डकैती

सूचना—कभी कभी 'ऐती' प्रत्यय संज्ञाओं में भी लगजाता है किन्तु परिणाम भाववाचक संज्ञा का निर्माण होता है जैसे मठ+ऐती=मठैती

'अ' प्रत्यय—

यह प्रत्यय हिन्दी क्रियाओं की धातुओं में निहित है, अतएव हिन्दी की कई अकारान्त धातुएं भी भाववाचक संज्ञाओं का काम करती हैं, जैसे—

कूटना	से	कूट
छाँटना	से	छाँट
लूटना	से	लूट
फूटना	से	फूट
टूटना	से	टूट
रगड़ना	से	रगड़
पकड़ना	से	पकड़
ऐंठना	से	ऐंठ
काटना	से	काट

अकारान्त धातुओं से बनी हुई कुछ भाववाचक संज्ञाएं पुल्लिंग में प्रयुक्त होती हैं जैसे—

बिगाड़ना	से	बिगाड़
सुधारना	से	सुधार
निबाहना	से	निबाह
बाँटना	से	बाँट (माप)
डरना	से	डर

स प्रास—

'स' या 'प्रास' प्रत्यय के योग से भी अकारान्त भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं। यह प्रत्यय धातु या उसकी प्रेरणार्थक प्रकृति में या विशेषण में लगता है। धातु में लगने पर इसका कृदन्त रूप सामने आता है और विशेषण में लगने पर तद्धित रूप जैसे—मीठा से मिठास खट्टा से खटास आदि। कृदन्त शब्दों के उदाहरण नीचे देखिये—

ऊंघना	ऊंघ+आस	=	ऊंघास
पीना	पी+आस	=	प्यास
मूतना	मूत+आस	=	मुतास
हगना	हग+आस	=	हगास
रोना	रो+आस	=	रुआस

सूचना—धातु से बने हुए शब्दों को आकारान्त कर देने पर भाववाचक संज्ञाओं से विशेषण बन जाते हैं जैसे—

प्यासा मुतासा हगासा रुआसा आदि

'त'—

हिन्दी की कुछ धातुओं में 'त' प्रत्यय के योग से भी भाववाचक संज्ञाएं बन जाती हैं जैसे—

पढ़+त	=	पढ़त
बच+त	=	बचत
लिख+त	=	लिखत
खप+त	=	खपत आदि।

ये शब्द बढ़ती घटती आदि से बने हुए 'बढ़त' 'घटत' से बहुत मिलते हैं किन्तु एक नहीं हैं।

औवल—

यह प्रत्यय धातुओं में लग कर भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करता है। जैसे—

बूझना	बूझ	बूझ+औवल=बुझौवल
फूटना	फूट	फूट+औवल=फुटौवल

मीचना मींच मींच+मीचस=मिचौवस

'अन्त'—

यह प्रत्यय भी धातु में लग कर भाववाचक संज्ञाएं बनाता है जैसे—

रटना	रट+अन्त	=	रटन्त
गढना	गढ+अन्त	=	गढन्त
भिड़ना	भिड़+अन्त	=	भिड़न्त
चढना	चढ+अन्त	=	चढन्त

आन'—

धातु के साथ लग कर यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञा बनाता है जैसे—

उठना	उठ+आन	=	उठान
चढना	चढ+आन	=	चढान
कटना	कट+आन	=	कटान
छूटना	छूट+आन	=	छूटान

आप आव—

प्रेरणार्थक धातुओं से भाववाचक संज्ञाएं बनाने वाले ये दोनों प्रत्यय एक ही काम करते है। कहीं-कहीं 'आप' के 'प' का 'व' भी हो जाता है। उदाहरण नीचे है—

मिलाना	मिला+आप	=	मिलाप मिलाव
पुजाना	पुजा+आप	=	पुजाप पुजाव पुजापा
बचाना	बचा+आव	=	बचाव
घटाना	घटा+आव	=	घटाव
घिराना	घिरा+आव	=	घिराव
चढाना	चढा+आव	=	चढाव

सूचना कुछ विद्वान् 'आव' के स्थान पर 'व' प्रत्यय ही मानते है। इससे भाववाचक संज्ञा के निर्माण में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आव' या 'व' के स्थान पर 'आवा' या 'वा' भी हो जाता है और वही अर्थ देता है जैसे— भुलावा सजावा आदि।

न ना नी—

इनमें प्रमुख प्रत्यय 'न' है। 'ना' और 'नी' उसके विभिन्न रूप है। 'न' प्रत्यय धातुओं के साथ लग कर भाववाचक संज्ञाएं बनाता है जैसे—

रहना	रह+न	=	रहन
सहना	सह+न	=	सहन
रटना	रट+न	=	रटन
गढना	गढ+न	=	गढन

तद्धित प्रत्यय एवं गौण अथवा यौगिक संज्ञा शब्द

अन्यत्र कहा जा चुका है कि 'कृत्' प्रत्यय से मूल शब्दों का निर्माण होता है और तद्धित प्रत्यय 'कृत्' से बने हुए शब्दों में लगकर अन्य शब्दों का निर्माण करते हैं जो मूल या मुख्य शब्द न होकर गौण या अमुख्य (Secondany) होते हैं। तद्धित प्रत्ययों के योग से शब्द के अनेक वर्ग निर्मित होजाते हैं किन्तु यहां केवल संज्ञाओं का ही विवेचन किया जायेगा।

संज्ञाएं अनेक प्रकार से बनती हैं। एक प्रकार तो यही है कि वे धातु या क्रिया से सीधी बनती हैं। उनमें 'कृत्' प्रत्यय का योग होता है किन्तु उनमें भी अनेक तद्धित प्रत्यय लगकर अन्य संज्ञा शब्द बन जाते हैं। वे मूल शब्द न होकर गौण शब्द ही होते हैं।

यौगिक संज्ञा शब्दों में से कुछ तो व्यक्ति, वस्तु या जाति का बोध कराते हैं। उनका निर्माण उक्त प्रकार से होता है। दूसरे प्रकार की संज्ञाएं भाववाचक होती हैं जो अन्य संज्ञाओं विशेषणों सर्वनामों या क्रियाओं से भी तद्धित प्रत्यय के योग से बनाली जाती हैं। हिन्दी क्रियाओं और सर्वनामों से प्रायः भाववाचक संज्ञाएं निर्मित नहीं होती। कुछ प्रयोग संस्कृत के अवशेष रूप में हिन्दी की हांसि कुछ रहे हैं जैसे—

(क) सर्वनाम शब्द	भावात्मक संज्ञाएं
अहं	अहंता
मम	ममता
(ख) क्रियापद	भाववाचक संज्ञाएं
अस्मि	अस्मिता
अस्ति	अस्तित्व

भाववाचक संज्ञाओं के ये रूप भी गौण ही हैं क्योंकि इन शब्दों का निर्माण मूल या मुख्य शब्दों से हुआ है। गौण भाववाचक संज्ञा शब्दों के नमूने आगे दिये जायेंगे।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भाववाचक संज्ञाएं कुछ प्रत्ययों के योग से अपने रूप को ढालती हैं और वे प्रत्यय तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के के होते हैं। हिन्दी ने कुछ अपने प्रत्यय भी तैयार किये हैं 'क' 'का' 'हट' आदि

प्रत्यय हिन्दी की अपनी उत्पत्ति है। कुछ प्रत्यय संस्कृत से यात्रा करके हिन्दी में आये हैं और उन्होंने अपना रूप 'इत' से निकले हुए 'इया' की भांति बदल लिया है।

तत्सम प्रत्यय प्राय तत्सम शब्दों में ही लगते हैं। यों तो उनको तद्भव शब्दों में भी लगाया जा सकता है किन्तु वे शोभा नहीं देते। व्यवहार में न दीखने के कारण आँखों और कानों को अटपटे से लगते हैं। उदाहरण के लिए 'लड़कत्व' 'बूढ़त्व' आदि शब्द उपहास्य प्रतीत होते हैं किन्तु लड़कपन लरिकाई बुढ़ापा आदि शब्दों में अटपटापन प्रतीत नहीं होता।

तत्सम प्रत्ययों के साथ तत्सम शब्दों से बनी हुई भाववाचक संज्ञाओं के उदाहरण देना व्यर्थ है। उनकी एक बहुत बड़ी परम्परा और संपत्ति है। 'इमन्,' 'त्व' ता' आदि प्रत्यय इसी वर्ग के हैं और रक्तिमा कुमिलमा अवरिमा मधुरिमा वासत्व प्रभुत्व आदि शब्द उक्त प्रत्ययों के योग से सिद्ध संज्ञाओं या विशेषणों से बने हैं।

भाववाचक संज्ञाओं में कुछ 'संकर' शब्द भी मिलते हैं जिनमें शब्द फारसी आदि भाषाओं के तथा प्रत्यय हिन्दी के हैं जैसे—नेकी बेकी कमी आदि। कुछ विदेशी प्रत्ययों ने भी शब्दों के निर्माण में योग दिया है किन्तु उन्होंने अपनी निर्माण-प्रक्रिया में भारतीय रूप ग्रहण किया है। ममस' आदि शब्द 'तपिश' आदि की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर भी अपना परिचय भारतीय ढंग से दे रहे हैं।

'आई'—

हिन्दी की तद्धितान्त भाववाचक संज्ञाओं के निर्माण में इस प्रत्यय का बहुत बड़ा योग है। हार्नली ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत—'तिका' से जिसमें 'क' का निरर्थक योग है बतलायी है। 'मिठाई' का उदाहरण लेकर उसे इस प्रकार सिद्ध किया गया है—

मिष्टतिका 7 मिट्ठइआ 7 मिठाई

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस सम्बन्ध में हार्नली से अपना मतभेद प्रकट करते हुए आई' की व्युत्पत्ति णिजन्त—आप्+इका से बतलाई है जिसका मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओं में आविआ आविअ आवी 7 आई। रूप होता है यथा—परिखापिका 7 पहिराइआ 7 पहिराई।

डा० बाबूराम सक्सेना ने भाववाचक संज्ञाओं के निर्माता 'आई' प्रत्यय की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के 'ताति' प्रत्यय से मानी है। वे ताति से 'आइ' (आई) इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

ज्येष्ठताति (वैदिक) 7 जेट्ठाइ (प्रा०) 7 जिठाई (हि)। वैदिक भाषा में 'ताति' प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषण पदों से भाववाचक संज्ञा बनाने में

किया जाता था। तद्धित प्रत्यय के रूप में हिन्दी में भी वही पद्धति भाववाचक संज्ञा के निर्माण में प्रचलित है, जैसे—

सरिका + आई = लरिकाई (रामचरितमानस)
बूढ़ा + आई = बुढ़ाई
सीधा + आई = सिधाई
मीठा + आई = मिठाई
मला + आई = मलाई

आका—

अनुरणनात्मक शब्दों से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए इस प्रत्यय का उपयोग किया जाता है जैसे—धड़ (ध्वनि) + आका = धड़ाका पट (ध्वनि) + आका = पटाका चट (ध्वनि) + आका = चटाका। हार्नली ने इसकी व्युत्पत्ति 'आपक' (सं) से किन्तु डा० चटर्जी ने 'अक्क' (प्रा०) से बतलायी है।

'ई'

यह हिन्दी का बहुत अधिक प्रसिद्ध प्रत्यय है। भाववाचक संज्ञाओं के निर्माण में इसका प्रचित योग है। कृदन्त रूप में तो यह भाववाचक संज्ञा बनाता ही है, तद्धित रूप में भी इसका निर्माण कार्य भाववाचक संज्ञा के क्षेत्र में प्रसिद्ध है। संज्ञाओं और विशेषणों में लगकर ही यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञाए बनाता है जैसे—सठैत + ई = सठैती मठैत + ई = मठैती फिरौत + ई = फिरौती कठौत + ई = कठौती परेस + ई = परेसी (परेसाई)

डा० उदयनारायण तिवारी का मत है कि इस प्रत्यय का सम्बन्ध संस्कृत 'इक' अथवा 'इका' प्रत्यय से है। इससे म० भा० आ० में 'इअ' अथवा 'इआ' और हिन्दी में 'ई' हुआ।

पन—

इस प्रत्यय के योग से अवस्था-सूचक भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं जैसे बच्चा + पन = बचपन पागल + पन = पागलपन बड़ा + पन = बड़प्पन लड़का + पन = लड़कपन।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के 'त्वन से मानी जाती है। वैदिक भाषा में 'मत्यत्वन' महित्वन वसित्वन जैसे अनेक शब्द मिलते हैं। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

त्वन 7 प्पण 7 पन।

प पा—

इस प्रत्यय से भी अवस्था-सूचक भाववाचक संज्ञाए बनती है, जैसे बुढ़ापा मुटापा अपनपा, आपप आदि।

इसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'त्व' प्रत्यय से इस प्रकार हुई मानी जाती है—त्व 7 प्प 7 प, पा। जैसे-वृद्धत्व 7 बुड्ढप्प 7 बुढ़ापा भ्रातृत्व 7 भाइप्प 7 भाइप भायप रण्डत्व 7 रण्डप्प 7 रंडापा।

आवट वट—

इस प्रत्यय की उत्पत्ति 'आवर्त' से इस प्रकार हुई है—

आवर्त 7 आवट्ट 7 आवट।

उदाहरण—

सज्जावर्त 7 सज्जावट्ट 7 सजावट

इसका प्रयोग एक ओर 'मेल' 'खोट' आदि संज्ञाओं के साथ होता है तो दूसरी ओर धातुओं की प्रेरणार्थक प्रकृति के साथ जैसे—

सजना	सजाना	सजा+आवट=सजावट
देखना	दिखाना	दिखा+आवट=दिखावट
खोलना	खुलाना	खुला+आवट=खुलावट

आवट' और 'वट' का प्रयोग मिश्रित रूप से होता है। धातु की प्रेरणार्थक प्रकृति सदैव आकारान्त होती है जिसमें 'आवट' और 'वट' दोनों का व्यवहार मिश्रित होता है। 'वट' की व्युत्पत्ति पृथक रूप से 'वर्त' से भी मानी जा सकती है।

आहट आट—

यह प्रत्यय हिन्दी में प्रायः तद्धित रूप में ही प्रयुक्त होता है। प्रायः ध्वनि वाचक संज्ञाओं अथवा विशेषणों के साथ लगकर यह भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करता है जैसे—

'झनझन' (ध्वनि)+आहट=झनझनाहट

झिनझिन' (ध्वनि)+आहट=झिनझिनाहट,

'खनखन' (ध्वनि)+आहट=खनखनाहट

कड़ुवा+आहट=कड़ुवाहट

चिकना+आहट=चिकनाहट

कहीं-कहीं बीच के 'ह' के लोप से केवल 'आट' रह जाता है और तब इससे भाववाचक संज्ञाएँ 'भिनभिनाट' जैसा रूप धारण करती है।

इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। हार्नली इसका सम्बन्ध सं० 'धृति' 'वृत्त' या 'वार्त' से मानते हैं जो प्रा० में वट्टी वट्ट या वत्ता होजाते हैं बीम्स के अनुसार इसकी उत्पत्ति सं० 'मन्तु' या 'मातु' से हुई है। टर्नर ने इसकी उत्पत्ति का अनुमान इस प्रकार किया है—

प्रा० भा० भा० पा० वा 7 प्रा० हा+आवट

डा० उदयनारायण तिवारी ने क्रियामूलक विशेष्य-पदों की निर्मिति में इस

प्रत्यय के योग की बात कही है। मेरी दृष्टि में यह प्रत्यय तद्धित का कार्य भी करता है जो प्रायः ध्वनिवाचक संज्ञाओं में लगता है।

इसकी उत्पत्ति संभवतः सं० 'आहृति' से इस प्रकार हुई है—

आहृति 7 आहट्टि 7 आहटि या आहट

सूचना—इसका प्रयोग 'कड़ुवा' 'चिकना' आदि कुछ विशेषणों को भाव वाचक संज्ञाएं बनाने के लिए होता है।

'आस' 'स'—

विद्वानों का ऐसा विचार प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रत्यय एक ही स्रोत से आये हैं। डा० उदयनारायण तिवारी इसे 'आप्+श' से और हार्नली 'वाञ्छा' से व्युत्पन्न मानते हैं। मैं 'स' को फारसी प्रत्यय 'श' (जैसे 'तपिश' 'रविश') से व्युत्पन्न मानता हूं। बमस हुमस आदि भाववाचक संज्ञाएं इसी प्रत्यय से बनी हैं तथा 'आस' प्रत्यय 'आश' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। जहां यह प्रत्यय लगता है 'स्वाद का भाव व्यक्त होता है। यह प्रत्यय प्रायः रसवाचक विशेषणों में लगता है जैसे—

मीठा+आस=मिठास

खट्टा+आस=खटास

सीठा+आस=सिठास

सूचना—(१) चरमास आदि शब्द फारसी के 'श' प्रत्यय के विकार 'स' के योग से ही बने हैं।

(२) पियास मुतास आदि शब्दों में जो 'आस' प्रत्यय है उसकी उत्पत्ति संभवतः सं० एषा (इच्छा) से हुई है जैसे—

मूत्र+एषा (मूत्रैषा) 7 मुत्तास 7 मुतास

निद्रैषा 7 निद्दास 7 निदास

उपर्युक्त विवेचन से गौण भाववाचक संज्ञा शब्दों के निर्माण की पद्धति और उनके स्वरूप की अवगति हो सकती है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से गौण संज्ञा-शब्द दिखायी देते हैं जिनके निर्माण में कितने ही उक्त प्रत्ययों के अलावा और प्रत्यय भी उपयोग में आते हैं। ऐसे शब्दों में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से बनी हुई वह परिवार या स्रोत की सूचना देने वाली जातिवाचक लघुवाचक तथा अपत्यवाचक संज्ञाएं भी सम्मिलित हैं।

प्रथम प्रकार की संज्ञाएं अपने मूल रूप में विशेषणवत् प्रयुक्त होती थी किन्तु हिन्दी में इनका प्रयोग प्रायः जाति या वर्ग सूचना के निमित्त होता है जैसे—अजमेरा अजमेरी आदि। इन शब्दों में 'आ' 'ई' तथा 'इया' प्रत्यय काम करते हैं।

आ ई इया—

इनकी उत्पत्ति 'ईय' प्रत्यय से मानी जा सकती है। 'ईय' ही घिसता घिसता—

'इया' होकर 'या' और 'ई' रह गया है, अतएव अजमेरा अजमेरी जयपुरिया जयपुरी आदि रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ समस्त और उपान्त्य अक्षर ह्रस्व होते हैं वहाँ प्राय 'आ' प्रत्यय नहीं लगता। यही कारण है कि 'जयपुरा' अथवा 'रामनगरा' जैसे शब्द नहीं बनते हैं।

वाल वाला—

इन प्रत्ययों का उद्‌गम संस्कृत के 'पाल या पालक' से हुआ प्रतीत होता है जो प्राकृत में वाल या वालय और हिन्दी में वाल या वाला हुए हैं। मूल में इनका अर्थ 'रक्षक' या 'अधीश' रहा होगा बाद में ये स्थान या वस्तु से सम्बन्ध सूचित करने लगे जैसे—जायसवाल पल्लीवाल झुन्झुनू वाला पानवाला आदि। ये शब्द भी स्रोत या उद्‌गम की सूचना देते हुए सम्बन्ध व्यक्त करते हैं।

वत—

वंश परिवार या पद की सूचना देने वाला एक प्रत्यय 'वत' भी है। इससे सेखावत चूडावत जदूनावत आदि शब्दों का निर्माण होता है। कभी-कभी इससे 'रामावत' जैसे शब्द भी बने देखे जाते हैं। इस स्थिति म यह प्रत्यय सम्प्रदाय को सूचना देता है। यह प्रत्यय दो भिन्न शब्दों से विकसित हुआ है। वंश की सूचना देने वाला मूल शब्द 'पुत्र' है जिससे 'उत्त' पुत्त और फिर 'उत' 'औत' और 'वत' का आविर्भाव हुआ है। बेठोत मनोत राजावत भालावत आदि शब्द इसी प्रत्यय से निर्मित हुए हैं।

इस प्रत्यय का दूसरा उद्‌गम 'वतुप' प्रत्यय है जो 'वान्' न होकर 'वत' होगया है। 'भट्टगावत' जैसे शब्दो का निर्माण करता हुआ 'वत' प्रत्यय 'पद' की सूचना देता है और 'रामावत' जैसे शब्दों में यह सम्प्रदाय का अर्थ संनिविष्ट करता है।

ई—

यह हिन्दी का अतिप्रचलित प्रत्यय है। इससे संज्ञा सर्वनाम विशेषण आदि अनेक शब्द निर्मित हो जाते हैं। देश पुण व्यवसाय और जाति की सूचना के लिए प्राय इसी प्रत्यय का उपयोग किया जाता है, जैसे—

लखी (लाक्षिक) तंबोली (ताम्बोलिक) तैली (तैलिक) भू ली (मौलिक)
काती (कातिक) राठी (राष्ट्रिय) सिंधी (सिन्धीय)
भाती (भातीय) कोढ़ी (कुष्ठिन्) रोगी (रोगिन्)
केहरी (केसरिन्) दंडी (दण्डिन्) आदि शब्द इसी प्रत्यय से बने हैं।

इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'इक' 'इका' 'इय' 'इया' 'ईना' 'ईय' तथा 'इन्' प्रत्ययों से हुई है। 'इन्' के अतिरिक्त अन्य सब संस्कृत प्रत्ययों से 'इय' या

'इमा' होकर हिन्दी में 'ई' हागया है। माली कोढ़ी मादि शब्द भी 'ई' (∠इन्)
के योग से बने हैं।

'आर'—

यह प्रत्यय 'कार' से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ 'करने वाला' होता है
जैसे चमार ∠ चम्म-आर ∠ चमकार कुम्हार ∠ कुम्हार ∠ कुम्भकार सुनार
∠ सण्णार ∠ स्वर्णकार।

आर' प्रत्यय के और भी कई स्रोत हैं। उनमें से एक 'आगार' और
दूसरा आगार' है जैसे गँवार ∠ गम्म आर ∠ ग्राम्यागार मंडार ∠ भण्ड
आर ∠ भाण्डागार आदि।

'आरी'—

यह प्रत्यय 'कारिक' (सं०) से प्रा० में आरिम होकर हिन्दी में 'आरी'
हो गया है जैसे—

भिक्षाकारिक 7 भिक्ख-आरिम 7 भिखारी पूजाकारिक 7 पूजा
आरिम 7 पुजारी द्यूतकारिक 7 जुआरिम 7 जुआरी

सूचना—'आर' की भाँति 'आरी' की उत्पत्ति के अन्य स्रोत आहारिन्
आचारिन् आगारिन् अथवा आमारिक आचारिक आगारिक भी हो
सकते हैं, जैसे—

भाण्डागारिक 7 भंडाआरिम 7 भंडारी भिक्षाचारिन् 7 भिक्ख-आरी
' भिखारी भिक्षाहारी 7 भिक्खआरी 7 भिखारी।

आल—

यह प्रत्यय 'कुल' शब्द से विकसित हुआ है, किन्तु यह विकास तभी होता
है जब 'कुल' किसी समस्त पद का प्रधान उत्तरपद होता है जैसे—

देवकुल 7 देवउल 7 देवल।

राजकुल 7 राअउल 7 रावल (राउल)

आस आसा—

ये दोनों प्रत्यय संस्कृत शब्द आसय' से व्युत्पन्न हैं। विकास इस प्रकार
हुआ है —

आशय 7 आसय 7 आस आसा। जैसे—

दीपाशय 7 दीवासय 7 दीवास घटिकाशय 7 घड़िआसय 7 घड़ियास
शिवाशय 7 सिवासय 7 सिवासा श्वसुराशय 7 ससुरासय 7 ससुराल।

सूचना—'सिवाल शब्द में आस' प्रत्यय का स्रोत आशय' के अतिरिक्त
संस्कृत के 'आस' (यथा कासास) प्रत्यय में भी खोजा जा सकता है।

आली—

इस प्रत्यय की उत्पत्ति 'आवली' (समूह, पंक्ति) शब्द से हुई है। यह शब्द भी जब किसी तत्पुरुष समास का उत्तर पद होता है तभी इस रूप को प्राप्त होता है जैसे—

दीपावली > दीवाली > दिवाली।

ऐत—

गुणवाचक संज्ञाएं बनाने के लिए हिन्दी में 'ऐत' प्रत्यय का उपयोग किया जाता है जैसे—

लठ+ऐत = लठैत
मठ+ऐत = मठैत
डाक+ऐत = डाकैत

इस प्रत्यय का विकास संस्कृत 'इत' प्रत्यय से हुआ है। कहीं — कहीं इस प्रत्यय से बने हुए शब्द विशेषण की भांति भी प्रयुक्त होते हैं।

एल एली—

इनकी उत्पत्ति सं० 'इल' से इस प्रकार हुई है —

इल > इल्ल > एल
पट्टिल > पटिल्ल पट्टिल्ल > पटेल
हस्तिल > हत्थिल्ल > हथेली (स्त्री०)

सूचना—'ऐल' और 'ऐला' प्रत्यय भी संस्कृत 'इल' से ही विकसित हुए हैं। 'खपरैल' (छाजन के खपरे) जैसे-शब्द इसी प्रत्यय से बने हैं। संज्ञा शब्दों के अलावा इनसे विशेषण भी बनते हैं, जैसे 'गुसैल' बनैल आदि।

एरा—

इस प्रत्यय से अनेक प्रकार की संज्ञाएं बनती हैं जैसे—

(क) ममेरा चचेरा फुफेरा
(ख) कसेरा चितेरा कमेरा

क-श्रेणी के शब्दों में जिस 'एरा' प्रत्यय का प्रयोग होता है उसका विकास प्राकृत केरस-केर > एर (+आ) से हुआ है।

ख-श्रेणी के शब्दों में प्रयुक्त 'एरा' का विकास 'कार' से इस प्रकार हुआ है—कार > आर > एर जैसे—

चित्रकार > चत्तआर, चित्तआर > चितेरा
कर्मकर > कम्मअर > कमेरा

आ ई—

ये संस्कृत के 'क' प्रत्यय से उत्पन्न हुए हैं। पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग के भेद से इनके रूप 'आ' और 'ई' हो जाते हैं। जैसे—

भ्रातृक (पु॰) > भत्तिज्ज > भतीजा

भ्रातृका (स्त्री॰) > भत्तिज्जा > भतीजी

डा॰ उदयनारायण तिवारी इसको 'आत' से प्रसूत बतलाते हैं।

अपत्यवाचक संज्ञाएं —

हिन्दी में अपत्यवाचक संज्ञाओं का प्रयोग बहुत कम होता है। अधिकांश प्रयोग 'तत्सम' रूप में हैं। कौन्तेय दाशरथि (दाशरथ) भागिनेय आदि प्रयोगों के साथ 'भाणेज' या 'भानेज' जैसे कुछ प्रयोग भी प्रचलित हैं।

लघुवाचक संज्ञाएं —

लघुवाचक संज्ञाओं की बहुलता हिन्दी की अपनी विशेषता है। ये संज्ञाएं आकार, दया प्रियता आदि की दृष्टि से वक्ता या लेखक का तुच्छता का भाव व्यक्त करती हैं। इन भावों के सूचक अनेक प्रत्यय हैं जिनके प्रयोग की भूमिका इस प्रकार है।—

औटा औटी—

इन प्रत्ययों की उत्पत्ति 'पट्टक' या 'पट्टिका' से मानी जाती है। विकास क्रम इस प्रकार है —

पट्टक > वट्टअ > उट्टअ > ओटा औटा

पट्टिका > वट्टिआ उट्टिआ > ओटी औटी

जैसे —चमपट्टिका > चम्मउट्टिआ > चमौटी

लिङ्गपट्टिका > लिंगउट्टिआ > लिंगोटी लंगोटी

किन्तु कजरौटी, पथरौटी, कठौटी (कठौती) आदि शब्दों में औटी का संबंध 'पट्टिका' से न जोड़ कर प्रा॰ 'पुट्ट' से जोड़ना अधिक संगत होगा। जैसे—

कट्ठपुट्ट (प्रा॰) > कठउटा या कठौटा (हि॰)

पत्थरपुट्ट (प्रा॰) > पथरउटा या पथरौटा (हि॰)

इसी प्रकार 'कजरौटा' आदि हिन्दी शब्दों का निर्माण हुआ है।

ड़ा ड़ी—

लिंग भेद से दो दीखने वाले ये प्रत्यय एक ही स्रोत से प्रवाहित हुए हैं। विद्वानों ने इनकी उत्पत्ति संस्कृत स्रोतों से खोजने का व्यर्थ प्रयत्न किया है। उत्तरकालीन प्राकृत के 'अड' प्रत्यय से विकसित होकर यह रूप लिया है। प्राकृत शब्दों में इसका प्रयोग इस प्रकार मिलता है—दोसड (दोस+अड)। इसी शब्द से दोसड़ा शब्द बना है। गड्ड+अड = 'गड्डअड' से हिन्दी 'गबेड़ा' बना

दार—

यह भी फारसी का प्रत्यय है।

पहरेदार चौकीदार जमींदार, हवादार, समझदार ईमानदार, मालदार।

नवीस—

यह फारसी प्रत्यय है। इसका अर्थ 'लिखने वाला' होता है।

नकलनवीस अर्जीनवीस।

बन्द-बन्दी—

दोनों फारसी प्रत्यय हैं। दूसरा भाववाचक संज्ञाएं बनाने में काम करता है, जैसे—

क बिस्तरबन्द कमरबन्द हथियारबन्द नजरबन्द।

ख हदबन्दी चकबन्दी नजरबन्दी।

मंद-मंदी—

मद' भी फारसी प्रत्यय है 'वाला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ईकारान्त हो जाने पर भावसूचक बन जाता है जैसे—

अक्लमन्द अक्लमन्दी।

वान—

मूलत' यह प्रत्यय फारसी का है। यह हिन्दी में 'मतुप्' प्रत्यय के समान प्रयुक्त होता है।

गाड़ीवान कोचवान दरबान।

सूचना—इन शब्दों के आगे 'ई' प्रत्यय लगा देने से भाववाचक संज्ञाएं बन जाती हैं जैसे–'कोचवानी'।

बाज—

यह फारसी प्रत्यय भी 'ई' के लगने पर भाव-सूचक बन जाता है जैसे—

मुकदमाबाज् — मुकदमाबाजी
कबूतरबाज् — कबूतरबाजी
धोखेबाज् — धोखेबाजी
नशेबाज — नशेबाजी
सौदेबाज — सौदेबाजी
हवाबाज — हवाबाजी

सूचना—इस प्रकार के और भी बहुत से विदेशी प्रत्यय (विशेषत फारसी के) हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि ये मूलत विदेशी शब्दों में ही टँके हुए हैं किन्तु नशेबाज्'–जैसे शब्दों के साथ के संज्ञा शब्दों का निर्माण करने में अपना प्रमुख योग देते हैं।

— — — —

अध्याय ५

विशेषण शब्द

संज्ञा की विशेषता सूचित करने वाले शब्द को विशेषण कहते हैं और जिस शब्द की विशेषता बतायी जाती है उसे विशेष्य कहते हैं जैसे—काला घोड़ा पाँच आदमी। इन पदों में 'काला' और पाँच शब्द से क्रमशः 'घोड़ा' और 'आदमी' की विशेषता बतायी जा रही है। ये शब्द 'सीमा' या 'मर्यादा निर्धारित करते हैं। ये विशेषण हैं तथा 'घोड़ा' और आदमी' विशेष्य हैं।

विशेषण के भेदों का वर्गीकरण गुण संख्या और परिमाण के आधार पर किया जाता है। मुख्य रूप से विशेषण के तीन भेद किये जा सकते हैं —१ सार्वनामिक विशेषण २ गुणवाचक विशेषण तथा ३ संख्यावाचक विशेषण।

१ सार्वनामिक विशेषण—

इसके दो भेद होते हैं मूल सर्वनाम तथा यौगिक सर्वनाम। पुरुषवाचक सर्वनाम तथा निजवाचक सर्वनाम को छोड़ कर शेष सर्वनाम जब किसी संज्ञा के पहले आते हैं तब वे सार्वनामिक विशेषण कहलाते हैं जैसे-'वह नौकर' 'यह आदमी' पदों में वह' तथा 'यह' शब्द सार्वनामिक विशेषण हैं। ये दो प्रकार के होते हैं —

(क) मूल सर्वनाम

जो सर्वनाम अपने मूल रूप में संज्ञा के पहले प्रतिष्ठित होता है वह मूल सर्वनाम होता है जैसे—ऊपर के पदों में वह' तथा 'यह।

(ख) यौगिक सर्वनाम

जो सर्वनाम शब्द मूल मे प्रत्यय के लगने से बनते हैं वे यौगिक सर्वनाम कहलाते है जैसे-'ऐसा आदमी' जैसा देश' 'वसी लड़की' में ऐसा 'जैसा' तथा वैसी इसी प्रकार के सर्वनाम हैं।

इन सभी शब्दों की रचनात्मक प्रक्रिया पर विचार सर्वनाम शब्दों के अन्तर्गत किया गया है।

२ गुणवाचक विशेषण

जिस शब्द से संज्ञा का गुण व्यक्त हो वह गुणवाचक विशेषण कहलाता है। विशेषणों में इसका महत्त्व सबसे अधिक है क्योंकि संख्या में गुणवाचक विशेषण शब्द

सबसे अधिक हैं। विशेषताओं की दृष्टि से इन शब्दों को मुख्यत: इन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —

(क) कालवाचक

नया पुराना ताजा, बासी भूत, वर्तमान भविष्य प्राचीन नवीन अगला पिछला मौसमी अग्रिम अतीत बलाऊ टिकाऊ आदि।

(ख) स्थानवाचक

लम्बा चौड़ा ऊँचा नीचा गहरा सीधा सँकरा तिरछा भीतरी बाहरी ऊजड़ स्थानीय आदि।

(ग) आकारवाचक

गोल चौकोर सुडौल सम विषम पोला ठोस सुन्दर, नुकीला तिकोना बेडौल आदि।

(घ) रंगवाचक

लाल पीला नीला हरा सफेद काला बैंगनी सुनहरा चमकीला धुँधला फीका इत्यादि।

(ङ) दशावाचक

दुबला पतला मोटा भारी हलका, पिघला गाढ़ा गीला सूखा घना गरीब अमीर उद्यमी आलसी पालतू फालतू रोगी स्वस्थ इत्यादि।

(च) गुणवाचक

भला बुरा उचित अनुचित सच्चा झूठा पापी दानी न्यायी दुष्ट सीधा शान्त इत्यादि।

(छ) दिशावाचक

पूर्व पश्चिम उत्तर, दक्षिण दाँया बाँया आदि।

(ज) समयवाचक

दैनिक पाक्षिक मासिक त्रैमासिक षाण्मासिक वार्षिक अर्द्ध वार्षिक आदि।

जिस प्रकार 'कृत्' और 'तद्धित' के संबंध से हिन्दी संज्ञाओं के दो भेद किये गये हैं उसी प्रकार गुणवाचक विशेषणों के भी दो भेद किये जा सकते हैं मूल विशेषण तथा गौण या यौगिक विशेषण।

मूल गुणवाचक विशेषण

वे विशेषण शब्द जो कृदन्त होते हैं मूलगुणवाचक कहलाते हैं। निम्न लिखित 'कृत्' प्रत्ययों से संस्कृत गुणवाचक विशेषण शब्द बनते हैं —

(क) भूतकालिक कृदन्त विशेषण

(i) क्त प्रत्यय—

भू + क्त = भूत
मद् + क्त = मत्त

(ii) न (क्त)

छिद् + न = छिन्न
भिद् + न = भिन्न

(iii) ण (क्त)—

जॄ + ण = जीर्ण
तॄ + ण = तीर्ण
गॄ + ण = गीर्ण

(ख) वर्तमानकालिक कृदन्त विशेषण

(i) मान प्रत्यय—

विद् + मान = विद्यमान
सेव् + मान = सेव्यमान

(ग) भविष्यत्कालिक कृदन्त विशेषण

(i) तव्य

कृ + तव्य = कर्तव्य
वच् + तव्य = वक्तव्य

(ii) अनीय—

वृत् + अनीय = वर्तनीय
भू + अनीय = भवनीय

(iii) य प्रत्यय—

दा + य = देय
पूज् + य = पूज्य

यौगिक या गौण गुणवाचक विशेषण

इस वर्ग में वे गुणवाचक विशेषण आते हैं जो तद्धितान्त होते हैं। गुणवाचक विशेषण बनाने वाले प्रमुख तद्धित प्रत्यय ये हैं जो उदाहरणों में अपना निर्माण कार्य करते दिखायी देते हैं —

इक—

मास + इक = मासिक
मुख + इक = मौखिक

लोक + इक = लौकिक
नीति + इक = नैतिक
धर्म + इक = धार्मिक
वर्ण + इक = वर्णिक

इत

आनन्द + इत = आनन्दित
प्रमोद + इत = प्रमोदित
फल + इत = फलित
दुःख + इत = दुःखित

इष्णु—

प्रभु (प्रभव) + इष्णु = प्रभविष्णु

इम—

अग्र + इम = अग्रिम
पश्चि + इम = पश्चिम

ईन—

ग्राम + ईन (ण) = ग्रामीण
कुल + ईन = कुलीन

ईय—

पर्वत + ईय = पर्वतीय
विदेश + ईय = विदेशीय

आलु—

दया + आलु = दयालु
कृपा + आलु = कृपालु

ईयसुन्—

लघु + ईयसुन् = लघीयान्
महत् + ईयसुन् = महीयान्

य—

मस्त + य = मस्त्य
तालु + य = तालव्य
प्राक + य = प्राक्य
ग्राम + य = ग्राम्य
मुख + य = मुख्य

र—

मधु + र = मधुर
मुख + र = मुखर

ल—

मांस + ल = मांसल
शीत + ल = शीतल

वी—

मेधा + वी = मेधावी
तेजस् + वी = तेजस्वी

निष्ठ—

कर्म + निष्ठ = कर्मनिष्ठ
विचार + निष्ठ = विचारनिष्ठ

मान—

छवि + मान = छविमान्
धी + मान् = धीमान्

वान्—

रूप + वान् = रूपवान्
भग + वान् = भगवान्
विद्या + वान् = विद्यावान्

शील—

गति + शील = गतिशील
कर्म + शील = कर्मशील

यहाँ तक विशेषण (गुणवाचक) से संबंधित 'कृत' और 'तद्धित' प्रत्ययों की विवेचना की गयी है। आगे हिन्दी के 'कृत्' और तद्धित प्रत्ययों से निर्मित गुणवाचक विशेषणों की मीमांसा की जायेगी।

हिन्दी में कृदन्त गुणवाचक विशेषणों की दो श्रेणियाँ हैं एक तो कर्तृवाचक कृदन्तीय विशेषण और दूसरी क्रियाद्योतक विशेषण।

कर्तृवाचक कृदन्तीय विशेषण

ये विशेषण निम्नलिखित प्रत्ययों से अपना रूप तैयार करते हैं – आऊ, आक, आकी आलू इया ऊ एरा ऐत ऐया ओड़ ओरा क, कड़ (अक्कड़) हा ना वन वाला वैया सार, हार हारा इत्यादि। ये प्रत्यय धातु के साथ जोड़े जाते हैं।

आऊ, ऊ—

टिकना टिक + आऊ = टिकाऊ

उपजना	उपज + आऊ	=	उपजाऊ
बनाना	बन + आऊ	=	बनाऊ
गिरना	गिर + आऊ	=	गिराऊ

इस प्रत्यय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पीछे बता दिया गया है कि हार्नली इसे दु अथवा दु + क (दुक) से व्युत्पन्न मानते हैं और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इसे उ+क (उक) से व्युत्पन्न मानते हैं।

आक, आका—

हार्नली ने इसकी व्युत्पत्ति 'अक' या आपक' से बतलायी है जैसे—उडापक 7 उड्डावक उड्डायक 7 उड़ाक या उड़ाका।

डा० चटर्जी इसकी व्युत्पत्ति प्रा० 'अक्क' या 'आक्क' से मानते हैं।

उदाहरण—

पैरना	पैर + आक	=	पैराक
तैरना	तैर + आक	=	तैराक
लड़ना	लड़ + आका	=	लड़ाका

आरी, आड़ी

यह प्रत्यय संस्कृत कारी' से व्युत्पन्न हुआ है। 'र्' और 'ड़' के अभेद से आरी' का ही इतर रूप 'आड़ी' है। व्युत्पत्ति इस प्रकार है —

कारी 7 आरी 7 आरी आड़ी

उदाहरण—

खेलना	खेल + आड़ी	=	खिलाड़ी
पूजना	पूज + आरी	=	पुजारी

आलु, आलू—

इसका संबंध संस्कृत के आलु' प्रत्यय से है। इससे जहाँ दयालु कृपालु,-जैसे तत्सम शब्द बनते हैं वहाँ 'डरालु' झगडालू-जैसे तद्भव शब्द भी निर्मित होते हैं।

आवन आवना—

इसका संबंध दो शब्दों से जोड़ा जाता है आनक' तथा आप् + न' = 'आपन' से।

(i) आनक 7 आयन (वर्ण व्यत्यय) 7 आवन

(ii) आपन 7 आवन 7 आवन

उदाहरण—

(i) भयानक 7 भयायन 7 भयावन

(ii) शोभापन 7 सोहावन 7 सुहावन सुहावना

इया—

इसका संबंध 'इक' 'इत' तथा 'इय' से जोड़ा जाता है। इन सबका रूप प्राकृत में 'इय' और हिन्दी में 'इया' हो जाता है। इससे हिन्दी के गुणवाचक विशेषण इस प्रकार बनते हैं —

बढ़ना — बढ़ + इया = बढ़िया
घटना — घट + इया = घटिया

इयल—

इस प्रत्यय का संबंध प्राकृत 'इल्ल' ∠ सं० इल' से जोड़ा जाता है। इससे विशेषण इस प्रकार बनते हैं:—

मढ़ना	मढ़ + इयल	= मढ़ियल
सड़ना	सड़ + इयल	= सड़ियल
मरना	मर + इयल	= मरियल

ईला—

इसका संबंध भी प्रा 'इल्ल' (सं० इल) से जोड़ा जाता है। इससे हिन्दी विशेषण इस प्रकार बनते हैं —

सजना	सज + ईला = सजीला
रंगना	रंग + ईला = रंगीला
बसना (बसबू देना)	बस + ईला = बसीला

सूचना — यह प्रत्यय 'तद्धित' रूप में भी प्रयुक्त होता है जैसे—पथरीला मटीला हठीला छबीला।

उआ—

इसकी उत्पत्ति 'उक' प्रत्यय से मानी जाती है। प्रा उअ' ही हिन्दी में उआ हो गया है जैसे —

बँधना बँध + उआ = बँधुआ
मरना मर + उआ = मरुआ

ऐत—

इसका विकास सत्तन्त 'इत' से हुआ है। इत' ही 'अ' या आ' होकर ऐत' हो गया है। लड़ैत, बचैत दगैत आदि इसी प्रत्यय से बने हैं।

ऐल, एल, एला—

ये प्रत्यय भी संस्कृत इल 7 प्रा० इल्ल से व्युत्पन्न हुए हैं।

उदाहरण—

ऐंठना ऐंठ + ऐल = ऐंठैल
बँसना धँस + ऐल = धँसैल

रपटना रपट + ऐस = रपटैस
दुहना (दुहना) दुह + एल = दुहेल

एरा—

इस प्रत्यय का विकास संस्कृत कर 7 प्रा० अर 7 हि० 'एर' के रूप में हुआ है। उदाहरण —

बसना बस + एरा = बसेरा
लूटना लूट + एरा = लटेरा

ओर ओड़—

यह प्रत्यय संस्कृत के 'वृत' शब्द से उत्पन्न हुआ है प्राकृत में इसके रूप वट' और 'वड' तथा हिन्दी में 'उड' एवं ओड़ (उर ओर) बनते हैं। उदाहरण—

हँसना हँस + ओड़ = हँसोड़
चाटना चाट + ओर = चटोर

अक्कड़—

यह प्रत्यय अक्कड़ (दे०) से उत्पन्न हुआ है। उदाहरण —

पीना पी + अक्कड़ = पियक्कड़
भूलना भूल + अक्कड़ = भुलक्कड़
घूमना घूम + अक्कड़ = घुमक्कड़

वाला हार हारा—

इन प्रत्ययों की व्युत्पत्ति पीछे बतायी जा चुकी है। कृदन्त प्रत्यय के रूप में इनके उदाहरण ये हैं —

गाना गा (वन) + हार = गावनहार
रखना राख(न) + हारा = राखनहारा
पढ़ना पढ़ (ने) + वाला = पढ़नेवाला

वैया—

इसका उद्गम सं तव्य + क 7 प्रा० 'एव्वअ' या 'इयव्व' है। उदाहरण—

लाना ल + वैया = लवैया
गाना गा + वैया = गवैया
नहाना न्हा + वैया = न्हवैया

सार—

इस प्रत्यय की कोई सन्तोषजनक व्युत्पत्ति दिखायी नहीं पड़ती। संभवतः संस्कृत 'कार' से व्युत्पन्न आर के पूर्व 'स्' के आगमन से सार' बनगया है।

उदाहरण—

मिलना मिल(न) + सार = मिलनसार

सा—

यह प्रत्यय हाथी-सा ऊँट-सा, भारी-सा आदि विशेषण बनाता है। इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में मतभेद है। डा० वर्मा के मत से इसका विकास संस्कृत 'क' से (जैसे कपि-क कक-क) से हुआ है। हार्नली ने इसका सम्बन्ध सदृशक 7 सद्दसा से जोड़ा है। मेरी समझ में दोनों की बात नहीं बैठती। मुझे इसका संबंध सम 7 सम से प्रतीत होता है। अनुनासिक के निपात से 'सा' की उत्पत्ति बहुत सम्भव है।

हा—

मेरी दृष्टि में इसकी उत्पत्ति संस्कृत भावित 7 प्रा० भाइम से है। 'भाइम' के 'इम' के निपात तथा आदि में 'ह' के आगम से 'हा' का प्रादुर्भाव बहुत संभव है। 'भा' में प्राणध्वनि का समावेश असंभव नहीं है। संस्कृत के 'क' प्रत्यय से भी सप्राण 'भा' का उद्भव संभव है।

उदाहरण—

काटना काट + हा = कटहा
मरना मर + हा = मरहा

हिन्दी के तद्धितीय विशेषण

इन विशेषणों का निर्माण तद्धित प्रत्यय करते हैं जो क्रियाओं मे नहीं लगते। 'इत्' प्रत्ययों के अन्तर्गत बहुत से तद्धित प्रत्ययों का उल्लेख भी हो गया है। यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं—

	प्रत्यय	संज्ञा	विशेषण
१	आ	भूख	भूखा
		प्यास	प्यासा
२	इयल	सात	सतियल
३	इया	भरतपुर	भरतपुरिया
		तेल	तेलिया
४	ई	मुरादाबाद	मुरादाबादी
		कानपुर	कानपुरी
		बनारस	बनारसी
५	वी (=ई)	लखनऊ	लखनवी
		देहली	देहलवी
		मैवा	मवावी
६	ऊ	बाजार	बाजारू
		गरज	गरजू

सूचना —हिन्दी में 'एक' के रूप नहीं चलते, किन्तु यदि अकेला होता है तो कारक प्रत्यय ग्रहण कर लेता है। पुरानी हिन्दी में 'इक' तथा 'इक्क' शब्दों का ही प्रयोग होता था।

दो ∠ प्रा० दे ∠ सं० द्व द्वि।
तीन ∠ तिण्णि ∠ त्रीणि (नपु०)
चार ∠ चत्तारो चउरो चत्तारि ∠ चत्वारि।
पाँच ∠ पञ्च ∠ पञ्च।
छ ∠ छ, छह ∠ षट् (षष्)।
सात ∠ सत्त ∠ सप्त
आठ ∠ अट्ठ ∠ अष्ट
नौ ∠ नउ णव ∠ नव
दस ∠ दस दह ∠ दश

सूचना —संख्यावाचक शब्दों में नियमानुसार वृद्धि होती जाती है। दस तक की संख्याएं सीधी संस्कृत से व्युत्पन्न हुई हैं। ग्यारह से उन्नीस तक की समासयुक्त संख्याएं संस्कृत से ही व्युत्पन्न हैं किन्तु उनकी समास पद्धति पूर्ववर्ती भाषाओं से आयी है। उन्नीस से ऊपर के संख्यावाचक शब्द हिन्दी में अपने ढंग से बनते हैं किन्तु सिद्धान्ततः वे संस्कृत से मिलते हैं। फिर भी समास की तात्त्विक कसौटी पर वे आधुनिक उत्पत्ति व्यक्त करते हैं।

हि०	प्रा०	सं०
ग्यारह	एआरह एगारह	एकादश
बारह	बारह बारस	द्वादश
तेरह	तेरह, तेरस	त्रयोदश
चौदह	चउद्दह	चतुर्दश
पन्द्रह	पण्णरह	पञ्चदश
सोलह	सोलह	षोडश
सत्तरह (सत्रह)	सत्तरह	सप्तदश
अठारह	अट्ठारह	अष्टादश
उन्नीस	ऊनवीस	ऊनविंशति

वररुचि का इस संबंध में एक नियम है कि 'दश' का 'द' 'र' में और 'श' ह में बदल जाता है। अतएव हिन्दी में 'दश' का 'रह' (समास में) बन जाता है। सोलह' के स्थान पर भी कई स्थानों पर 'सोरह' ही बोला जाता है। इसमें भी उक्त नियम ही काम करता है।

हिन्दी की कुछ बोलियों में प्रत्यय 'ह्' लुप्त भी हो जाता है और उसके स्थान की पूर्ति दीर्घ 'ग्रा' कर देता है जैसे 'बारह्' से 'बारा' तेरह् से तेरा'।

१ 'ग्यारह्' में एक विशेषता देखने योग्य है। हिन्दी में संस्कृत 'एकादश' का 'का' प्राकृत की भाँति 'ग्र' न होकर 'ग्रा' बना रहा और 'ए' जो प्राकृत में 'ए' ही रहा था हिन्दी में 'इ' होगया। इस प्रकार हिन्दी में 'इगारह्' शब्द प्रचलित हुआ किन्तु 'ग्यारह्' शब्द इससे अधिक प्रचलित है। इसमें 'इगा' की 'इ' 'गा' को प्रभावित करके लुप्त होगयी और 'इगा' के स्थान पर 'ग्या' होगया।

२ बारह में सं० 'द्वादश' के ग्रादि 'द' का लोप है।

३ तेरह्—इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कॉलिन्स त्रयोदश से त्रयोदस और फिर तेरह् मानता है। पता नहीं उसकी दृष्टि से व्युत्पत्ति किस प्रकार होगी। उसका क्रम इस प्रकार है – त्रयो 7 तयो 7 तरिग्रो 7 तइरो 7 तेरो + दस 7 रह् = तेरोरह्। ग्रो' ह्रस्व होने पर प्रायः लुप्त हो जाता है और 'तेरोरह्' का 'तेररह्' रहता है। उसी से फिर सकोचीकरण से 'तरह्' होजाता है।

मेरी समझ में 'तेरह्' की उत्पत्ति 'त्रिदश' से इस प्रकार हुई है—
त्रिदश 7 तिदस तिरह् 7 तेरह्।

४ चौदह् ∠ चउद्दह् ∠ चतुर्दश।

जिस प्रकार 'दश' का 'द' अन्य संख्याओं में 'र' होगया है उसी प्रकार यहाँ 'र' नहीं हुआ क्योंकि समास में 'र्' होने से वह 'द' हो गया है और प्राकृत में 'द' ही रहता है। हिन्दी में भी वह 'द' रहा है इसलिए प्राकृत 'चउद्दह्' हिन्दी में 'चौदह्' बना हुआ है।

५ पन्द्रह् 7 पण्णरह् 7 पञ्चदश।
६ सोलह् 7 सोलह् 7 षोडश।

संस्कृत में ही 'षट्दश' न होकर 'षोडश' शब्द है। 'षट्' के प्रभाव से 'दश' के 'द' का परिवर्तन 'ड' में हो गया था। हिन्दी की कुछ बोलियों में सोरह्' शब्द भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इसके पूर्व रूप में 'र' या 'ल' न होकर 'ळ' रहा होगा। इसी 'ळ' से 'र' और 'ल' उत्पन्न हुए हैं। सामान्यतया 'ड' भी 'र' और 'ल' दोनों ओर झुक जाता है। दूसरे से सोलह' की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी है—

पोडश 7 षोरह् सोरह् 7 सोलह्।

७ सत्तरह् (सत्रह्) ∠ सत्तरह् ∠ सप्तदश।

८ अठारह < अट्ठारह अट्ठारह < अष्टादश ।

९ उन्नीस < ऊनवीसइ < एकोनविंशति ऊनविंशति ।

सूचना—एकोनविंशति का अउणीस हुआ होगा । उसस पुरानी हिन्दी में अउनीस हुआ । इसी का एक रूप पुरानी हिन्दी और कुछ बोलियों में 'नुनीस' मिलता है । इस प्रकार अउनीस से नुनीस और फिर उन्नीस हुआ।

१० बीस < बीसम बीसइ < विंशति ।

११ तीस < तीसम तीसा < त्रिंशत्

१२ चालीस < चत्तालीस < चत्वारिंशत्

१३ पचास < पण्णासा पचासा < पञ्चाशत्

१४ साठ < सट्ठि < षष्टि

१५ सत्तर < सत्तरि < सप्तति

१६ अस्सी < असीइ < अशीति

१७ नब्बे < नउए, नउइ < नवति

१८ सै,सौ < सअ, सय सम < शत

१९ बाईस < बावीसइ < द्वाविंशति

२० बयालीस < बायालीस < द्विचत्वारिंशत्

२१ उनचास < उणपंचास < ऊनपञ्चाशत्

२२ बावन < बावण < द्विपञ्चाशत्

२३ छप्पन < छप्पण < षट्-पञ्चाशत्

२४ उनसठ < एगूणसट्ठि ऊनसट्ठि < एकोनषष्टि, ऊनषष्टि

२५ बासठ < बासट्ठि < द्वाषष्टि

२६ उनहत्तर < अउणसत्तरि < ऊनसप्तति

२७ बहत्तर < बहत्तरि, बावत्तरि < द्विसप्तति

२८ उनासी < उणासी < एकोनाशीति

२९ बयासी < बासीइ < द्व्यशीति

३० अठासी < अट्ठासि < अष्टाशीति

३१ नवासी < एगूणनउइ < एकोननवति

३२ निन्यानबे < णउणउइ < नवनवति

(नउनउइ)

(नउनबे)

३३ हजार < सहस्र

३४ लाख < लक्ख < लक्ष

१५ करोड़ ∠ कोडि ∠ कोटि
१६ अरब ∠ अर्बुद
१७ खरब ∠ खर्व

सूचना—(i) संस्कृत का 'एक' हिन्दी में 'ग्यारह' को छोड़ कर शेष संख्याओं में 'इक' बना रहता है जैसे-इक्कीस इकहत्तर।

(ii) संस्कृत 'द्वि अथवा द्व' का हिन्दी में 'ब या बा' हो जाता है जैसे-बाईस बहत्तर।

(iii) 'त्रि' का 'ते' हो जाता है। कहीं-कहीं 'ति' रूप भी मिलता है, जैसे—तेईस तिरपन तिरसठ।

(iv) 'चतुः' का 'चउ' 'चौ' 'चव' अथवा 'चो' हो जाता है।

(v) पञ्च—इसका हिन्दी रूप पच पै प है।

(vi) 'षट्' के हिन्दी में छ सु, छे, छप रूप मिलते हैं जैसे—सोलह छप्पन छेहत्तर छयालीस में।

(vii) सात तथा आठ—इसके निर्माण में कोई अनियम नहीं मिलता। अठारह, अट्ठाईस अट्ठावन अठानवे में 'अठ' के स्थान पर 'अठा' मिलता है।

(viii) 'नव' के स्थान पर उन्नीस से उनासी तक 'ऊन' या 'उन' (Less than one) का प्रयोग हुआ है। केवल नवासी और निन्यानवे (नवानवे) में 'नौ' या 'नव' का प्रयोग हुआ है। 'नवासी' में अठासी के समान 'नवा' का प्रयोग है। 'नवानवे' में अठानवे का अनुकरण दीख पड़ता है। इसीसे ध्वनि- साम्य के आधार पर 'ननानवे' या 'निनानवे' (निन्यानवे) व्युत्पन्न हुआ है।

(ii) अपूर्णांकबोधक गणनावाचक विशेषण—

इनको अपूर्णांकवाचक विशेषण भी कह सकते हैं। पाव आधा पौना सवा सवाया, सवैया डेढ़ पौने दो ढाई, साढ़े तीन आदि शब्द अपूर्णांकवाचक विशेषण हैं। इनकी व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं-

(१) पाव ∠ पाव पाओ ∠ पाद।

पौआ ∠ पाउआ (पाउ + उआ) ∠ पाद + उका

(२) आध आधा ∠ अद्धो ∠ अर्द्ध।

(३) पौन पौना ∠ पउणो, पौणो ∠ पादोन।

(४) सवा ∠ सवाअ ∠ सपाद।

सवायो ∠ सवाओ ∠ सपाद।

सवया सवाई ∠ सवादम, सवइमा ∠ सपादिक सपादिका

(५) डेढ़ }
ड्योढ़ा } ∠ दि घड्ढ ∠ द्वि घर्ड (?) ।

(६) पौने दो ∠ पउणदुइ ∠ पादोनद्वय

(७) ढाई अढ़ाई ∠ अड्ढइय ∠ अर्ध-तृतीय

(८) साढ़े तीन ∠ साड्ढतिणि ∠ सार्धत्रीणि

(ख) क्रमवाचक विशेषण-

पहला—

इसकी व्युत्पत्ति प्रथम से बतायी जाती है किन्तु म का 'ल' बनाने के लिए कोई आधार नहीं है। जो हो व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है प्रथम 7 पढिल्ल 7 पहला। मैं इसे 'प्रथिल' 7 'पहिल्ल' 'पहिल्ल' से व्युत्पन्न मानता हूँ।

दूसरा—

इसकी व्युत्पत्ति 'द्विस्मृत' से मानी गयी है—

द्विस्मृत 7 दोसरम 7 दूसरा।

दूजा—

द्वितीय 7 दुइज 7 दूज दूजा।

तीसरा—

त्रिस्मृत 7 तिसरम 7 तीसरा।

तीजा—

तृतीय 7 तईज 7 तीजा।

चौथा—

चतुर्थ 7 चउत्थ 7 चौथ चौथा।

पाँचवाँ—

पञ्चम 7 पंचमो पंचवाँ 7 पाँचवाँ पाँचवी।

छठा—

षष्ट 7 छट्ठ 7 छठा।

सूचना —इसके बाद सब क्रमवाचक संख्याएं 'पाँचवाँ' की भाँति रूप लेकर चलती हैं।

(ग) आवृत्तिवाचक या गुणात्मक संख्यावाचक विशेषण—

'एक' को छोड़ कर शेष सब संख्याओं के साथ हिन्दी में 'गुना' लगा देने से गुणात्मक संख्यावाचक विशेषण बन जाता है जैसे—

दुगुना दूना 7 दोगुण दोउन 7 द्विगुण।

तिगुना 7 तिगुण 7 त्रिगुण।

इसी प्रकार और भी।

सूचना —एक की आवृत्ति' की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई प्रयोग करता है तो 'एक गुना' से काम चल जाता है। इसके लिए 'एक' या 'इक' शब्द का प्रयोग भी हो जाता है जो संस्कृत 'एकम्' से बनता है।

(घ) समुदायवाचक संख्यावाचक विशेषण—

इसके दो भेद होते हैं—

(i) संघातबोधक जैसे—कौड़ी पंजा, चौका छक्का बीसा चालीसा।

(ii) समाहारबोधक या पूर्णताबोधक जैसे—चारों दिशाएं सातों द्वीप चौदहों भवन आदि। कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत हैं।

(i) जोड़ा ∠ जुअम ∠ युग्मक
चौक (चौका) ∠ चउक्क ∠ चतुष्क
पंजा ∠ पंचअ ∠ पञ्चक
छक्का ∠ छक्क ∠ षट्क
दस्सा ∠ दस्सअ ∠ दशक
बीसी ∠ विसिइअ ∠ विंशतिक
सत्ता ∠ सत्तअ ∠ सप्तक
सैकड़ (+ा) ∠ सैकअ ∠ शतकृत।

(ii) पूर्णताबोधक संख्याओं का विकास 'अपि-अन्त' संख्याओं से हुआ प्रतीत होता है—

द्वावपि > दुइउ > दोऊ
त्रीण्यपि > तीणिउ > तीनों
चत्वारपि > चत्तारिउ > चारिउ चारों
द्वात्रिंशदपि > बत्तीसइउ > बत्तीसों

(ङ) प्रत्येकबोधक संख्यावाचक विशेषण—

प्रत्येकवाची संख्या किसी गणनात्मक संख्यावाचक शब्द को दुहराने से प्रकट होती है यथा एक-एक चार-चार सौ-सौ, सवा-सवा आदि। इसी विशेषण के अन्तर्गत प्रत्येक हर एक आदि विशेषण शब्द भी प्रयोग में आते हैं।

२ अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण—

जिन शब्दों से किसी निश्चित संख्या का बोध न हो वे अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण कहलाते हैं।

क कुछ लोग, सब आदमी।
ख दसों लड़के बीसों रुपये हजारों पशु।
ग पाँच-सात रुपये दस-बीस लोग पचास-सौ नर।
घ पाँच-एक रुपये सात-एक आदमी पन्द्रह एक घोड़े।

३ परिमाणबोधक संख्यावाचक विशेषण—

इस प्रकार के विशेषण किसी वस्तु की माप या तौल का बोध कराते हैं, जैसे सेर भर दूध तोला भर सोना थोड़ा पानी कुछ दूध सब धन आदि।

इन विशेषणों की व्युत्पत्ति पर यथा स्थान प्रकाश डाल दिया गया है।

तीन + मढ़ी = तिमढ़ी
तीन + मढ़ = तिमढ़ तिल्मढ़
तीन + पास = तिपास

(iii) समास में संस्कृत का 'चतु' 'चउ' और फिर 'चौ' और कहीं-कहीं 'चव' हो जाता है जैसे—
चौमसी, चवमसी
चौकट चोगट
चौकड़ी
चौबरा
चौमास

४ द्वन्द्व समास—

यह समास हिन्दी में भी संस्कृत के समान ही बनता है और अन्तिम शब्द बहुवचन होता है जैसे—

१ वे हाथी-घोड़ों पर गये २ मैं सावन भादों में वत करूंगा ३ राम रात-दिन यही सोचता है ४ वे भाई-भाई हैं ५ सांप-कीड़े मर गये ६ माँ बाप आ गये।

५ बहुव्रीहि समास—

तत्पुरुष समास में तो उत्तर पद प्रधान होता है जैसे राजपूत में 'पूत' प्रधान है किन्तु बहुव्रीहि समास में अन्य पद प्रधान होता है जैसे—'बड़ंगा' में न तो 'बड़' प्रधान है और न 'अँखा' प्रधान है वरन् 'बड़ी हैं आँखें जिसकी ऐसा' कोई व्यक्ति प्रधान है जो अन्य पद में निहित है। इस समास की रचना में समस्त शब्द विशेषण बन जाता है जैसे—

१ लमगोड़ा = लंबे हैं गोड़ जिसके।
२ बड़नक्कू = बड़ी है नाक जिसकी।
३ कजरौंछ = काजल है आँख में जिसकी।
४ कलमुहाँ = काला है मुँह जिसका।

६ अव्ययीभाव समास—

इस समास में दो बातें ध्यान देने की हैं—
१ प्रथम पद अव्यय होता है
अन्यथा, २ समास अव्यय का काम करता है

जैसे—
प्रतिदिन हररोज, नित्यप्रति दिन-दिन आदि।

— — — —

अध्याय ७

अविकारी (अव्यय) शब्द

जो शब्द लिंग वचन कारक और काल के प्रभाव से मुक्त होते हैं अर्थात् जिनका स्वरूप सर्वत्र अपरिवर्तित रहता है वे अविकारी या अव्यय कहलाते हैं।

अव्यय के ५ भेद बतलाये जाते हैं—

१ क्रियाविशेषण २ संबंधबोधक, ३ समुच्चयबोधक ४ विस्मयादि बोधक तथा ५ प्रादि (उपसर्ग)

सूचना—प्रादि के संबंध में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग प्रादि (उपसर्ग) शब्दों को अव्यय से अलग करके देखते हैं।

१ क्रिया-विशेषण

जिस शब्द से क्रिया विशेषण या दूसरे क्रिया विशेषण की विशेषता प्रकट हो उसे क्रिया-विशेषण कहते हैं।

(i) क्रिया की विशेषता—

राम धीरे धीरे टहलता है।

(ii) विशेषण की विशेषता—

धीरेन्द्र बहुत बड़ा आदमी है।

(iii) क्रियाविशेषण की विशेषता—

रमेश बहुत धीरे चलता है।

सूचना—किसी शब्द की विशेषता 'स्थान', 'रीति' 'काल' और 'परिमाण' मे जानी जा सकती है।

क्रियाविशेषणों का वर्गीकरण तीन आधारों पर किया जाता है—

१ प्रयोग के आधार पर २ रूप के आधार पर ३ अर्थ के आधार पर।

१ प्रयोगाधार भेद—

(क) साधारण क्रिया-विशेषण—

जिन क्रिया विशेषणों का प्रयोग किसी वाक्य में स्वतंत्र होता है, उन्हें साधा

रण क्रिया विशेषण कहते हैं जैसे-हाय ! अब मैं क्या करूं ? बेटा ! जल्दी आना ! अरे ! विष्णु तो चला भी गया !

(ख) संयोजक क्रिया विशेषण—

जिन क्रिया-विशेषणों का संबंध किसी उपवाक्य से रहता है, उन्हें संयोजक क्रिया विशेषण कहते हैं जैसे—जब आमिल ही नहीं तो मैं ही जीकर क्या करूंगा ? जहाँ आज मेरा घर है, वहाँ कभी चूने के मट्टे थे।

(ग) अनुबद्ध क्रियाविशेषण—

जिन क्रियाविशेषणों का प्रयोग अवधारण के लिए किसी भी शब्द भेद के साथ होता है उन्हें अनुबद्ध क्रियाविशेषण कहते हैं जैसे—यह तो किसी ने छल कर दिया। मैंने उसे देखा तक नहीं।

३ रूपाधार भेद—

(क) मूल क्रिया विशेषण—

जो किसी दूसरे शब्द के मेल से नहीं बनते वे मूल क्रिया विशेषण कहलाते हैं जैसे—ठीक दूर, अचानक फिर नहीं।

(ख) यौगिक क्रियाविशेषण—

दूसरे शब्दों में प्रत्यय या शब्द जुड़ जाने से जो क्रिया विशेषण बनते हैं उन्हें यौगिक क्रिया-विशेषण अभिधा दी जाती है जैसे-जिससे चुपके से भूल से यहाँ तक झट से वहाँ पर।

सूचना—यौगिक क्रियाविशेषण संज्ञा सर्वनाम विशेषण धातु और अव्यय के योग से बनते हैं।

यौगिक क्रिया विशेषण }
निर्माण-पद्धति }

(i) संज्ञाओं की द्विरुक्ति से—घर-घर घड़ी-घड़ी, बीचों-बीच हाथों-हाथ।

(ii) दो भिन्न संज्ञाओं के मेल से—रात-दिन साँझ-सबेरे, घर-बाहर, देश विदेश।

(iii) विशेषण की द्विरुक्ति से—एक-एक ठीक-ठीक साफ-साफ।

(iv) क्रिया-विशेषण की द्विरुक्ति से—धीरे-धीरे, कहाँ-कहाँ कब-कब कहाँ-कहाँ जल्दी-जल्दी हौले-हौले।

(v) दो भिन्न क्रिया-विशेषणों के मेल से—यहाँ-वहाँ जहाँ-कहीं जब-तब कब-कभी कल-परसों आस-पास।

(vi) दो भिन्न या समान क्रिया-विशेषणों के बीच में 'न' लगाने से—कभी न कभी कुछ-न-कुछ।

(vii) अनुकरणवाचक शब्दों की द्विरुक्ति से—फटाफट धड़ाधड़ चटाचट पट-पट

(viii) संज्ञा और विशेषण के योग से—एक साथ एकबार, चारों ओर।

(ix) अव्यय और दूसरे शब्द के मेल से—प्रतिदिन यथाक्रम, अनजाने आजन्म।

(x) पूर्वकालीन कृदन्त और विशेषण के मेल से—विशेष करके बहुत करके मुख्य करके एक-एक करके।

(ग) स्थानीय क्रिया-विशेषण—

ऐसे क्रिया-विशेषण जो रूपान्तर के बिना किसी विशेष स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, स्थानीय क्रिया विशेषण कहलाते हैं—

वह अपना सिर पढ़ेगा ? वह क्या खाक पढ़ेगा ?

३ अर्थाधार क्रिया विशेषण

(क) स्थानवाचक क्रिया-विशेषण—यहाँ वहाँ जहाँ कहाँ, आगे पीछे।

ये दो प्रकार के होते हैं—(i) स्थितिवाचक-नीचे, ऊपर, तले सामने बाहर भीतर।

(ii) दिशावाचक—इधर उधर किधर, जिधर दूर परे अलग दाहिने, बाएं आरपार।

(ख) कालवाचकक्रिया-विशेषण—इसके तीन भेद होते हैं—

(i) समयवाचक—आज कल परसों अब जब कब तब अभी पीछे, पहले तुरंत प्रथम इतने में।

(ii) अवधिवाचक—आजकल नित्य सदा निरन्तर, अबतक कभी-कभी लगातार दिनभर, कबका।

(iii) पौनःपुन्यवाचक—बार-बार, दिन-दिन घड़ी-घड़ी क्षण-क्षण।

(ग) परिमाणवाचक क्रिया-विशेषण—

इसके पाँच भेद हो सकते हैं—

(i) अधिकताबोधक—बहुत अति बड़ी बिल्कुल सर्वथा खूब निपट अत्यन्त अतिशय।

(ii) न्यूनताबोधक—कुछ, लगभग थोड़ा टुक प्राय जरा किंचित्।

(iii) पर्याप्तिबोधक—केवल बस काफी यथेष्ट चाहे, बराबर, ठीक अस्तु।

(iv) तुलनावाचक—अधिक कम इतना, उतना जितना कितना बढ़कर घटकर।

(v) श्रेणीबोधक—थोड़ा-थोड़ा क्रम-क्रम से बारी-बारी से तिल तिल एक-एक करके यथाक्रम।

(घ) रीतिबोधक क्रिया-विशेषण—

इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत अधिक है । इनके भेद के आधार ये हैं—

(i) प्रकार—ऐसे वैसे कैसे मानों धीरे, अचानक स्वयं स्वत परस्पर, यथाशक्ति, प्रत्युत फटाफट आदि ।

(ii) निश्चय—अवश्य सही सचमुच नि सन्देह बेशक जरूर अलबत्ता यथार्थ में, वस्तुत, दरअसल ।

(iii) अनिश्चय—कदाचित् शायद बहुत करके यथासंभव ।

(iv) स्वीकार—हाँ जी ठीक सच ।

(v) कारण—इसलिए, क्यों काहे को ।

(vi) निषेध—न नहीं मत ।

(vii) अवधारण—तो ही भी मात्र भर, तक सा ।

२ संबंध बोधक अव्यय—

किसी संज्ञा के बाद में लगने पर जिस अव्यय से उसका संबंध वाक्य के किसी दूसरे शब्द से प्रकट किया जा सके उसे संबंध सूचक अव्यय कहते हैं ।

सूचना—उक्त संज्ञा के अभाव में यह अव्यय क्रिया-विशेषण का पद ग्रहण कर लेता है, जैसे—धन के बिना किसी का काम नहीं चलता । रामू शहर तक गया । दिन भर पढ़ना हानिकर है । यहाँ 'बिना' 'तक' 'भर' संबंधसूचक हैं । इन वाक्यों में, क्रमश 'बिना' शब्द 'धन' संज्ञा का संबंध 'चलता' क्रिया से द्योतित करता है 'तक' गया' क्रिया से 'शहर' का संबंध और 'भर' 'पढ़ना' से दिन का संबंध सूचित करता है ।

प्रमुख भेदों के आधार—

संबंधसूचक अव्यय के भेदक आधार तीन हैं:—

१ प्रयोग—

इसकी दो भूमिकाएं हैं — 'संबंध' और अनुबंध' ।

(क) संबद्ध संबंधसूचक—इसमें संबंधसूचक शब्द संज्ञा के परसर्गों के पीछे आते हैं जैसे—धन के बिना नर की तरह ।

(ख) अनुबद्ध संबंधसूचक—इस श्रेणी के संबंधसूचक अव्यय संज्ञा के विकृत रूप के साथ आते हैं जैसे—किनारे तक, सखियों सहित कटोरे भर कुत्तों-समेत ।

अर्थ—

इसकी अनेक भूमिकाएं हैं —

(क) कालबोधक—आगे पीछे, बाद पहले पूर्व अनन्तर पश्चात् उपरान्त लगभग।

(ख) स्थानबोधक—आगे पीछे, नीचे तले सामने पास निकट भीतर समीप नजदीक यहाँ, बीच बाहर परे दूर।

(ग) दिशाबोधक—ओर तरफ, पार, आरपार आसपास प्रति।

(घ) साधनाबोधक—द्वारा जरिये, हाथ मार्फ़त बल करके जबानी

(ङ) हेतुबोधक—लिए निमित्त वास्ते हेतु, हित खातिर, कारण मारे।

(च) विषयबोधक—बाबत निस्बत विषय, नाम लेखे जान भरोसे।

(छ) व्यतिरेकबोधक—सिवा अलावा बिना बगै़र अतिरिक्त, रहित।

(ज) विनिमयबोधक—पलटे बदले जगह बजाय एवज़।

(झ) सादृश्यबोधक—समान तरह भाँति नाईं बराबर तुल्य योग्य लायक सदृश अनुसार अनुरूप अनुकूल देखा देखी सरीखा सा ऐसा जैसा मुताबिक।

(ञ) विरोधबोधक—विरुद्ध खिलाफ़ उलटा विपरीत।

(ट) सहचारबोधक—संग साथ समेत सहित पूर्वक अधीन स्वाधीन वश।

(ठ) संग्रहबोधक—तक लौं पर्यन्त भर मात्र।

(ड) तुलनाबोधक—अपेक्षा बनिस्बत आगे सामने।

सूचना—व्युत्पत्ति की दृष्टि से सबंधबोधक के दो भेद हैं— १ मूल संबंध बोधक— बिना पर्यन्त नाईं पूर्वक आदि। २ यौगिकसंबंध बोधक—

(क) संज्ञासे—पलटे लेखे अपेक्षा मार्फ़त ओर आदि।

(ख) विशेषणसे—तुल्य समान उलटा ऐसा योग्य इत्यादि।

(ग) क्रिया-विशेषण से—ऊपर भीतर यहाँ बाहर पास परे, पीछे इत्यादि।

(घ) क्रिया से—लिए, मारे करके जान।

३ समुच्चयबोधक अव्यय

यह अव्यय शब्द जो क्रिया या विशेषण की विशेषता न बताकर एक वाक्य या शब्द का संबंध दूसरे वाक्य या शब्द से जोड़ता है समुच्चयबोधक कहलाता है जैसे—

(i) आँधी आयी और पानी बरसा।

(ii) दो और दो चार होते हैं।

उक्त वाक्यों में 'और' शब्द समुच्चयबोधक है।

१ समानाधिकरण और २ व्यधिकरण की भूमिका पर इसके अनेक भेद हैं —

(क) समानाधिकरण समुच्चयबोधक—

जो अव्यय शब्द मुख्य वाक्यों को जोड़ते हैं, उन्हें समानाधिकरण समुच्चयबोधक अव्यय कहते हैं। इसके चार उपभेद हैं।

(क) संयोजक—और व एवं तथा।

(ख) विभाजक—या वा अथवा किंवा कि या चाहे-चाहे न-न नकि नहीं तो।

(ग) विरोधदर्शक—पर, परन्तु, किन्तु, लेकिन मगर वरन् बल्कि।

(घ) परिणामदर्शक—इसलिए, सो अत अतएव।

(ख) व्यधिकरण समुच्चयबोधक—

जिन अव्यय शब्दों के मेल से एक मुख्य वाक्य में एक या अधिक आश्रित वाक्य जोड़े जाते हैं, उन्हें व्यधिकरण समुच्चयबोधक' कहते हैं। इसके चार उपभेद हैं —

(i) कारणबोधक—क्योंकि जोकि इसलिए कि आदि।

(ii) उद्देश्यबोधक—कि जो ताकि, इसलिए कि

(iii) संकेतबोधक—जो-तो यदि-तो यद्यपि-तथापि चाहे-परन्तु, कि।

(iv) स्वरूपबोधक—कि जो अर्थात् यानी मानों।

४ विस्मयादिबोधक—

जिन अव्यय शब्दों से हर्ष शोक आदि के भाव सूचित हों किन्तु उनका संबंध वाक्य या उसके किसी विशेष शब्द से न हो उन्हें 'विस्मयादिबोधक' कहते हैं जैसे—हाय ! अब मैं क्या करूं ? हैं ! तुम बड़े निष्ठुर हो ! यहाँ 'हाय और 'हैं' 'विस्मयादिबोधक अव्यय हैं जिनका संबंध शेष वाक्य से नहीं है।

सूचना—व्याकरण में विस्मयादिबोधक अव्ययों का कोई महत्त्व नहीं है। इनसे शब्दों या वाक्यों के निर्माण में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती इनका प्रयोग मनोभावों को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए ही होता है।

भेद—

(क) हर्षबोधक—आहा ! वाह वाह ! धन्य धन्य ! जय ! शाबाश !

(ख) शोकबोधक—आह ! ऊह ! हा-हा ! हाय ! ओह ! त्राहि त्राहि !

(ग) आश्चर्यबोधक—वाह ! हैं ! ऐ ! ओहो ! क्या !

(घ) अनुमोदनबोधक—ठीक ! हाँ-हाँ ! अच्छा ! शाबाश !

(ङ) तिरस्कारबोधक—छिः ! हट ! अरे ! धिक ! चुप ! दुर् !

(च) स्वीकारबोधक—हाँ ! जी हाँ ! अच्छा ! जी ! ठीक ! बहुत अच्छा !

(छ) संबोधनद्योतक—ओ ! अरे ! अजी ! हे ! लो ! अहो !

५ प्रादि अव्यय अथवा उपसर्ग—

उपसर्ग उस शब्दांश या अव्यय को कहते हैं जो किसी शब्द के पहले आकर विशेष अर्थ प्रकट करता है।

उपसर्गों का स्वतन्त्र अस्तित्व न होते हुए भी वे अन्य शब्दों के साथ मिल कर एक विशेष अर्थ की प्रतीति कराते हैं। उपसर्ग हर हालत में किसी शब्द के पहले आता है जैसे 'मन' उपसर्ग को 'चाहा' के पहले रख देने से 'मनचाहा' एक नया शब्द बन गया।

'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' से स्पष्ट है कि उपसर्ग धात्वर्थ को बदल देता है। यदि अर्थ का परिवर्तन नहीं होता तो उसमें कुछ-न-कुछ घटत-बढ़त अवश्य हो जाती है। कभी-कभी अर्थ में परिवर्तन नहीं होता अतएव उपसर्ग के योग से शब्दार्थ तीन स्थितियों को प्राप्त कर सकता है—

(१) शब्दार्थ में विशेषता का समावेश

(२) शब्दार्थ में प्रतिकूलता की उत्पत्ति

अथवा (३) शब्दार्थ में परिवर्तन की अनुत्पत्ति।

उपसर्ग और शब्द—

शब्द अक्षरों का समूह है और अपने में स्वतंत्र है अपना अर्थ रखता है और वाक्यों में स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होता है किन्तु उपसर्ग अक्षर या अक्षर-समूह होते हुए भी स्वतंत्र नहीं होता और न स्वतन्त्र रूप से उसका प्रयोग ही होता है। जब तक उपसर्ग की संगति किसी शब्द के साथ नहीं होती तब तक वह अर्थवान् नहीं होता।

संस्कृत में शब्दों के पहले आने वाले कुछ निश्चित अक्षरों को ही 'उपसर्ग' अभिधा प्रदान की जाती है और शेष को 'अव्यय' नाम दिया जाता है। हिन्दी में इस तरह का कोई अन्तर नहीं है। हिन्दी में उपसर्ग-योजना व्यापक अर्थ में हुई है। हिन्दी में प्रयुक्त उपसर्ग संस्कृत उर्दू अथवा स्वयं हिन्दी के हैं।

१ संस्कृत उपसर्ग—

वे संख्या में बाईस हैं। हिन्दी में इनमें से बीस सरलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी के अपने उपसर्ग बारह और उर्दू के सोलह हैं। नीचे विवरण देखिये:—

१ अति २ अधि ३ अनु, ४ अप, ५ अभि ६ अव ७ आ ८ उत् ९ उप १० दुर् ११ नि १२ निर् १३ परा १४ परि, १५ प्र १६ प्रति १७ वि, १८ सम् १९ उद् २० दुस् २१ निस् २२ सु।

अतिकाल अधिकार, अनुकरण अपमान अभिशाप अवगत आरम्भ उत्पन्न उपकार, दुर्गम निपात पराजय परिजन प्रचार प्रतिकार प्रतिदान विदेश संगम

उद्गम दुर्लभ, निश्चल सुवास आदि शब्दों में इनका प्रयोग देखा जा सकता है।
संस्कृत में धातु के पहले एक से अधिक उपसर्गों का प्रयोग भी होता है जैसे—
वि + आ + कृति = व्याकृति, दुर् + अभि + सम् + धि = दुरभिसंधि आदि।

उपसर्गाभास—

संस्कृत शब्दों में कुछ विशेषण और अव्यय उपसर्गों की भाँति प्रयुक्त होते हैं। इनका उपयोग स्वतंत्र रूप से नहीं होता। इन उपसर्गों से सामासिक शब्द बनते हैं। उदाहरण देखिये—

उपसर्ग	अर्थ	शब्द रूप
अ	अभाव निषेध	अगम अनीति अव्यय
अधस्	नीचे	अधोगति अधोभाग
अन्तर् (अन्त)	भीतर	अन्तःकरण अन्तर्धान
अमा	पास	अमात्य अमावस्या
अलम्	सुन्दर	अलंकार, अलंकृत
आविर्	प्रकट, बाहर	आविर्भाव आविष्कार
इति	ऐसा	इतिवृत्त इतिहास
कु	बुरा	कुकर्म कुरूप
चिर	बहुत, दीर्घ	चिरकाल चिरंजीव
तिरस्	तुच्छ	तिरस्कार, तिरोभाव
न	अभाव	नग नास्तिक
नाना	अनेक	नानारूप नानाप्रकार
पुरस्	सामने आगे	पुरस्कार, पुरश्चरण
पुरा	पहले	पुरातन पुरातत्त्व
पुनर्	फिर	पुनर्जन्म पुनरुक्त
प्राक्	पहले का	प्राक्तन, प्राक्कथन
प्रातर्	सवेरे	प्रातःकाल प्रातःस्मरण
प्रादुर्	प्रकट	प्रादुर्भाव प्रादुर्भूत
बहिर्	बाहर	बहिष्कार, बहिर्मुख
स	सहित	सगोत्र, सजीव सरस
सत्	अच्छा	सज्जन सत्पात्र सद्गुण
सह	साथ	सहकारी, सहचर, सहज
स्व	अपना, निजी	स्वयंसेवक स्वयंवर

२ हिन्दी-उपसर्ग—

अ अन्—अमोल, अनमोल अनजान

अध—अधजला अधपका अधखिला अधमरा

उन—उन्नीस, उनतीस, उनसठ

औ—औगुन औघट औसर

दु—दुकाल दुबला

नि—निडर निमोही निकम्मा

बिन—बिनजाना बिनदेखा बिनगाया

भर—भरपेट, भरसक भरपूर

कु क—कुबेर कुपढ़ी कपूत कुढंग

सु स—सुगति सुडौल सुजान सपूत सगोत

इनमें से 'अध' 'उन', 'औ' 'दु' 'नि' 'बिन' 'भर' 'क' तथा 'स' तद्भव हैं। इनकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई है—

अध	<	अद्ध	<	अर्द्ध
उन	<	ऊन	<	ऊन
औ	<	अव अउ	<	अव
दु	<			दुर् दुष् (सं०)
नि	<	नि	<	नि निर्, निस्
बिन	<			सं० बिना
भर	<	भर	<	भृत भार
क	<	कु	<	कु
स	<	सु	<	सु

उर्दू-उपसर्ग (अरबी फारसी)

अल (अलबत्ता), कम (कमउम्र) खुश (खुशबू), ग़ैर (ग़ैरहाज़िर)

दर (दरअसल), ना (नापसन्द नासमझ) फ़ी (फ़ी आदमी)

ब (बनाम बदस्तूर) बद (बदनाम बदकार), बर (बरखास्त बरवक़्त),

बा (बाक़ायदा) बिल (बिलकुल बिलमुक्ता), बिला (बिलाशक)

बे (बेईमान), ला (लाजवाब) सर (सरकार सरपंच) हम (हमराह) हर (हरमाह हरसाल)।

सूचना—संस्कृत उपसर्गों का प्रयोग तत्सम शब्दों के साथ, हिन्दी-उपसर्गों का प्रयोग तद्भव शब्दों के साथ और उर्दू उपसर्गों का प्रयोग सामान्यतः उर्दू-शब्दों के साथ होता है। इस संबंध में अपवाद भी मिलते हैं किन्तु बहुत कम।

अंग्रेजी के भी एक-दो शब्द उपसर्ग-रूप में हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं यद्यपि वे मूलतः विशेषण हैं जैसे—

हैड—हैडपंडित हैडमुनीम

हाफ़—हाफ़कमीज़ हाफ़ आस्तीन

अध्याय ८

लिंग एवं वचन

(क) लिंग—

हिन्दी में केवल दो लिंग हैं—पुल्लिंग तथा स्त्री लिंग। संस्कृत और प्राकृत में तीन लिंग होते थे, किन्तु हिन्दी ने दो लिंग ही स्वीकार किये। ऐसा क्यों हुआ, कहा नहीं जा सकता। भारोपीय परिवार की प्रायः सभी भाषाओं में तीन लिंग स्वीकृत हैं। सेमेटिक परिवार की भाषाओं में केवल दो ही लिंग रहे हैं। मैं निश्चित रूप से तो नहीं कह सकता किन्तु यह समझता हूँ कि मुस्लिम सम्पर्क के कारण पुरानी हिन्दी या उत्तर अपभ्रंश में ही दो लिंग प्रयुक्त होने लग गये थे। यह प्रभाव मुख्यतः अरबी और फ़ारसी का रहा दीखता है।

संस्कृत और प्राकृत का नपुंसक लिंग हिन्दी में पुल्लिंग बन गया है। यह केवल 'काल' की कृपा है। हिन्दी के बहुत से विशेषण व्यंजनान्त हैं। वे पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के लिए भिन्न–भिन्न रूपों को ग्रहण नहीं करते जैसे—लाल घोड़ा लाल घोड़ी चतुर बालक चतुर बालिका। यह नियम प्रायः सभी अकारान्त और ऊकारान्त विशेषणों में लागू होता है जैसे—

चालाक पुरुष चालाक स्त्री।
प्रकाशित कोठरा प्रकाशित कोठरी।
बुड्ढ़ घोरा बुड्ढ़ घोरी।
साधु नर, साधु नारी।

१ हिन्दी में पुल्लिंग शब्द से ऐसी वस्तु या ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जिसमें विशालता शक्ति पुरुषत्व अथवा कुछ महापन का भाव निहित हो और स्त्रीलिंग शब्द से लघुता निर्बलता और सुन्दरता का भाव व्यक्त होता है। निम्न लिखित हिन्दी शब्दों में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शब्दों से यही भाव ग्रहण किया जा सकता है—

संस्कृत	हिन्दी पुल्लिंग	हिन्दी स्त्रीलिंग
भाण्ड	हांडा	हांडी
गोल	गोला	गोली
रश्मि (rope)	रस्सा	रस्सी

२ हिन्दी में आकारान्त शब्द प्राय पुंल्लिंग होते हैं और गुरुता का भाव व्यक्त करते हैं तथा ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं और छुटाई (लघुता) का भाव व्यक्त करते हैं जैसे—

पु०	स्त्री०
चिरटा	चिरटी
गाड़ा	गाड़ी
लकड़ा	लकड़ी
घोड़ा	घोड़ी
लाठा लठा	लाठी
बकरा	बकरी
पाड़ा	पाड़ी

हिन्दी के वे शब्द जिनका पुंल्लिग एक वचन रूप आकारान्त होता है, पुंल्लिग बहुवचन में एकारान्त होते हैं। उनका स्त्रीलिंग एकवचन रूप ईकारान्त होता है और उनके बहुवचन रूप के अन्त में 'इयाँ' अथवा इयाँ' प्रत्यय आता है, जैसे—

शब्द	पुंल्लिग		स्त्रीलिंग	
	एक वचन	बहु वचन	एक वचन	बहु वचन
बच्चा	बच्चा	बच्चे	बच्ची	बच्चियाँ
घोड़ा	घोड़ा	घोड़े	घोड़ी	घोड़ियाँ
गधा	गधा	गधे	गधी	गधियाँ
पाड़ा	पाड़ा	पाड़े	पाड़ी	पाड़ियाँ पाड़ियाँ

(क) हिन्दी में वे तत्सम शब्द आकारान्त होते हैं जो संस्कृत में अन्-अन्त हैं और जिनके संस्कृत प्रथमा एक वचन के रूप में 'आ' होता है जैसे—

राजन् 7 राजा
आत्मन् 7 आत्मा

(ख) जिन संस्कृत शब्दों में अन्त में तृ आता है, वे भी अपने तत्सम रूप में हिन्दी में आकारान्त ही होते हैं जैसे—

कर्तृ = कर्ता
भर्तृ = भर्ता
धातृ = धाता

(ग) कुछ विदेशी शब्द भी जो अपनी-अपनी भाषाओं में आकारान्त उच्चरित होते हैं हिन्दी में आकारान्त पुल्लिग स्वीकार कर लिये गये हैं जैसे—

दाना (Sage)
दरिया (river)
उमरा (Nobles)
खुदा (God)
दारोगा (Overseer)

(२) ईकारान्तता तद्भव और देशज स्त्रीलिंग शब्दों की एक विशेषता है। ये शब्द संस्कृत और प्राकृत ईकारान्त शब्दों से भिन्न प्रकार के हैं। इसके विरोध में कुछ ईकारान्त शब्द पुल्लिग भी होते हैं। ईकारान्त पुल्लिग शब्दों के कई भेद हैं —

(क) वे हिन्दी तद्भव शब्द जो संस्कृत के इनन्त शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं और जिनका रूप कर्ता एक वचन में ईकारान्त हो जाता है पुल्लिग होते हैं जैसे—

हस्तिन्	हस्ती	हाथी
स्वामिन्	स्वामी	साईं
मालिन्	माली	माली
पक्षिन्	पक्षी	पंछी
साक्षिन्	साक्षी	साखी

कुछ अनिश्चित क्रम के शब्द भी इस भेद में आ जाते हैं जैसे-बोबी पटवारी पड़ोसी मोदी (Shopkeeper) पाही (Non-resident Cultivator)

सूचना—'बोबी' शब्द को कुछ विद्वान् 'वापिन्' से व्युत्पन्न मानते हैं। वाप का अर्थ 'बोना' है। यद्यपि संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग बोड़ने के अर्थ में होता है किन्तु असभ्य बोली में यह बोने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो यह भी संभव है।

१ पाही* ∠ पाखी ∠ पक्षिन् (पक्ष = Side)

२ पटवारी = (i) पट्ट से (पट) (ii) पत्र से } a letter or writing

वारिन् = करने वाला शायद √ वृ से

३ पड़ोसी = प्रतिवासिन् ∠ पडिवसी ∠ पड़ोसी

४ मोदी = मोदक (Sweetmeats) + ई

किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि यह अरबी शब्द मुहय्या (Provisions, Stores) से बना है।

---

*वह किसान जो खेत पर न रह कर दूसरे गाँव में रहता है।

'इन्' प्रत्ययान्त शब्दों का स्त्रीलिंग 'इनी' से बनता है जैसे—

हस्ती 7 (पु०) हाथी (स्त्री०) हथिनी

(ख) वे तत्सम पुल्लिंग शब्द जिनके अन्त में 'ऋ' आता है हिन्दी में ईकारान्त हो जाते हैं जैसे—

मातृ 7 भाई
नप्तृ 7 नाती
जामातृ 7 जमाई

(ग) इकारान्त तत्सम पुल्लिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दों से व्युत्पन्न हिन्दी तद्भव 'ईकारान्त' होते हैं, जैसे—

दधि 7 दही
भगिनीपति 7 बहनोई
वर्धकि 7 बढ़ई (गुजराती वाढो)

(घ) 'इक' 'इय' तथा 'ईय' प्रत्यय वाले पुल्लिंग और नपुंसक लिंग तत्सम शब्दों के 'तद्भव' ईकारान्त होते हैं जैसे—

पानीय 7 पानी
प्रिय 7 पी
मोक्तिक 7 मोती
क्षत्रिय 7 खत्री खत्री

(ङ) पुल्लिंग और नपुंसक लिंग 'तत्सम' शब्दों से व्युत्पन्न शब्द जिनका उपान्त्य स्वर 'इ' या 'ई' होता है हिन्दी में 'ईकारान्त' होते हैं।

घृत 7 घिय 7 घी
मौक्तिक 7 मोत्तिय 7 मोती
भ्रातृ 7 भाइय 7 भाई

(३) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उकारान्त हिन्दी (तद्भव) शब्द पुल्लिंग होते हैं जैसे—बुद्धू, घोटू, गौडू, काटू चालू, चिपकू, पेटू खाऊ आदि।

(४) उकारान्त तत्सम नपुंसक लिंग शब्द जो हिन्दी में भी उकारान्त होते हैं प्राय पुल्लिंग होते हैं, जैसे—

मधु 7 मधु
वस्तु 7 वस्तु
साधु 7 साधु साहु

(५) हिन्दी के उकारान्त शब्द जो ओकारान्त प्राकृत शब्दों से व्युत्पन्न हैं, पुल्लिंग होते हैं—

बइल्लो = बैलु (बैल)
मऊरो = मोरु (मोर)

(६) तत्सम आकारान्त शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग बने रहते हैं जैसे—
पूजा चिन्ता कथा रसना।

(७) आकारान्त संस्कृत स्त्रीलिंग शब्दों से व्युत्पन्न अकारान्त हिन्दी शब्द स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

बुभुक्षा 7 भूख
जिह्वा 7 जीभ
माला 7 माल
बाधा 7 बाध
गाथा 7 गाथ
वार्ता 7 बात
यात्रा 7 जात

(८) आकारान्त संस्कृत स्त्रीलिंग शब्दों से व्युत्पन्न कई आकारान्त हिन्दी शब्द स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं जैसे—

आज्ञा 7 आग्या
यात्रा 7 जातरा जात्रा
क्षमा 7 छमा छिमा खमा
मठिका 7 मठिया
पट्टिका 7 पटिया
संध्या 7 संझा

(९) 'इया' प्रत्यय वाले बहुत से हिन्दी तद्भव शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं जैसे—डिबिया, चिड़िया बुढ़िया किन्तु यह हिन्दी 'इया' प्रत्यय संस्कृत के 'इका' से व्युत्पन्न हुआ है। पुल्लिंग तत्सम प्रत्यय 'इक' से भी 'इया' व्युत्पन्न हुआ है किन्तु इस प्रत्यय से बने हिन्दी शब्द पुल्लिंग ही होते हैं जैसे—

रसिक 7 रसिया
वणिक 7 बनिया
तैलिक 7 तेलिया

(१०) जिस प्रकार अधिकांश ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार अधिकांश ऊकारान्त तद्भव शब्द जो ऊकारान्त तत्सम स्त्रीलिंग शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं, स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

वधू 7 बहू

(११) सामान्यतया अकारान्त और आकारान्त हिन्दी पुल्लिंग शब्द अन्त में 'ई' होने पर स्त्री वाचक हो जाते हैं जैसे—

पु०	स्त्री
नाना	नानी
गधा	गधी

घोड़ा	घोड़ी
चाचा	चाची
मामा	माई मामी
बन	बनी
बाँस	बाँसी

सूचना—जहाँ अकारान्त हिन्दी शब्द पुल्लिंग होते हैं वहाँ अक से अओ या 'ओ' और फिर आ' हुआ है, और ऐसे शब्दों के हिन्दी स्त्री लिंग शब्द इका' से व्युत्पन्न हुए हैं जैसे—

घोटिका 7 घोडिया 7 घोड़ी

यहाँ 'इका' से 'इया' और फिर 'ई' रह गया है।

(१२) इन इनी नी—इन प्रत्ययों से बनने वाले हिन्दी स्त्रीलिंग शब्द संस्कृत 'इनी' प्रत्यय वाले शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं जैसे—

हस्तिनी 7 हथिनी

ईकारान्त पुल्लिंग शब्दों से बने स्त्रीलिंग शब्दों में भी यह रूप दृष्टिगोचर होता है। ध्यान रखने की बात है कि 'ई' संस्कृत 'इन्' का तद्भव रूप है जैसे—

धोबी — धोबिन

माली — मालिन (सं० मालिनी)

किन्तु यह प्रत्यय केवल उन्हीं हिन्दी शब्दों तक सीमित नहीं है जिनके तत्सम शब्दों में इन' (पु) तथा इनी (स्त्री) प्रत्यय लगते हैं प्रत्युत यह भिन्न्हीं भी प्रत्ययों से बने हुए पुल्लिंग शब्दों में लगकर उन्हें स्त्रीलिंग शब्द बना देता है, जैसे—

पु		स्त्री
सोनार	(∠स्वर्णकार)—	सुनारिन
चमार	(∠चर्मकार)—	चमारिन
कुम्हार	(∠कुम्भकार)—	कुम्हारिन
बाघ	(∠व्याघ्र)—	बाघिन बाघिनी

असंस्कृत एवं असभ्य उच्चारणों में तथा प्राय उर्दू बोलने वालों की जबान से 'इन प्रत्यय अन' जैसा उच्चरित होता है—

ग्वालन	(ग्वालिन)
पापन	(पापिन)
तेलन	(तेलिन)
पटेलन	(पटेलिन)
मालन	(मालिन)

'इन' 'अन या 'नी' प्रत्ययों से बने हुए स्त्रीवाचक शब्द किसी वर्ग या व्यवसाय

के पुरुष की पत्नी का संकेत करते हैं। इनसे प्राय उस स्त्री का संकेत नहीं होता जो व्यवसाय को स्वयं करती है जैसे—

'चोरनी' शब्द से चोर की पत्नी का ही संकेत मिलता है स्वयं चोरी करने वाली स्त्री का बोध नहीं होता।

(१३) 'आनी तथा 'आइन' प्रत्ययों से बने शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है जैसे—

पंडित = पंडितानी
गुरु = गुरुआइन गुरआइन
ठाकुर = ठकुरानी ठकुराइन
चौधरी = चौधरानी चौधराइन

ये आनी तथा 'आइन' प्रत्यय संस्कृत 'आनी' से निकले हैं, आइन में वर्ण-विपर्यय है। ये प्रत्यय फ़ारसी से निकले हुए शब्दों में भी लगाये जाते हैं जैसे—

पु०	स्त्री०
मेहतर	मेहतरानी
मुग़ल	मुग़लानी
नौकर	नौकरानी
तुर्क	तुर्कानी

कई फ़ारसी और अरबी के शब्दों ने भी हिन्दी के स्त्रीलिंग के रूप धारण कर लिये हैं जैसे—

फ़ारसी-अरबी शब्द	हि० पु०	हि० स्त्री०
मु.रसा (अ०)	मुरीस	मुरीसन मुरीसन मुरीसिन
क़साब (अ०)	क़साई	क़साइन क़साइनी
कारीगर (फ़ा०)	कारीगर	कारीगरनी

सूचना—उपर्युक्त उदाहरणों में 'ऐन' ऐनिन ऐनन, ऐनस अनी तथा अनी प्रत्यय भारतीय आर्य भाषा परिवार के हैं।

'आई' प्रत्यय वाले पुल्लिंग शब्दों के स्त्रीवाचक रूपों में दीर्घ 'ई' ह्रस्व ('इ') हो जाती है और 'न' जुड़ जाता है जैसे—

हलवाई — हलवाइन

जब इस प्रकार के शब्द का अन्तिम व्यंजन अनुनासिक होता है तो उसकी अनुनासिकता लुप्त हो जाती है, जैसे—

गुसाँई — गुसाइन

(१४) उकारान्त पुल्लिंग शब्दों के स्त्रीलिंग में नी प्रत्यय लगता है, जैसे—
साधु—साधुनी।

यदों से कभी-कभी 'आइन प्रत्यय भी लगता है जैसे—साधु-साधुआइन (सधुआइन)

ऊकारान्त पुल्लिंग शब्दों के स्त्रीलिंग शब्दों में 'ऊ' ह्रस्व हो जाता है और आइनि या आनी प्रत्यय लग जाता है, जैसे—

हिन्दू—हिन्दुआइनि (हिन्दुस्तानी' भी) कहीं-कहीं 'नी' या 'नि प्रत्यय लगा कर ऊकारान्त शब्दों से स्त्रीलिंग वाचक शब्द बना लिये जाते हैं—

जैसे हिन्दू—हिन्दुनी या हिन्दुनि ।

(१५) वे भाववाचक संज्ञाएँ जिनके अन्त में 'पन और 'पा' होता है पुल्लिंग होती हैं जैसे—

'पन —

बालकपन
लड़कपन
अपन

'पा —

बुढ़ापा
रँडापा

(१६) 'ता' प्रत्यय से बनने वाली भाववाचक संज्ञाएं संस्कृत की भाँति स्त्रीलिंग होती हैं जैसे—

पटेल+ता=पटेलता
सहल+ता=सहलता
मूरख+ता=मूरखता

(१७) कुछ हिन्दी शब्द ऐसे हैं जिन्होंने अपना लिंग बदल लिया है,

जैसे—देह (सं० पु०) 7 देह (हि० स्त्री)
शपथ (सं० पु०) 7 सौंह (हि० स्त्री०) सपथ
मक्षि (स० नपु०) 7 आँख (हि० स्त्री०)
आमय (सं पु०—रोग) 7 आँव (हि० स्त्री०)
बाहु (सं० पु०) 7 बाँह (हि० स्त्री०)
वस्तु (सं० नपु) 7 वस्तु, बसत बस्तु (हि० स्त्री०)
विप सं० नपु० 7 विप, बिख बिख (हि० पु०)
घ न (सं० नपु) 7 घाँव घ तड़ी (हि० स्त्री०)
धातु (सं० पु० तथा नपु० 7 धात (हि० स्त्री०)
बिन्दु (पु०) 7 बुन्द बिन्द बिन्दी बेंदी (हि० स्त्री०)

वदु (सं० पु०) 7 दांत (हि० स्त्री०)

हिन्दु Or हिन्दु० (सं पु०) 7 हींग (हि० स्त्री०)

सूचना—एक बड़ी समस्या यह है कि देह सोहू आदि शब्दों ने जो संस्कृत में पुल्लिंग थे स्त्रीलिंग रूप क्यों ले लिया ? संभवत यह अरबी-फारसी का प्रभाव है। ऐसा लगता है कि जो नपुंसक लिंग प्राकृतों में बना रहा वह मुसलमानों के आगमन और आभीर गुर्जर आदि के सम्पर्क से जर्जर होकर पुरानी हिन्दी में विलीन हो गया। पर के रासो में नपुंसक लिंग जजर एव सुगम्राम रूप में देखा जासकता है।

प्रथमं भुजंगी सुधारी ग्रहंनं

जिनें नाम एकं अनेकं कहंत (रासो १-५) रेखांकित शब्दों को नपुंसक लिंग समझना चाहिए, किन्तु इसका रख किधर और कैसा है यह सरलता से समझा जा सकता है। ऐसा लगता है कि चन्द के समय तक लिंग भेद के संबंध में लोग लापरवाह हो गये थे। पुल्लिंग उस समय अधिक प्रभावशाली था फारसी में भी इसको प्रोत्साहन मिला अतएव नपुंसक समाप्त हो गया। यहाँ तक कि उसने स्त्रीलिंग को भी किसी सीमा तक आत्मसात् कर लिया जब तक कि उसकी (स्त्रीलिंग की) कोई विशेष आवश्यकता न रही हो और यह आवश्यकता प्राणिवाचक शब्दों में ही प्रतीत हुई।

लिंग-निर्णय

लिंग-निर्णय की समस्या का उदय विदेशी प्रभाव के कारण हुआ है। जब हिन्दी का जन्म प्राकृत-अपभ्रंश से होकर ही रहा था उस समय हिन्दी में बहुसंख्यक शब्द संस्कृत मूल के ही थे। विदेशियों के सम्पर्क से हिन्दी में अनेक विदेशी शब्द आये। आर्य शब्दों ने बहुत से विदेशी प्रत्ययों का स्वीकार करके नया रूप बनाया तथा बहुत से विदेशी शब्द आर्य-परिवार के प्रत्ययों से अपनाये गये परिणामत हिन्दी में लिंग-निर्णय की समस्या ने जन्म लिया। लिंग-निर्णय-संबंधी कुछ नियम ये हैं —

तत्सम शब्दों का लिंग-निर्णय —

(क) संस्कृत (तत्सम) पुल्लिंग शब्द —

(१) संस्कृत के अकारान्त शब्द हिन्दी में पुल्लिंग होते हैं। जैसे-गगन पद श्रवण लोचन सुख दुःख प्रकाश प्रसार, चन्द्र, चन्दन छन्द अलंकार भोजन वचन मर्म ग्राम गृह नगर देश सर्प नाटक स्वास्थ्य विस्मय उपादान उपकरण आगमन भ्रम निर्माण, प्रस्ताव आभार न्यास संघ आवागमन प्रतिवेदन प्रविवरण संकल्प आदि।

(ख) तत्सम स्त्रीलिंग शब्द —

(i) आकारान्त संज्ञाएं स्त्रीवाचक होती हैं, जैसे—
दया माया ममता कृपा लज्जा क्षमा शोभा सभा आदि ।

(ii) नाकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं जैसे—
प्रार्थना भर्त्सना वेदना आराधना रचना वासना आदि ।

(iii) उकारान्त संज्ञाएं प्राय स्त्रीवाचक होती हैं जैसे—
वायु रेणु रज्जु जानु, मृत्यु, आयु वस्तु, ऋतु, धातु आदि ।
अपवाद—सेतु, मधु, तालु धम्, हेतु, आदि ।

(iv) व तत्सम संज्ञाए जिनके अन्त में 'ति' या 'नि' हो हिन्दी में स्त्रीलिंग होती हैं जैसे-मति गति जाति रीति हानि ग्लानि योनि आदि ।

(v) हिन्दी की 'ता' प्रत्ययान्त तत्सम भाववाचक संज्ञाएं स्त्रीलिंग होती हैं जैसे—

नम्रता लघुता साधुता सुन्दरता प्रभुता आदि ।

(vi) हिन्दी की इकारान्त तत्सम संज्ञाए स्त्रीलिंग होती हैं जैसे—
निधि विधि गति परिधि अग्नि भुक्ति राशि छवि केलि रुचि कृति मति आदि ।

(vii) इमा' प्रत्ययान्त तत्सम शब्द स्त्रीवाचक होते हैं जैसे—
महिमा गरिमा कालिमा लघिमा आदि ।

तद्भव शब्दों का लिंग-निर्णय—

(क) पुंलिंग शब्द—

(i) ऊनवाचक संज्ञाओं को छोड़ शेष आकारान्त हिन्दी संज्ञाए पुंल्लिंग होती हैं जैसे—
कपड़ा मथा पैसा पहिया आटा चमड़ा आदि ।

(ii) जिन भाववाचक संज्ञाओं के अन्त में ना आव' 'पन' अथवा 'पा होता है वे पुंल्लिंग होती हैं, जैसे—
आना गाना जाना बहाव चढ़ाव बड़प्पन बुढ़ापा बचाया मुटापा आदि ।

(iii) कृदन्त आनंत संज्ञाए पुंल्लिंग होती हैं जैसे—
लगान मिलान खान, पान नहान उठान आदि ।

(ख) स्त्रीलिंग शब्द —

(i) ईकारान्त संज्ञाए जैसे—
नदी चिट्ठी रोटी, टोपी चोटी, उदासी आदि ।

सूचना—पानी घी जी मोती आदि पुंल्लिंग हैं ।

(ii) ऊनवाचक आकारान्त संज्ञाएं जैसे—

फुड़िया, खटिया डिबिया पुड़िया ठिलिया पटिया मटिया आदि।

(iii) तकारान्त संज्ञाएं जैसे—

रात, बात लात घात, छत, भीत पत गत आदि।

(iv) ऊकारान्त संज्ञाएं जैसे—

लू बहू आदि।

अपवाद—आँसू, आलू रतालू टेसू आदि शब्द पुल्लिंग हैं।

(v) अनुस्वारांत संज्ञाएं जैसे—

सरसों, खाओं खड़ाऊं, दौं भूं आदि।

अपवाद—गेंहू कोदों आदि शब्द पुल्लिंग हैं।

(vi) सकारान्त संज्ञाएं जैसे—

प्यास मिठास निवास बास सांस फाँस आदि।

अपवाद—'मिठास' का प्रयोग पुल्लिंग में भी किया जाता है।

अपवाद—विकास काँस रास (नृत्य) आदि शब्द पुल्लिंग हैं।

(vii) नकारान्त कृदन्त संज्ञाएं जिनका उपान्त्य वर्ण अकारान्त हो अथवा जिनकी धातु 'नकारान्त' हो जैसे—

रहन सूजन जलन उलझन पहचान इत्यादि।

अपवाद—चलन (चाल-ढाल) आदि।

(viii) अकारान्त कृदन्त संज्ञाएं जैसे—

मार, समझ, सँभाल रगड़ चमक छाप पुकार आदि।

अपवाद—खेल नाच मेल बिगाड़ आदि।

(ix) वे भाववाचक संज्ञाएं जिनके अन्त में 'ट' 'वट' 'हट' होता है जैसे—
'सजावट' घबराहट' चिकनाहट आहट झंझट आदि

(x) हिन्दी की 'खांत' संज्ञाएं — जैसे

ईख भूख राख चीख काँख कोख साख देख-रेख आदि।

अपवाद—पाख रुख आदि शब्द पुल्लिंग हैं।

निष्कर्ष-रूप में यह कहा जा सकता है कि—

क पुल्लिंग]

(१) आकार में बड़ी भारी वस्तुओं के नाम प्राय पुल्लिंग होते हैं जैसे
मट्ठा रस्सा लक्कड़ आदि।

(२) ग्रह धातु, रत्न वृक्ष अन्न और द्रववाचक संज्ञाएं पुल्लिंग होती हैं जैसे—

(i) ग्रह—सूर्य चन्द्र मंगल आदि

(ii) धातु—सोना तांबा लोहा आदि

सूचना—'चाँदी' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में होता है, तथा 'पीतल' का प्रयोग भी कुछ लोग स्त्रीलिंग में हो करते हैं।

(iii) रत्न-हीरा, नीलम पन्ना आदि।

(iv) वृक्ष-पीपल नीम बड़ आम आदि।

(v) अन्न-जौ गेहूँ चना।

सूचना—ज्वार मक्का, मटर का प्रयोग प्राय: स्त्रीलिंग में होता है।

(vi) द्रव वाचक—पानी दूध तेल घी सिरका आदि

(३) दिन मास सन् के नाम पुल्लिंग होते हैं -

(i) दिन-सोम मंगल बुध आदि।

(ii) मास- चैत बैसाख जेठ असाढ़ आदि

(iii) सन्- विक्रमी ईसवी आदि

(४) पर्वतों के नाम पुल्लिंग होते हैं जैसे—

हिमालय विन्ध्याचल सतपुड़ा माराबलि सुलेमान आदि

(५) कुछ पुष्पों के नाम भी पुल्लिंग होते हैं जैसे—

कमल गुलाब गेंदा टेसू, हजारा आदि।

(६) कुछ व्यवसायों के नाम — जैसे

धोबी चमार लुहार, बढ़ई सुनार आदि।

(७) वर्णों के नाम ('इ' 'ई' तथा 'ऋ' को छोड़कर) जैसे

अ आ उ ऊ ए, ऐ, क म आदि।

(८) कुछ प्रत्ययान्त शब्द—

न ख]

नयन वचन बचन मरण मरण दर्शन आदि।

ज द]

पंकज जलज भारमज जलद आदि।

आस आर]

विकास उल्लास विकार विस्तार आदि।

त्व]

सिहत्व प्रभुत्व महत्व आदि।

(ख) (स्त्रीलिंग) —

(i) नदियों के नाम—गंगा यमुना सरस्वती आदि।

(ii) तिथियों राशियों के नाम-प्रथमा द्वितीया पड़वा दौज मीन मेष आदि।

(iii) पुस्तकों के नाम—रामायण गीता गीतावलि कामायनी

सूचना—महाभारत सूरसागर आदि का प्रयोग पुल्लिंग में होता है।

(३) अतः संप्रदान, अपादान तथा अधिकरण बहुवचन के प्रत्यय भी अप-भ्रंश-काल के पूर्व ही लुप्त हो गये। अब हिन्दी को केवल तीन रूप ही अपनी पूर्वजा से प्राप्त हुए—कर्ता बहुवचन, करणकारक बहुवचन तथा सम्बन्धकारक बहुवचन।

हिन्दी में करण तथा सम्बन्ध कारक बहुवचन रूपों का उपयोग अन्यकारकों के बहुवचन रूप को प्रकट करने के लिए भी किया है जैसे—

पश्चिमी हिन्दी में आकारान्त पुल्लिंग रूपों के कर्ताकारक बहुवचन के लिए लिया गया यथा—गये चलते है। यहाँ गये रूप सं० गतैभिः से प्रा० 'गयहिं' से होकर आया है ब्रजभाषा में गयनु घनु आयो जैसे प्रयोग मिलते हैं। यहाँ 'गयनु' कर्ता बहुवचन रूप है जो 'गतानाम्' से व्युत्पन्न माना जाता है।

(४) सम्बन्धकारक-बहुवचन रूप का व्यवहार कर्ताकारक बहुवचन के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों के बहुवचन में होता है जैसे—घोड़ों को घोड़ों से घोड़ों के लिए, घोड़ों का, 'घोड़ों पर' आदि। सम्भवतः 'घोड़ों' के 'ओं' प्रत्यय का विकास संस्कृत 'आनाम्' से हुआ है।

(५) कर्ताकारक एकवचन में शब्द का प्रातिपदिक रूप ही प्रयोग में आता है जैसे—घोड़ा गिर गया, राम आया, लता बढ़ गयी।

(६) पुल्लिंग आकारान्त शब्दों के विकारी-कारकों के एकवचन में पदान्त 'आ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय लगता है, जैसे—घोड़े (को से का के लिए आदि)। अन्य शब्दों में विकारी-कारकों के एकवचन में भी प्रातिपदिक रूप ही रहता है जैसे—बालक माला घर (को से के लिए, का में)

सूचना—घोड़े (को से के लिए का में) में प्रयुक्त 'ए' का विकास म० भा० आ० भा० के 'अओ+हि, हिं' से हुआ प्रतीत होता है। यही विकारी-कारकों के एक-वचन प्रत्यय के रूप में गृहीत हुआ है किन्तु 'घर' जैसे ही अन्य शब्दों में यह प्रत्यय सर्वथा लुप्त होकर विकारी कारकों में भी प्रातिपदिक-रूप ही रह गया है।

(७) तद्भव-पुल्लिंग-आकारान्त शब्दों के कर्ता बहुवचन का रूप भी अन्त्य स्वर 'आ' का लोप कर 'ए' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। अन्य पुल्लिंग शब्दों के कर्ता-एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं जैसे—

एकवचन	बहुवचन
लड़का	लड़के
घोड़ा	घोड़े

किन्तु अन्य रूप दोनों वचनों में समान है—

घर	घर
राजा	राजा

माई	माई
नाई	नाई

सूचना-कर्त्ताकारक—बहुवचन-प्रत्यय 'ए' की उत्पत्ति संदिग्ध है। हार्नेले ने विकारी-एकवचन के रूप को ही बहुवचन में प्रयुक्त माना है। डा० चटर्जी 'ए' की उत्पत्ति इस प्रकार दिखाते हैं–

ए ∠ अइ, अहि अही ∠ ०मि

(८) 'इ-ई'-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के कर्त्ता बहुवचन में 'आँ' प्रत्यय तथा अन्य स्त्रीलिंग शब्दों के कर्त्ता बहुवचन में 'एँ' प्रत्यय लगता है। इ-कारान्त तथा ई-कारान्त 'तत्सम' तथा ईकारान्त शब्दों में 'आँ' से पूर्व 'य्' का योग होता है तथा अन्त्य 'ई' के स्थान पर 'इ' हो जाती है जैसे–

विधि	विधियाँ
गति	गतियाँ
नदी	नदियाँ
लड़की	लड़कियाँ

(९) उ-ऊ-कारान्त तत्सम और तद्भव शब्दों के कर्त्ता बहुवचन में "ए" जुड़ जाता है तथा 'ऊ' ह्रस्व हो जाता है जैसे–

ए० व०	ब० व०
वधू	वधुए
वस्तु	वस्तुए
बहू	बहुए

(१०) उ-ऊ-कारकारान्त पुँल्लिंग शब्दों के कर्त्ताकारक बहुवचन-रूप एकवचन के समान ही होते हैं जैसे–

ए० व०	ब० व०
साधु	साधु
पेटू	पेटू
डाकू	डाकू

(११) सभी शब्दों के विकारी-कारकों के बहुवचन में 'ओं' प्रत्यय लगता है और इससे पूर्व आने वाले अन्त्य 'आ' का लोप अन्त्य 'ई' और 'ऊ' का रूप ह्रस्व तथा 'इ ई' कारान्त बहुवचन रूपों में 'ओं' के स्थान पर 'यों' हो जाता है, जैसे–

१ लड़कियों को, लड़कियों ने लड़कियों का आदि।
२ विधियों को' आदि।
३ 'साधुओं को' 'डाकुओं को' आदि।
४ 'बहुओं ने' बहुओं को' आदि।

व्युत्पत्ति —

(i) आँ ∠ आँ ∠ आनि ।

(ii) एँ ∠ आइँ ∠ आनि ।

(iii) ओं अउ ∠ आनं आनां + हु ∠ आनाम् ।

(१२) (i) बहुवचन बनाने के लिए कुछ शब्दों में लोग गण जन वृन्द, मण्डल आदि समुदायवाचक शब्द जोड़ दिये जाते हैं जैसे-

भक्तजन, छात्रगण कविवृन्द सम्पादकमण्डल पाठकगण राजालोग मजदूरलोग आदि ।

(ii) कभी-कभी 'लोग' शब्द का बहुवचन में व्यर्थ प्रयोग भी होता है, जबकि वह बहुवचनसूचक सर्वनाम के साथ लगता है जैसे-

हम लोग तुम लोग वे लोग आदि ।

(iii) बहुवचनसूचक शब्दों के साथ विकारी-कारकों में 'लोग' का 'लोगों' हो जाता है, जैसे-

तुम लोगों को किसने कहा हम लोगों को जाना है ।

अध्याय ९

कारक

संज्ञा-रूप

संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप से वाक्य के अन्य शब्दों के साथ उसका संबंध प्रकट होता है उसे कारक कहते हैं। कारक की खोज वाक्य में ही की जा सकती है क्योंकि वाक्य भाषा का चरम अवयव है और वाक्य रचना में 'आकांक्षा' प्रेरक शक्ति का काम करती है। आकांक्षा के मूल में इच्छा या जिज्ञासा का भाव निहित रहता है। वाक्य में अभीष्ट अर्थ या अभिप्राय की व्यंजना करने के लिए एक पदार्थ या भाव दूसरे पदार्थ या भाव की आकांक्षा या इच्छा रखता है। भावों के संयोग के बिना अर्थ-प्रतीति कदापि संभव नहीं है। इसी आकांक्षा में कारकों का आधार निहित है। वाक्यगत एक पद के पढ़ने या सुनने पर दूसरे पद से उसके संबंध के जानने की इच्छा होती है। इस संबंध को जानने या जोड़ने की इच्छा जिस प्रकार बोलने या लिखने वाले में सजग रहती है उसी प्रकार सुनने या पढ़ने वाले में भी। जब तक एक शब्द दूसरे से संबंधित नहीं हो जाता तब तक पूर्णार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती और न तब तक वाक्य का ही निर्माण होता है। यों तो एक शब्द भी वाक्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है, किन्तु क्रियान्वित होकर तथा आकांक्षा को संयमित करके।

अतएव वाक्यगत शब्द परस्पर संबंधित होते हैं और क्रिया के प्रति उनकी पूर्ण आस्था होती है। वाक्य में शब्द की संबंध-प्रदर्शन की योग्यता जो उसे अपने स्थान चिन्ह या किसी शब्द (प्रत्यय) से मिलती है विभक्ति (या परसर्ग) कहलाती है। विभक्तियाँ भाषा के संश्लिष्ट रूप को प्रकट करती हैं और परसर्ग विश्लिष्ट रूप को। हिन्दी विश्लेषात्मक भाषा है इसमें परसर्ग-प्रयोग ही होता है अतएव विभक्ति को परसर्ग से पृथक करके देखना चाहिए। विभक्ति अपने योग से शब्द को पद-रूप देती है और शब्द उसे आत्मसात् करके ही पद-रूप प्राप्त करता है। परसर्ग के योग से शब्द को पद-रूप अवश्य मिलता है किन्तु वह शब्द में अन्तर्भूत नहीं होता। यही हिन्दी की विश्लेषात्मक प्रवृत्ति है। मध्यकाल तक हिन्दी में

संश्लेषात्मक प्रवृत्ति के कुछ अवशेष मिलते हैं जैसे—परि-पारि, जिन तिन, मनु, रिपु आदि। परसर्ग युक्त शब्द ही 'प्रयोगार्ह' होता है। वाक्य में प्रायः उसी का उपयोग होता है। वाक्य में कुछ शब्द लुप्त विभक्ति या लुप्तपरसर्ग भी होते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—एक तो समासगत पूर्वपद और दूसरे परसर्गहीन 'पद' यथा—

(i) कुल-गुरु ने बालक को आशीर्वाद दिया।

(ii) राम घर गया।

उक्त वाक्य में रेखांकित शब्द लुप्तविभक्ति या लुप्तपरसर्ग हैं। देखने में ये स्वतंत्र शब्द- जैसे दीख पड़ते हैं किन्तु ये 'पद' हैं, वाक्य में इनका स्थान है क्रिया के प्रति इनकी आस्था है और ये आपस में संबंधित हैं।

'कारक' की व्याख्या

'कारक' शब्द कर्तृत्व-शक्ति का वाचक है जिसका अर्थ करने वाला है। 'करने वाला' कोई कार्य (क्रिया) करता है अतः कारक का विशेष उद्देश्य किसी कार्य को करना है दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि 'कारक' का संबंध कार्य (क्रिया) से होता है। क्रिया का प्रयोग किसी उद्देश्य या फल की सिद्धि के लिए होता है अतः 'कारक' उद्देश्य-सिद्धि में सहायक होते हैं। कारक के बिना वाक्य या वाक्यों की रचना संभव नहीं है। वाक्य की सीमा में कारक' की स्थिति अनिवार्य है। वाक्य में प्रयुक्त 'पद' और 'कारक' एक ही चीज है। जिसको परसर्ग कहते हैं वह कारक चिह्न है।

यह 'परसर्ग शब्द कभी-कभी गलत समझ लिया जाता है। शब्द के साथ उसके बाद में जुड़ने से कुछ लोग इसे पर प्रत्यय कहने लगते हैं। पर प्रत्यय शब्द निर्माणकारी होते हैं, किन्तु 'परसर्ग शब्द-निर्माणकारी न होकर पद-निर्माणकारी होते हैं जैसे—

'मोहन ने कथा को पढ़ लिया' वाक्य में 'कथा को' शब्द 'पद' है। इसमें 'को' परसर्ग है और 'कथा' शब्द में 'कथ्' धातु तथा 'आ' पर-प्रत्यय है। वैसे परसर्ग भी पर-प्रत्यय का काम करता है किन्तु सभी पर-प्रत्यय पर-सर्ग नहीं होते।

हिन्दी में संस्कृत के समान कारकों की संख्या आठ है किन्तु हिन्दी में संस्कृत की विभक्तियाँ लुप्त हो गयी हैं। श्लिष्ट पद्धति के कुछ अवशेष (चिह्न) संज्ञाओं के प्रतिम प्रकार के कुछ परिवर्तनों में देखने को मिल जाते हैं। हिन्दी में केवल चार रूप दीख पड़ते हैं। १ कर्ताकारक-एकवचन रूप २ बहुवचन-रूप ३ विकारी-एकवचन रूप तथा ४ विकारी-बहुवचन-रूप। हिन्दी में कुछेक संज्ञाओं के ही विकृत रूप होते हैं अन्य प्रकार की संज्ञाओं में कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं। सभी व्यंजनान्त संज्ञाएँ सर्वत्र अपरिवर्तित रहती हैं। निम्नलिखित रूप-तालिका से चारों रूपों को देखा जा सकता है।

रूप-तालिका

शब्द	रूप	पुंल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुंल्लिंग	स्त्रीलिंग
अकारान्त	कर्ता ए० व०				
	विकृत ए० व०				
	कर्ता ब० व०		ए		बाँहें
	विकृत ब० व०	ओं	ओं	बालकों	बाँहों
इकारान्त	कर्ता ए० व०	इ			
	विकृत ए० व०	इ			
	कर्ता ब० व०	इ			
	विकृत ब० व०	इयों		पतियों	मतियों
उकारान्त	कर्ता ए० व०	उ			
	विकृत ए० व०	उ			
	कर्ता ब० व	उ			
	विकृत ब० व०	उओं		साधुओं	
आकारान्त	कर्ता ए० व०	आ		घोड़ा	
	विकृत ए० व०	ए		घोड़े	
	कर्ता ब० व०	ए		घोड़े	
	विकृत ब० व०	ओं	आएँ	घोड़ों	बालिकाएँ
ईकारान्त	कर्ता ए० व०	ई		सुखी	
	विकृत ए० व०	ई		सुखी	
	कर्ता ब० व०	ई	इयाँ	सुखी	सखियाँ
	विकृत ब० व०	इयों	इयों	सुखियों	सखियों
ऊकारान्त	कर्ता ए० व	ऊ		गाऊ	
	विकृत ए० व०	ऊ		गाऊ	
	कर्ता ब व०	ऊ	उए	गाऊ	वधूएँ
	विकृत ब० व०	उओं	उओं	गाउओं	वधुओं

कारक रूपों का इतिहास केवल उन आकारान्त संज्ञाओं में परिवर्तन होता है जो संस्कृत में अकारान्त (अस् वाली) होती हैं जिनके प्राकृत रूप अउ-कारान्त या ओ-कारान्त होते हैं। इस वर्ग की संज्ञाओं के एक वचन और बहुवचन विकृत रूप कर्ता में इस प्रकार बनते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	बेटा घोड़ा	बेटे घोड़े
विकृत	बेटे, घोड़े	बेटों घोड़ों

पुरानी हिन्दी में विकृत बहुवचन रूप के अन्त में 'अनि' 'अन' और आधुनिक हिन्दी में 'ओं' आते हैं। खड़ी बोली के विकृत रूपों में ही 'ने' 'को' 'से' आदि परसर्ग जोड़े जाते हैं, जैसे—घोड़े ने घोड़े का घोड़ों को किन्तु जिन संज्ञाओं के अन्त में हिन्दी में 'आ' आता है और जो संस्कृत मे प्रथमाविभक्ति में आकारान्त रहती हैं, वे इस नियम से मुक्त रहती हैं जैसे 'राजा ने' 'राजा को' राजा से'। 'दाता' शब्द भी इसी प्रकार का है। इसके 'दाता ने' 'दाता को' आदि रूप बनते हैं। कभी-कभी लेखक की असावधानी से हिन्दी में 'घोड़े को' के स्थान पर 'घोड़ा को' भी मिलता है। बहुत से लोग बोली में भी 'बीस घोड़ा आदि प्रयोग कर देते हैं।

तिहि बेरा आयौ कहै
डेरा मांहि पतग। (रासो १ १६४)

यहाँ सामान्यतया 'डेरे' के प्रयोग की आशा की जाती है। इसी प्रकार मल्ल-मास म नामदेव के वर्णन में 'कटोरा मे' तथा 'लरिका के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में एकवचन के विकृत रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसे—'बेटी को' किन्तु बहुवचन में मूल शब्द के साथ बहुवचन का चिन्ह लगा दिया जाता है। 'ओं', 'ई' को इ' हो जाता है, जैसे—

बेटियों को बेटियों से।

हिन्दी के बहुवचन रूप एक ही अपरिवर्तनीय पद्धति से बड़ आसान ढंग से बनते हैं। इनको बनाने में सामान्य बोध की आवश्यकता होती है।

अकारान्त संज्ञाओं का कर्ता-एकवचन तथा बहुवचन रूप एक ही सा होता है जैसे— बालक आता है' 'बालक आते हैं' किन्तु विकृत बहुवचन रूप प्राचीन हिन्दी में 'अनि', 'अन' या 'अन्ह' के योग से बनते हैं और आधुनिक खड़ी बोली में 'ओं' के योग से बनते है। स्त्रीवाचक अकारान्त संज्ञाओं के कर्ता बहुवचन रूप 'एँ' लगा कर बनाये जाते हैं, जैसे-रात, रातें।

संस्कृत अकारान्त शब्दों से बनी हुई आकारान्त हिन्दी-संज्ञाओं के कर्ता के बहुवचन रूप 'ए' लगाकर बनाये जाते हैं, जैसे-लड़का (ए व), लड़के (ब व)।

इन संज्ञाओं का स्त्रीलिंग-कर्ता बहुवचन रूप 'लड़कियाँ' जैसा बनता है। इन दोनों के विकृत बहुवचन रूप क्रमशः 'लड़कों', 'लड़कियों' बनते हैं।

पुरानी हिन्दी में 'ईकारान्त' स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन रूप नदीं, पोथीं आदि हो जाता था।

पुल्लिंग और विकृत रूपों को देखकर अब हम उनके विकास की बात सोच सकते हैं। इसके लिये हम प्राकृतों की ओर देख सकते हैं संस्कृत की ओर सीधा देखने से हमारा काम नहीं चल सकता। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से प्राकृत-काल में जो परिस्थितियाँ थीं, वही हिन्दी के विकास-काल में नहीं थीं। आज परसर्गों को ग्रहण करने के लिए जो शब्द हमारे पास आ पहुँचे हैं वे प्राचीन आर्य बोली के कारक-चिह्नों के स्मारकों के सिवा और कुछ नहीं हैं। वे इतने दिनों के उपयोग से इतने घिस गये हैं कि उनके घिसे-पिटे अवशेष कारक संबंधों का संकेत कर सकने में असमर्थ हैं। इस काम के लिए 'परसर्ग' लगाने की आवश्यकता होती है।

संस्कृत संज्ञाओं में सबसे अधिक प्रयुक्त संज्ञाएं अकारान्त हैं। इसके कर्ता बहुवचन के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के रूपों में 'आ' नपुंसक लिंग के रूप में 'आनि' बनता है। 'आ' वाला रूप कई प्राकृत बोलियों में 'एकारान्त' हो जाता है। यह परिवर्तन 'आ' को 'ए' में बदल सकने की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। उन प्राकृतों में जो अपने साहित्य के प्राचुर्य के लिए प्रसिद्ध हैं महाराष्ट्री और मागधी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें पुल्लिंग बहुवचन आकारान्त होता है। गुजराती और सिंधी में यह रूप पुल्लिंग बहुवचन ओकारान्त रूपों में अब तक सुरक्षित है। इसके एकारान्त रूप को हिन्दी और पंजाबी अभी तक बनाये हुए हैं। 'बेटा' के बहुवचन रूप 'बेटे' में यही रूप सुरक्षित है।

कर्ता बहुवचन में 'बेटे' रूप में 'ए' कहाँ से आया यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा रूप सभी संस्कृत सार्वनामिक विशेषणों के कर्ता बहुवचन में मिलता है किन्तु पालि और प्राकृत में कर्म बहुवचन में भी यही रूप मिलता है जैसे—

सब्बो — सब्बे
सर्व्वं — सब्बे

यह मानी हुई बात है कि रूपों की यह पद्धति अकारान्त रूपों की बहुत पुरानी पद्धति है और इन विशेषताओं के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी ने अपने रूप प्राचीन आर्य भाषा से लिये हैं।

इसके बाद नपुंसकलिंग का बहुवचन रूप भी विचारणीय है क्योंकि इसने अनेक उदाहरणों में अन्य पुल्लिंगों के कार्य को सम्पन्न किया है। संस्कृत में इसका रूप 'आनि-अन्त' होता है, जैसे 'वनानि' (कर्ता बहुवचन)। प्राकृत में यह रूप

माइ' अथवा माद" हो जाता है यथा 'पलाइ' का पलाद"। बहुत संभव है अनुनासिक ध्वनि के 'न' का स्मृति-चिह्न हो। मैं समझता हूं कि 'दा अधिक प्राचीन रूप है। उत्तर प्राकृत में 'कम्मों' का पुल्लिंग बहुवचन 'कम्माइं' बन रहा। पुरानी हिन्दी के सभी लिंगों के बहुवचन रूपों में ध्वनि होने से लोग स्पष्टता की भिन्नता प्रकट हुई जैसे स्त्री.. बतनि(words)। ये रूप प्राकृत दूर पड़ते हैं। कुछ बाद में ध्वनि की 'इ' लुप्त हो गई और'अन' रूप प्रयोग में। तथा जैसे-बासवन 'चरन' आदि। भाषा में वर्णों के एकवचन और बहुवचन अन्तर इतना है कि उसे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रत्यय प्रा बाद में संबंध के 'मातां' में घुल-मिल गया जो विकृत-कारक-रूपों में ही प्र होता है। मध्य कालीन हिन्दी में इसमें 'हं' के योग से प्रत्यय प्रत्यय 'आन्ह' हो गए तुलसीदास के 'रामचरित मानस में अगारान्ह एकन्ह चरनन्ह आदि रूप। प्रत्यय की गवाही देते हैं।

मध्य कालीन हिन्दी-कवि तीनों रूपों का प्रयोग करते थे इसलिए 'नयनों 'कुमारन्ह' और 'चरन' रूप एक ही पृष्ठ पर मिलते हैं। केवल उन स्त्रीलिंग का में प्राकृत रूप प्रचलित हैं जो अकारान्त हैं। इस प्रकार 'माइ" से प्राचीन 'एँक रान्त' हिन्दी-रूप —'रातें' जैसे बनते हैं। उसी से आधुनिक हिन्दी का 'रातें' ब बना है।

इस वर्ग के पुल्लिंग रूप बहुवचन में बदलते नहीं हैं जैसा कि अभी दे चुका है। 'माइ" नपुंसक लिंग का अवशेष है किन्तु यह लिंग अधिकांशतः हिन्दी पुल्लिंग में विलीन हो गया है। 'पुस्तक'–जैसे कुछ शब्द स्त्रीलिंग भी ब गये हैं। ऐसा क्यों हुआ है, यह निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु कारण या फिर उर्दू का प्रभाव इस परिवर्तन का कारण हो सकता है। 'किताब' व 'पुस्तक' के अर्थ में प्रयुक्त होती है स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने सेपुस्तक ने भी यही लि ले लिया प्रतीत होता है। यह संभव है कि 'पुस्तिका' और फिर इसके तद्भव 'पोथ' के स्त्री लिंग होने से 'पुस्तक' के नपुंसक लिंग छोड़ने पर, स्त्री का स्त्रीलिंग जो दे दिया गया हो।

वैसे तो 'माइ" ने 'प्राकृत' में भी केवल नपुंसक लिंग की सीमा से मुक्ति पाकर सब लिंगों में प्रयुक्त होना प्रारम्भ कर दिया था अतएव हिन्दी में इसका प्रयोग विस्मयजनक नहीं है।

प्राकृत के 'माइ" का प्रयोग हिन्दी में 'ईकारान्त' एवं 'अकारान्त' स्त्री लिंग शब्दों में भी हुआ है। बेटी' से 'बेटियाँ' 'ओक' से 'ओरमें' (आजकल 'ओरए) प्रयोग में इसका अवशेष बोला सकता है। 'आनि' का एक अवशेष 'आन' पुरानी हिन्दी में प्रयुक्त होता रहा है, जैसे उरान (Breast) औरान (Observ

vance)। संबोधन बहुवचन में ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द ओकारान्त हो जाते हैं चाहे वे स्त्रीलिंग हों और चाहे पुल्लिंग जैसे–बेटियो, बहुओ, बनियो आदि में। ईकारान्त शब्दों का बहुवचन (कर्त्ता में) 'इयाँ' से बनता है। जैसे-'देवी' से 'देवियाँ' 'नदी' से 'नदियाँ'।

हिन्दी के विकृत कारक रूपों में पुल्लिंग की व्यवस्था बड़ी जटिल है जटिलता पुल्लिंग शब्द को पहचानने में नहीं प्रतीत होती वरन् यह रूप कसे बना इस बात के अनुसंधान में प्रतीत होती है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि प्राकृत-काल में बहुत पहले से ही कारक रूपों में गड़बड़ी पैदा हो गई थी।

प्राकृतों ने सम्प्रदान के रूप को छोड़कर संबंध का रूप धारण कर लिया था। अन्य कारकों के रूप भी अपने-अपने भेद को छोड़कर एक दूसरे के समीप आने लगे और काल-क्रम से उनकी समीपता में अन्तर मिटता गया और भेद के मिटने से इतनी गड़बड़ पैदा हो गयी कि सब रूप एक ही रूप में आ मिले, जिससे आधुनिक हिन्दी-संज्ञा का विकृत रूप निर्मित हुआ। हिन्दी के विकृत-कारक रूपों से यह अनुभव ग्रहण करना कठिन नहीं है कि वे विभिन्न कारकों के अवशेष हैं, जिनमें परसर्ग जोड़कर कारक रूप बनाये जाते हैं किन्तु उनसे अविकारी कर्त्ता रूप नहीं बनता।

प्राकृत के किसी विशेष कारक से हिन्दी-विकृत-रूप की व्युत्पत्ति नहीं खोज सकते। यह तो अनेक कारकों के सम्मिश्रण का परिणाम ही दीख पड़ता है। मेरा अभिप्राय विकारी-एकवचन-रूप से है। बहुवचन की बात बाद में उठाई जायेगी।

यहाँ हम संस्कृत की अकारान्त संज्ञाओं के रूपों पर विचार करके देख सकते हैं। प्राकृतों में सम्प्रदान की हानि हो गई थी और प्रमुख प्राकृत महाराष्ट्री में ही कर्त्ता विकृत तथा कर्म 'म' करण 'एन आपदान 'आदो' 'आदु' संबंध 'अस्स', तथा अधिकरण 'ए' था किन्तु कर्त्ता और कर्म का अन्तर तो बहुत पहले ही मिट गया था और महाराष्ट्री में ही जो संस्कृत के बहुत समीप थी केवल चार रूप एन' आदो 'अस्स' तथा 'ए'—संज्ञा के विकृत कारक रूपों के लिए बच रहे थे।

महाराष्ट्री की अधिकांश रचनाएं कविताएं हैं किन्तु इसके गद्य में इसकी विशेषताएं विलीन हो जाती हैं और शौरसेनी में मिल जाती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शौरसेनी वास्तव में गद्य भाषा है। शौरसेनी में सम्प्रदान-रूप आकारान्त अथवा 'आहि'—अन्त है। मागधी का 'संबंध' भी इसी रूप की ओर खिंचा प्रतीत होता है। इसके संबंधकारक में अन्त में 'आह' लगता है। अपभ्रंश की भाषा में सम्प्रदान में 'आदो' तथा हुआ मिलता है, किन्तु 'आ' 'आयो', 'आउ' तथा 'आहिं' रूप भी मिलते हैं। 'भगवती' के कारक-रूप भी बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं।

आधुनिक हिन्दी के कारक-रूपों के संबंध से अपभ्रंश पर विचार करना

अत्यावश्यक है क्योंकि बोलचाल की भाषा का यही प्रतिनिधित्व नहीं करती है। इसमें कारक रूपों का और भी अधिक मिश्रण मिलता है जैसे—

अपादान— आहु आहे
संबंध— आहे आहो
अधिकरण— ए, इ आहि

अपभ्रंश में आकर ही प्राकृत का अवसान हो जाता है क्योंकि यहाँ आकर कई शताब्दियों का ऐसा समय बीच में गुजरता है जिसको अपभ्रंश नाम दिया जाता है। आधुनिक युग के प्रारंभ तक हिन्दी ने अपने बहुत से कारक-रूप खो दिये थे।

इस दृष्टि से पुरानी हिन्दी पर विचार करना आवश्यक है। इसके संज्ञा रूपों में अन्त में 'हि' मिलता है। इसका प्रयोग सभी कारकों के एक वचन में होता है। इसको लेकर हम अपभ्रंश के तीन कारकों—अपादान, संबंध तथा अधिकरण तक पहुँच जाते हैं और इसमें सम्प्रदान को भी जो संबंध में मिल गया था सम्मिलित कर सकते हैं। हि के प्रयोग की व्यापकता का अधिक ज्ञान सर्वनामों के विवेचन से हो सकता है किन्तु संज्ञाओं में भी इसका प्रयोग बड़ी प्रचुरता से हुआ है। चन्दबरदाई की नीचे की पंक्ति में सम्प्रदान और अधिकरण का प्रयोग देखा जा सकता है—

एक वचन विकारी रूप

किहि काज रिषि आयौ घरहि। (पृ रा १४५)

अपादान में 'हि' का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

'को किहि वंसहि अवतर्यौ'। (वही १।१६७)

तुलसी के काव्य में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं यथा—

सीतहि देखि कही।
इतनी कथा संक्षेपहि कही।
आदिहि ते सब कथा सुनाई।

इस विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्राकृत-काल तक 'एन' बना रहा और 'आहि' का प्रयोग अपादान संबंध अधिकरण तथा सम्प्रदान में समान रूप से होता रहा किन्तु 'ह' के लोप की सरल प्रक्रिया से 'आइ' जिससे 'ए' व्युत्पन्न हुआ विकसित हुआ। परवर्ती अपभ्रंश में परिवर्तन की इस दिशा का संकेत मिलता है—

अट्ठोत्तरसु बुद्धी रावणतणइ कपालि
एकू बुद्धि न सांपडी लंका भजण कालि।

(मुंजरास से उद्धृत)

'रावणपुत्तसइ' में तणइ, 'तण + अइ' के योग से बना है और 'अइ' 'माहि' का संक्षेप है। यही बाद में 'तणु' रूप में विकसित हुआ।

चंदबरदाई के भाषा प्रकरणों में 'एन' सुरक्षित है किन्तु उनमें भी छंद के आग्रह से 'न' का विसर्जन कर दिया गया है जिससे केवल 'ए' रह जाता है और यह 'ए' भी कहीं-कहीं 'आय' में बदल गया है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि संस्कृत के कारक भेद समय क्रम से 'माहि' 'माइ' या 'ए' के अन्तर से एक रूप में घुलमिल गये। इससे हम विकृत कारक रूपों के 'एकारान्त' होने के इतिहास से अवगत हो जाते हैं अर्थात् 'घोड़ा' बदल कर पुल्लिंग में 'घोड़े' कैसे हो गया इसका उत्तर हमें यहाँ मिल जाता है।

हिन्दी और पंजाबी में विकृत रूप बनाने का यही एक तरीका है और आकारान्त संज्ञाएं इसी को स्वीकार करती हैं। अकारान्त संज्ञाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता। अकारान्त शब्दों में 'हि' जोड़कर कारक रूप निर्मित किये जाते हैं। काल-क्रम से जब 'हि' का लोप हो गया तो मूल शब्द के अलावा कारक-रूप का द्योतक कोई चिह्न अवशिष्ट न रहा। आकारान्त को छोड़कर, अन्य स्वरान्त संज्ञा-रूपों में भी यही नियम लागू हुआ क्योंकि हिन्दी ने किसी अन्तिम स्वर को महत्व नहीं दिया। स्वरान्त का महत्व न तो बोलने में ही रहा और न लिखने में ही।

बहुवचन विकारी रूप

एकवचन के विकृत रूपों की अपेक्षा बहुवचन के विकृत रूप अधिक एक एकता लिये हुए हैं। हिन्दी में सब प्रकार की संज्ञाओं के लिए बहुवचन का रूप एकसा है। संज्ञाओं के अन्त में 'ओं' का संबंध प्राचीनतर भाषाओं के 'संबंध' रूप से रहा है। संस्कृत में अकारान्त संज्ञाओं के संबंध-बहुवचन में 'आनां' सभी लिंगों में प्रयुक्त होता है। नपुंसक के कर्ता और कर्म के बहुवचन के अन्त में भी 'आनि' लगता है और इसी से हिन्दी का कर्ता (अविकारी) बहुवचन-रूप प्रयुक्त हुआ है। कर्ता और संबंध के बहुवचन के रूप का साम्य इस रूप को विकारीकारक-रूपों में भी सुरक्षित रखता है। उस समय जबकि पुराने कारक रूप ध्वस्त हो गये थे और आधुनिक परसर्गों का जन्म नहीं हुआ था अनेक कारक-रूपों में भेद नहीं होगा। यही कारण है कि चंदबरदाई ने 'उरान' 'हय्यान' जैसे प्रयोग अविकारी कर्ता और विकृत बहुवचन के लिए किये हैं। नीचे की पंक्ति में चंद द्वारा प्रयुक्त संबंध (आनं) प्रयोग देख सकता है—

महिलानं मद मद नूपरया। (पृ० रा० १ १७)

प्रमुख प्राकृत के संबंध-रूप में शब्द के अन्त में 'आणं' लगता है और यह सभी प्रकार की संज्ञाओं में लग जाता है। संस्कृत का 'आम्' जो अनेक शब्दों में लगता है, बिल्कुल विसर्जित हो जाता है। सच तो यह है कि अकारान्त कारक रूपों के

सब प्रकार की संज्ञाओं के रूपों को दबा लिया है। हिन्दी ने 'आणं' के अनुस्वार का विसर्जन करके 'ण' को अनुस्वार में बदल लिया है। इससे 'आँ' का जन्म हुआ। दीर्घ स्वर 'ओ' 'अम' से व्युत्पन्न होकर 'ण' (न) की क्षति की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। पंजाबी में विकृत बहुवचन के लिए 'आँ' अब भी सुरक्षित है। अतएव यह असंदिग्ध है कि इन रूपों का आविर्भाव विकारी बहुवचन-रूप से हुआ है।

महाराष्ट्री प्राकृत में करण के बहुवचन रूप में 'एहि' और 'एहिं' अपादान बहुवचन में 'सुंतो' या 'हिंतो' अधिकरण बहुवचन में 'एसु', 'एसुं' का योग होता है। यद्यपि अपभ्रंश में कारक-रूप कुछ भिन्न होते हैं फिर भी वे एक ओर तो संस्कृत संबंध-रूप तक नहीं पहुँचते और दूसरी ओर वे हिन्दी के विकारी बहुवचन के निर्माण के उपकरण भी प्रस्तुत नहीं करते हैं। यह कहा जा चुका है कि हिन्दी का विकारी-बहुवचन-रूप ओकारान्त है जो संबंध के दीर्घ 'आ' से व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। हिन्दी-रूप अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक है। यह इसी बात से प्रमाणित हो जाता है कि यह किसी मध्यकालीन काव्य-कृति में नहीं मिलता जिसमें कि 'अनि' अन या 'अन्ह' रूप का प्रयोग विकारी तथा अविकारी कर्ता के लिए मिलता हो। इसीलिए इस प्रकरण के प्रारंभ में ही नपुंसक-लिंगवाची शब्द के प्रथमा-बहुवचन के 'आनि' और तीनों लिंगों के षष्ठी बहुवचन के 'आनाम्' की समता की ओर संकेत किया गया था। इसी समता के कारण कई शताब्दियों तक पृथक विकारी रूप हिन्दी में सामने नहीं आया। इस दृष्टिकोण की पुष्टि गुजराती के उदाहरण से भी हो जाती है कि उसमें बहुवचन के लिए कोई विकारी रूप नहीं है। बंगाली भाषा में भी यही बात सिद्ध होती है। हिन्दी ही की एक बोली भोजपुरी में भी ओकारान्त रूप नहीं है परन्तु उसके बहुवचन के विकारी रूपों का निर्माण अब भी 'अन' के योग से होता है जैसे—'लोगन का' आदि। मारवाड़ी में भी यही बात है, किन्तु उसके बहुवचन में 'आं' प्रयुक्त होता है जिसका पंजाबी रूप 'आन' है।

निष्कर्ष—

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि एक वचन और बहुवचन के विकारी रूप उस सामान्य रूप से व्युत्पन्न होते हैं जो संस्कृत के सभी विकृत कारक रूपों के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं किन्तु एकवचन और बहुवचन रूपों में अन्तर यह है कि हिन्दी-एकवचन में तो किसी भी एक कारक-रूप की सत्ता अवशिष्ट नहीं है जबकि बहुवचन में संबंधकारक का व्यक्तित्व उसकी विशेष प्रकार की शक्ति के कारण तथा नपुंसक के प्रथमा के रूप की समता के कारण हिन्दी में अब भी सुरक्षित है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नपुंसक प्रथमा-बहुवचन रूप ने अन्य-संज्ञा रूपों के स्थान को भी छीन लिया है और संबंध के इस रूप ने अधिकांश कारक-रूपों को आत्मसात् कर लिया है किन्तु यह कहना भी असंगत न होगा कि किसी

हव तक एकवचन-रूपों में भी 'हिं' के योग से हिन्दी में सबध रूप की ही प्रधानता है। यद्यपि प्राकृत में इसकी प्रारंभिक अभिव्यक्ति अपादान कारक में हुई, किन्तु किसी अन्य रूप की अपेक्षा इसकी व्युत्पत्ति का संबंध संस्कृत के संबंध-कारक से अधिक सरलता से जोड़ा जा सकता है। 'अस्य' का प्राकृत रूप 'अस्स' है किन्तु भाषा वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सम्भवतः इसका एक रूप 'असि' रहा हो जो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है जो स' की 'ह' में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप 'अहिं' हो गया है।

यह प्रवृत्ति पश्चिमी आर्य भाषा-वर्ग में बहुत व्यापक है। यह भी अनुमान किया जाता है कि परिवर्तन उस समय हुआ होगा जबकि पश्चिमी वर्ग की आर्य भाषाएँ बड़ी सशक्त होंगी और बंगला, उड़िया आदि का प्रादुर्भाव नहीं हुआ होगा। यह समय सातवीं शती के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि यही वह समय है जबकि बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण ऐसी भाषाएं उन्मीलित हुई जिनसे आधुनिक भाषाओं की नींव पड़ी। इस युग में भारत के पूर्वी भाग में आर्य जाति की बसावट बड़ी विरल थी। अतएव उक्त ध्वन्यात्मक परिवर्तन पश्चिम की उन जातियों की विशेषताओं और प्रवृत्तियों के अनुरूप हुए होंगे जिनकी उस समय आर्यों में बहुलता थी।

कारकों के विकारी रूप ही वे चिह्न नहीं हैं जो संस्कृत रूपों के अवशेष कहे जा सकते हैं वरन् इनमें सबसे अधिक सरल रूप अधिकरण कारक का एकारान्त रूप है, जो आधुनिक भाषाओं में आज तक बना आ रहा है। द्वार-द्वार के स्थान पर हिन्दी में कभी-कभी आज भी 'द्वारे-द्वारे' का प्रयोग मिलता है। हिन्दी-गीतों में यह शब्द बोलचाल में ही नहीं लिखित रूप में भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में 'घरे' 'घरि' आदि शब्द अधिकरण का अभिप्राय व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। बोलचाल में पश्चिमी हिन्दी और राजस्थानी में तो 'घरे' 'घरि' शब्द आज भी चलते हैं।

ऐसे प्रयोग सभी भाषाओं में मिलते रहे हैं। पन्द्रहवीं शती तक आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक बहुत बड़ा मेल-जोल बना रहा था। सम्भवत यह अपभ्रंश के व्यापक सबंध के कारण रहा हो किन्तु पन्द्रहवीं शती के पश्चात् आधुनिक भाषाओं ने अपना-अपना नियत रूप लेकर अपने विकास की नियत दिशा पकड़ ली। यही कारण है कि उस समय तक बंगला के अनेक वैष्णव कवि भोजपुरी आदि उन बोलियों का प्रयोग करते थे जो आज हिन्दी के पूर्वी प्रदेश में प्रचलित हैं इसलिए कभी-कभी मन इस विचार को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है कि "स्वयं बंगला पूर्वी हिन्दी की एक बोली ही रही है।"

हम यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते कि बहुत पहले ही हिन्दी ने भाषा के क्लिष्ट रूप पुंजों को निकाल बाहर किया था। आकारान्त शब्दों के विकृत

रूप में (जैसे 'बटा' का 'बेटे) 'ए' ही एक ऐसा चिह्न है जो मूल शब्द के रूप-विकास की सूचना देता है, किन्तु, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है बहुत बाद तक यह रूप नियत नहीं हुआ था और विकृत रूप का अन्त अनियत ढंग से 'अहिं' में होता था। आकारान्त शब्द के बाद 'आहिं' का योग बड़ा स्वाभाविक था। 'हिं' के विसर्जन के पश्चात् आकारान्त मूल शब्दों का अवशिष्ट आधार भी आकारान्त ही रहा यही आधार आकारान्त या व्यंजनान्त शब्द में भी रहा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कर्ता के विकारी और अविकारी रूपों में कोई भेद नहीं हुआ।

हि-कारान्त अव्यय रूप वैष्णव कवियों की रचनाओं में बहुत प्रचलित है, जैसे-'आनहिं (दूसरे को)'प्रेमहिं (प्रेम में) 'करहिं (कर में) आदि। संभवतः हि का सामान्य विसर्जन उसमें सामान्य प्रत्यय 'हिं' की भ्रान्ति के कारण हुआ। निश्चयार्थ में 'हिं' के प्रयोग को समझ कर उसका विसर्जन बड़ी सरलता से—अर्थ भ्रम के बिना ही—कर दिया गया।

(ख) विशेषण-रूप—

विशेषण मे विशेष्य की प्रकृति रहती है। उसका रूप विशेष्य के समान चलता है। विशेषण शब्द प्रायः विशेष्यों के साथ प्रयुक्त होते हैं और चूँकि विशेष्य वाक्य में प्रधान शब्द होते हैं व्यक्ति वस्तु या स्थान ज्ञान कराते हैं अतएव यह स्वाभाविक है कि अधिकांश व्याकरणिक कार्य उसके द्वारा ही सम्पन्न हो। विशेषण का योग तो विशेष्य की केवल विशेषता बताने के लिए होता है और वह लिंग वचन और कारक में उसी के समान होता है।

समास-पद्धति और विशेषण

विशेषणों के पृथक-पृथक रूपों से बचने के लिए संस्कृत के पंडितों ने कर्मधारय में उनका प्रयोग करने की युक्ति निकाली थी और वे एक बहुत बड़े भार से बच गये थे। यही कारण है कि एक-एक विशेष्य के साथ बीसों विशेषण लगे रहते हैं। यदि इन विशेषणों के रूप चलाये गये होते तो भाषा की क्या दशा होती यह अनुमान करने की बात है। इसीलिए 'नीलं उत्पलं' और 'नीलस्य उत्पलस्य' के साथ संस्कृत में 'नीलोत्पलं' और 'नीलोत्पलस्य' जैसे- प्रयोग भी मिलते हैं।

हिन्दी में भी यह समास-पद्धति सुरक्षित है किन्तु बोलचाल की हिन्दी में या सामान्य गद्य साहित्य में छोटे-छोटे समासों का प्रयोग तो चलता है, किन्तु संस्कृत के से बड़े-बड़े समास या तो निरालाकृत 'राम की शक्ति पूजा' जैसे-संस्कृत निष्ठ काव्यों या डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाण भट्ट की आत्म कथा' जैसी उच्च रचनाओं में ही प्रयुक्त होते हैं। सामान्यतया विशेषण अपने व्याकरणिक रूप में प्रकट होते हैं।

हिन्दी में विशेषण का प्रयोग सामान्यतया विशेष्य के पहले होता है। वाक्य में

प्राय यही नियम अनुपालित होता है किन्तु पद्य में इस क्रम का निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाता या नहीं किया जाता। बोलचाल में भी कहीं-कहीं इस नियम का उल्लंघन हो जाता है। हिन्दी के 'आकारान्त' विशेषणों का रूप स्त्रीलिंग में 'ईकारान्त' हो जाता है और उनका एकवचन का विकारी रूप 'एकारान्त' होता है, किन्तु हिन्दी में बहुवचन में इस रूप का उपयोग नहीं होता। इसलिए इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—

(१) काले घोड़े का काले घोड़े पर।
(२) काले घोड़ों का (कालों घोड़ों का नहीं)।

इसका कारण स्पष्ट है। जब विशेषण का प्रयोग विकृत रूप में हुआ है तो सामान्य बोध यही व्यक्त करता है कि इसका संबंध विकृत रूप वाले विशेष्य से है और इससे अधिक स्पष्ट संकेत की आवश्यकता नहीं होती। 'ईकारान्त' स्त्रीलिंग विशेषणों के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता अतएव सर्वत्र यही रूप मिलते हैं जैसे-

१ काली घोड़ी २ काली घोड़ियां ३ काली घोड़ियों का

अकारान्त विशेषणों में विशेष्य के साथ कोई परिवर्तन नहीं होता जैसे—

१ चालाक लड़का २ चालाक लड़की ३ चालाक लड़कों का ४ चालाक लड़कियों का ५. चालाक लड़कों में ६ चालाक लड़कियों में।

संख्या वाचक विशेषण संख्या वाचक विशेषण के रूप उसी प्रकार अपरिवर्तनीय हैं जिस प्रकार अकारान्त विशेषणों के रूप। संख्या का विशेषणवत प्रयोग विशेष्य के पहले होता है। लिंग और कारक का इन पर कोई प्रभाव नहीं होता जैसे—

१ पांच लड़के २ पांच लड़कों को ३ पांच लड़कियां, ४ पांच लड़कियों को।

समाहारबोधक या पूर्णताबोधक संख्यावाचक—

विशेषणों का विकृत रूप 'ओंकारान्त' होता है, यह नियम एक के साथ लागू नहीं होता जैसे—

१ पांचों लड़के   २ पांचों लड़कियां
३ पांचों लड़कों का   ४ पांचों लड़कियों का
५ पांचों लड़कों में   ६ पांचों लड़कियों में

इस विशेषण का रूप सर्वत्र यही रहता है।

क्रमबोधक संख्यावाचक विशेषण—

ओंकारान्त (पहला दूसरा तीसरा, चौथा और छठा में आकारान्त) होता

है। इसके रूप का परिवर्तन बेटा या लड़का जैसे—आकारान्त' पुल्लिंग शब्दों के रूपों के समान होता है, जैसे—

१ पाँचवाँ लड़का, २ पाँचवें लड़के से
३ पाँचवें लड़के का ४ पाँचवें लड़के का

स्त्रीलिंग में इस विशेषण का रूप नहीं बदलता जैसे –

१ पाँचवीं लड़की २ पाँचवीं लड़की से

जिस प्रकार संख्यावाचक और समाहारबोधक विशेषणों का प्रयोग एक वचन में नहीं होता उसी प्रकार क्रम बोधक संख्यावाचक विशेषण का प्रयोग हिन्दी में बहुवचन में नहीं होता।

आवृत्तिबोधक विशेषण

इसी के समान आवृत्ति-बोधक के रूप होते हैं जैसे—(गुणा बोधक) 'चौगुना' 'चौगुने' चौगुनी।

क्रमबोधक—

'दूसरा' का प्रयोग सर्वनाम के रूप में भी होता है। इसका विकृत एकवचन रूप 'दूसरे' तथा विकृत बहुवचन रूप 'दूसरों' होता है जैसे—

दूसरे ने कहा दूसरों को समझा दो आदि।

द्वितीय तृतीय आदि तत्सम विशेषणों के रूप लिंग और कारक में अपरिवर्तित रहते हैं जैसे—

तृतीय बालक तृतीय बालिका
तृतीय बालक को तृतीय बालक पर

दूसरा तीसरा में 'सरा' के योग की विवेचना पीछे की जा चुकी है किन्तु मेरी समझ में 'तीसरा' की व्युत्पत्ति 'तिस्' से हुई है। इसीके सादृश्य पर 'द्विस्' से दूसरा शब्द बना लिया गया है।

'वाँ' और वीं—

'वाँ' और 'वीं' की व्युत्पत्ति के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ट्रम्प 'वाँ' के अनुस्वार को संस्कृत 'तम' के 'म' से व्युत्पन्न मानता है किन्तु अन्य भाषाओं के देखने पर यह बात विरोधी प्रतीत होती है। अन्य भाषाओं में 'तम' का 'म' या तो सुरक्षित रहा है या 'व' में बदल गया है जिसके साथ 'म' का सूचक अनुस्वार अब तक सुरक्षित है जैसा कि 'वाँ' 'वीं' में है। सिंधी भाषा को देखने पर यह बात अधिक दृढ़ता से पुष्ट हो सकती है। मेरी समझ में हिन्दी का पाँचवाँ सातवाँ आठवाँ का 'वाँ' पंचम' सप्तम' अष्टम' आदि के अन्तिम 'म' से व्युत्पन्न हुआ है। पुल्लिंग में यह वाँ' हो गया है और स्त्रीलिंग में 'वीं'। संस्कृत के जिन संख्यावाचक

शब्दों में 'म' नहीं आता जैसे—'एकादश' अथवा 'विंश' इनके रूप प्राकृत में एक से हो गये हैं अर्थात् उनके प्राकृत-रूप 'एक्कारसमो' आदि हो गये हैं। प्राकृत में 'विंश' का 'वीसो' ही रहा है किन्तु आधुनिक भाषाओं में उसका रूप 'बीसवाँ' हो गया है। इस प्रकार 'वाँ' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'म' से ही माननी चाहिये।

कारक-चिह्न—

इस अध्याय के प्रारंभ में ही यह कहा जा चुका है कि हिन्दी में संस्कृत के समान आठ कारक माने गये हैं किन्तु यह बात स्मरणीय है कि जिस अर्थ में 'कारक' शब्द का प्रयोग संस्कृत व्याकरणों में हुआ है उसी अर्थ में यहाँ नहीं हुआ है। स्थूल रूप से संस्कृत में सात विभक्तियाँ और छः कारक माने गये हैं। षष्ठी विभक्ति को संस्कृत वैयाकरणों ने कारक नहीं माना क्योंकि उसका संबंध क्रिया से नहीं है।

अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर हिन्दी में कारक और विभक्ति को एक मानने की प्रथा-सी पड़ गयी है। हिन्दी-व्याकरण के तथाकथित प्रथम वैयाकरण पादरी आदम के व्याकरण में 'कारक' शब्द का प्रयोग तो हुआ है, किन्तु विभक्ति का नहीं। कारक एक प्रयोगार्ह पद होता है, जैसे—'राम ने' लड़के को, सीता से' आदि। इन उदाहरणों में न तो केवल 'राम' 'लड़के' या 'सीता' को कारक की संज्ञा दी जा सकती है और न 'ने' 'को' या 'से' को ही। 'ने' 'को' 'से' आदि कारक-चिह्न हैं, जिनको डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि विद्वानों ने परसर्ग कहा है। मेरी दृष्टि में ये चिह्न ही हैं, इनके लिए 'परसर्ग' नाम बहुत उपयुक्त नहीं है।

हिन्दी में संज्ञाओं के कारक-रूपों की संख्या संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है। हिन्दी में अधिकांश कारक-चिह्नों का संबंध अर्थ के अनुसार निश्चित किया जाता है। हिन्दी-वैयाकरणों ने आठ कारक माने हैं जिनके चिह्न इस प्रकार हैं—

कारक	चिह्न
कर्ता	० ने
कर्म	० को
करण	से
संप्रदान	को के लिए
अपादान	से
संबंध	का की के रा री रे ना नी ने
अधिकरण	में पर (पै भी)
संबोधन	० हे अजी ओ अरे ए अहो

सूचना—संबोधन का चिह्न हिन्दी में संज्ञा के पूर्व लगता है अन्यथा एकवचन में शब्दमात्र से काम चल जाता है और बहुवचन में संज्ञा शब्द ओकारान्त हो जाता है जैसे—बहिनो भाइयो लड़कियो आदि।

यह कहा जा चुका है कि प्रार्यभाषाओं की गति संश्लेष से विश्लेष की ओर रही है। हिन्दी ने सामान्य रूप से अपने संश्लिष्ट आवरण का विसर्जन कर दिया है। कुछ रूपों में, जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है, कुछ घिसे-पिटे अवशेष रह गये हैं। इसलिए संज्ञाओं तथा सर्वनामों ने कुछ शब्दों को अपनी सहायता के लिए तैयार कर लिया है। वाक्य में शब्दों के स्थान का परिचय देने वाले तथा उनका पारस्परिक संबंध व्यक्त करने वाले ये शब्दांश संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के बाद में जुड़ते हैं जो कारक-चिन्ह या परसर्ग कहलाते हैं।

ये संज्ञाओं या सर्वनामों के अवशेष हैं जो समय और प्रयोग से घिस कर छोटे हो गये हैं। विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रारंभिक उच्च भाषाओं की संश्लिष्ट विभक्तियाँ भी स्वतंत्र-शब्दावशेष हैं। इसलिये यह कहना अनर्गल न होगा कि संस्कृत के परिवार की हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में वही प्रवृत्ति काम कर रही है तथा शब्द-निर्माण की वही पद्धति जीवित है।

भाषाओं में जब मूलत स्वतंत्र शब्द पकड़ कर बाँध लिये जाते हैं तो वे दूसरे शब्दों की सेवा करते-करते कारक-चिह्न या परसर्ग बन जाते हैं और वही विभक्ति बन कर शब्द में विलीन हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मानव-मस्तिष्क कुछ नये शब्द पकड़ लेता है और उन्हें शब्द-दास बना कर तब तक रगड़ता है जब तक कि वे भी घिस-पिट कर अपरिचित नहीं हो जाते। जैसा संस्कृत आदि प्राय भाषाओं में हुआ वैसा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी हुआ है।

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि हिन्दी के कारक-चिन्ह की खोज के लिए हमें प्राचीनतर भाषाओं के सभी शब्दों तक पहुँचना होगा और यह ध्यान भी रखना पड़ेगा कि हिन्दी के उद्भव के समय ये शब्द प्रयोग में आते थे। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वे शब्द प्राकृत की अधिक लोकप्रिय बोलियों के शब्द थे। उनकी खोज हमें साहित्यिक प्राकृत में नहीं अपभ्रंश में करनी होगी।

हिन्दी में संस्कृत की भाँति आठ कारक हैं किन्तु उनकी अपनी प्रायोगिक विशेषताएं हैं। संस्कृत आदि अन्य आर्य भाषाओं में जहाँ प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता था वहाँ आज कर्ता कारक माना जाता है। 'मैंने बालक को पाला' वाक्य में 'मैंने' का प्रयोग कर्ता-कारक में माना गया है जबकि संस्कृत में यह-तृतीया प्रयोग है। इस वाक्य का संस्कृत-रूप यह होगा 'मया पालितो बाल'।
(कर्ता) ने—

हिन्दी में कर्ता कारक का चिह्न 'ने' माना जाता है। 'ने' पश्चिमी हिन्दी *(खड़ी बोली) का विशेष चिह्न है। पूर्वी हिन्दी में इसका पूर्ण अभाव है।* यह वास्तव में करण का चिह्न है जो हिन्दी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आता है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता।

इसीलिए डा० श्यामसुन्दरदास इस ('से') को करण कारक का चिन्ह नहीं मानते : हिन्दी में करणकारक का चिन्ह 'से' है।

साधारण रूप में हिन्दी के कर्ता कारक में न तो संज्ञा– पद में विकार आता है और न उसके साथ कोई परसर्ग जुड़ता है। 'राम पढ़ता है' इस वाक्य में कर्ता 'राम' के साथ न तो कोई विभक्ति है और न कोई परसर्ग परन्तु भूतकाल के कृदन्तीय रूप में कर्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग होता है। हिन्दी में भूतकाल के कृदन्त-रूपों का विकास कर्मवाच्य और भाववाच्य के रूपों से हुआ है। इसलिए 'ने' का विकास भी तृतीया विभक्ति के रूप से ही माना जाता है। 'राम ने पुस्तक पढ़ी' का संस्कृत अनुवाद होगा 'रामेण पुस्तकं पठितम्'। स्पष्ट है कि 'रामेण' में करण कारक की तृतीया विभक्ति है।

'ने' परसर्ग का प्रयोग पूर्वी हिन्दी में नहीं होता, किन्तु पश्चिमी हिन्दी के अतिरिक्त इसका प्रयोग मारवाड़ी पंजाबी और गुजराती में भी होता है। पंजाबी में तो 'ने' कर्ता में भी प्रयुक्त होता है जैसे—'उन्होंने किहासी' अर्थात् 'उन्होंने कहा था', परन्तु मारवाड़ी और गुजराती में इसका प्रयोग कर्म तथा सम्प्रदान कारक में ही होता है। बुन्देली और कन्नौजी में 'नें' तथा 'ने' कर्ता कारक के चिह्न हैं। गुजराती और मारवाड़ी में 'नै' कर्म तथा सम्प्रदान कारक का चिह्न है।

वाक्य में कर्ता का प्रयोग दो रूपों में होता है-पहला वह जिसमें 'ने' चिह्न नहीं लगता अर्थात् जिसमें क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार होते हैं। इसे 'अप्रत्यय कर्ताकारक' कहते हैं। इसको 'प्रधान कर्ताकारक' भी कहते हैं। उदाहरणार्थ 'मोहन खाता है' वाक्य में 'खाता है' क्रिया 'मोहन' (कर्ता) के लिंग और वचन के अनुसार है। इसके विपरीत जहाँ क्रिया के लिंग वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार होते हैं, वहाँ 'ने' चिह्न लगता है। इसको व्याकरण में 'सप्रत्यय कर्ता कारक' की अभिधा दी जाती है। इसी का अन्य नाम 'अप्रधान कर्ताकारक' भी है। उदाहरण के लिए 'श्याम ने मिठाई खायी' वाक्य को ले सकते हैं। इस वाक्य में खायी' क्रिया मिठाई (कर्म) के अनुसार है।

'अप्रत्यय कर्ता कारक' में 'ने' का प्रयोग न होने से वाक्यरचना में विशेष व्यवधान प्रस्तुत नहीं होता। 'नै' का प्रयोग 'अधिकतर पश्चिमी हिन्दी में होता है क्योंकि इसकी सृष्टि उधर ही हुई है। इसके प्रयोग में अहिन्दी भाषी घबरा जाते हैं किन्तु थोड़ी सी सावधानी से व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर प्रयोग की बात सोची जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'इसका स्वरूप तथा प्रयोग जैसा संस्कृत में है वैसा ही हिन्दी में भी है, हिन्दी में कोई वैशिष्ट्य नहीं आया।"

(क) 'ने' का प्रयोग कर्ताकारक के साथ होता है और वह भी तब जबकि क्रिया सकर्मक तथा सामान्यभूत आसन्नभूत पूर्णभूत संदिग्धभूत अथवा हेतुहेतुमद् भूतकाल की कर्मवाच्य या भाववाच्य हो जैसे—

१ सामान्यभूत —राम ने रोटी खायी।

२ आसन्नभूत —राम ने रोटी खायी है।

३ पूर्णभूत —राम ने रोटी खायी थी।

४ संदिग्धभूत —राम ने रोटी खायी होगी।

५ हेतुहेतुमद्भूत—यदि मैंने उसे देखा होता तो मैं उसे अवश्य बुलाता।

(ख) जब संयुक्त क्रिया के दोनों खंड सकर्मक हों तो सामान्य आसन्न पूर्ण और संदिग्धभूत कालों में कर्ता के साथ ने चिह्न का प्रयोग होता है जैसे—

(१) श्याम ने उत्तर दे दिया। किशोर ने खा लिया।

(२) इन उदाहरणों में क्रियाएं सकर्मक हैं।

(ग) सामान्यतः अकर्मक क्रिया के साथ 'ने' चिह्न नहीं लगता, किन्तु कुछ ऐसी अकर्मक क्रियाएं भी हैं, जिनमें 'ने' परसर्ग का प्रयोग होता है, जैसे—

(१) उसने थूका। २ राम ने छींका। ३ उसने खांसा।

(घ) जब अकर्मक क्रिया सकर्मक बन जाती है तभी 'ने' का प्रयोग होता है अन्यथा नहीं, जैसे—

(१) उसने टेढ़ी चाल चली।

(२) मोहन ने लड़ाई लड़ी।

सूचना-(क) वर्तमान और भविष्यत्काल में 'ने' का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता।

(ख) बकना, बोलना भूलना, लाना, लेजाना—ये सकर्मक क्रियाएं हैं, किन्तु इनके कर्ता के साथ 'ने' चिह्न का प्रयोग नहीं होता। हां, 'बोलना' क्रिया के कर्ता के साथ कहीं-कहीं 'ने' का प्रयोग चलता है, जैसे—

'उसने बोलियां बोलीं' किन्तु वह बोलियां बोला' प्रयोग भी मिलता है।

(ग) संयुक्त क्रिया का अन्तिम खंड यदि अकर्मक हो तो उसके कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग नहीं होता जैसे—मैं खा चुका।

(घ) यदि अकर्मक क्रिया के साथ उससे बनी संज्ञा कर्म की तरह आये तो कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग अनावश्यक होता है, जैसे—

१ लड़के कई खेल खेले।

२ कप्तान कई लड़ाइयां लड़ा।

१ 'ने' की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कर्मणि तथा भावे प्रयोग में इसका व्यवहार देखकर ट्रम्प आदि कुछ विद्वानों ने इसका संबंध प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की प्रथमा-एकवचन की विभक्ति 'एन' से जोड़ा है और वर्ण-व्यत्यय से 'एन' का 'ने' में परिणत होना माना है परन्तु विचार करने पर ज्ञात पड़ता है कि इस मत की स्थापना ठोस प्रमाणों के आधार पर नहीं की गयी है। इस मत के विरोध में यह कहा जाता है कि—

(क) 'ने' चिह्न प्रत्यय नहीं है अपितु 'को' 'में' 'पर' इत्यादि के समान परसर्ग है। अतः इसकी व्युत्पत्ति किसी स्वतंत्र शब्द से ही ढूँढनी ठीक होगी, न कि विभक्ति प्रत्यय 'एन' से।

(ख) 'एन' से 'ने' का हो जाना एक असाधारण परिवर्तन है क्योंकि अन्य किसी परसर्ग में ऐसा परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की अन्य विभक्तियों में तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सरल एवं लघु रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही दिखलाई है जैसे—'रातें' इत्यादि में 'आनि' से 'एं', 'लड़कों' इत्यादि में 'आनाम्' से 'ओं'। इन परिवर्तनों में तो 'न' की परिणति अनुस्वार में ही हुई है, बल्कि व्यत्यय से उसका दीर्घ रूप नहीं बना फिर 'एन' से 'ने' बनने के लिए 'न्' का दीर्घ रूप कैसे हो गया यह बात तर्क-पुष्ट नहीं है।

(ग) 'ने' का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। यदि यह 'एन' का ही रूप होता तो पुरानी हिन्दी अथवा उसकी जननी पश्चिमी अपभ्रंश में इसका कोई न कोई उदाहरण अवश्य मिलता परन्तु ऐसे किसी उदाहरण का न मिलना उसकी अर्वाचीनता नहीं तो उसकी अधिक प्राचीनता भी सिद्ध नहीं करता।

(घ) पुराने लेखकों ने कितने ही ऐसे स्थानों पर, जहाँ खड़ी बोली के स्वाभावानुसार सर्वनाम के कर्ता कारक में 'ने' का प्रयोग आवश्यक होता है केवल 'विकारी रूप' का ही प्रयोग किया है। अतएव यदि 'ने' कोई विभक्ति-प्रत्यय था भी तो पुरानी हिन्दी के समय तक वह लुप्त हो चुका था।

(२) बीम्स ने 'ने' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान 'ले' की ओर आकृष्ट करना चाहा है। उनका कहना है कि नैपाली भाषा में 'ले' का प्रयोग करणकारक में होता है। उसी में इसके सम्प्रदान कारक का रूप 'लाई' है जो हिन्दी के 'लगि' शब्द से बहुत मिलता है। उनकी मान्यता है कि 'लगि' यह 'ले' आदि 'ने' की व्युत्पत्ति का संकेत देते हैं। इनको वह प्राकृत शब्द 'लग्गिओ' से व्युत्पन्न मानकर उसको संस्कृत शब्द 'लग्न' से जोड़ता है। हार्नले भी 'ने' (नैपाली 'ले') की व्युत्पत्ति 'लग्न' से ही मानता है।

इन विद्वानों का कहना है कि गुजराती में 'ने' कर्म-सम्प्रदान कारक का परसर्ग है और गुजराती में करण कारक में भी सम्प्रदान के प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है। हिन्दी का 'ने' परसर्ग वास्तव में करणकारक का ही परसर्ग है। अतः गुजराती और हिन्दी में 'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति एक ही शब्द से माननी चाहिये। ये दोनों भाषाएं पश्चिमी अपभ्रंश से प्रसूत हैं। तब इस परसर्ग का मूल रूप क्या रहा होगा? इस प्रश्न का उत्तर इस मत के संस्थापकों एवं पोषकों को 'नैपाली' के सम्प्रदान कारक के 'लाई' तथा करण कारक के 'ले' परसर्गों में मिला और हिन्दी-गुज-

राती ने' (तथा मारवाड़ी कम परसर्ग 'न' 'नें') तथा, नेपाली से को एक ही मूल शब्द की उपज मानकर उन्होंने इन परसर्गों का संबन्ध सम्म से जोड़ दिया।

(३) डा॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा सुकुमार सेन 'ने' की व्युत्पत्ति संस्कृत कर्ण शब्द से मानते हैं। उनका विचार है कि 'ने' परसर्ग का प्राचीन रूप कने था जो आज भी कनौजी (और राजस्थानी में भी) में समीप के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे- मेरे कने आयो (कनौजी)। राजस्थानी के 'म्हारा कने था' में भी यही 'कने' है। इसकी व्युत्पत्ति कर्ण' से हुई है। इससे मध्य भारतीय आर्य भाषा में 'कण्ण' और अपभ्रंश के अधिकरण में 'कण्णहिं' रूप बना जिसमें से 'ण' तथा 'हिं' का लोप हो जाने से ने अवशिष्ट रहा। संस्कृत में 'कर्ण' का अर्थ कान होता है और यह सामीप्य का बोधक है। यह अर्थ हिन्दी 'कान' में भी रहा और राजस्थानी कनौजी कने' में भी सुरक्षित रहा।

(४) बीम्स और हॉर्नली की भाँति कैलॉग ने भी मारवाड़ी-गुजराती में प्रयुक्त 'नें' 'ने' और 'न' को नेपाली के 'ले' का स्थानापन्न माना है। ले' का परिवर्तन 'न' में कैसे हो गया? इस प्रश्न के उत्तर में उसने मारवाड़ी के 'नागत' शब्द का उदाहरण दिया है जो उर्दू 'लागत' का बिगड़ा रूप है। इसी प्रकार मारवाड़ी व्याख्यों में लंबम' का नम्बन हो गया है।

कैलॉग 'ने' को 'कर्णे' से सम्बन्धित करने के पक्ष को भी स्वीकार करता है। उसका कहना है कि हिमालय की पहाड़ी भाषाओं में कर्मकारक में 'कणि' का प्रयोग होता है जो संस्कृत के अधिकरण एक वचन में प्रयुक्त 'कर्णे' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है—काम में तरफ, ओर। इस अर्थ में 'कने' शब्द कनौजी में अब भी प्रयुक्त होता है जैसे—मेरे कने आयो। *

(५) ब्लॉक ने ग्रिमर्सन का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'ने' का सम्बन्ध सं॰ 'तन' से होना संभव है। डा॰ धीरेन्द्र वर्मा 'ने' की व्युत्पत्ति को संदिग्ध मानते हैं।

(६) जिस प्रकार मारवाड़ी और गुजराती से 'ने' का सम्बन्ध है उसी प्रकार 'ने' का संबन्ध मराठी से भी जोड़ा जाता है। मराठी में करण कारक में 'ए' विभक्ति मिलती है। जो संस्कृत 'एन' का ही अवशेष है। यह विभक्ति स्वयं बड़ी दुर्बल है। करणकारक में इसके साथ कुछ और जोड़ना पड़ता है, जैसे शस्त्रें करून (by means of weapon), क्योंकि 'शस्त्रे' अपने आप में अधिक स्पष्ट नहीं है। इसके विपरीत 'ने' जो अब तक संश्लिष्ट विभक्ति का अंग रूप माना जाता था अब पृथक शब्द माना गया है और उसको अब तक विभक्ति-प्रत्यय का रूप नहीं मिला है बल्कि इसका

---

* कैलॉग ग्रामर आव दी हिन्दी लेंग्वेज पृष्ठ ११०-१११

प्रयोग बहुधा सर्वत्र कारक के साथ ही होता है। अतएव मराठी में 'त्याच्या ने' (by him) जैसे रूप बनते हैं।

'ने' को देखकर ऐसा आभास होता है कि आर्य भाषाओं के संश्लिष्ट स्वरूप के विघटित होने पर विभक्तियों का विलय विश्लेषणात्मक विकारी रूप में हो गया तथा प्रथम कारक के रूप में करण कारक विलुप्त हो गया। इसके स्थान पर कई शताब्दियों तक कर्म कारक ने काम किया। इस कारक का आंशिक पुनर्जीवन बाद में शाहजहाँ के शासन-काल में हुआ जबकि उस समय तक सम्प्रदान में प्रयुक्त 'ने' का प्रयोग भूतकाल की सकर्मक क्रिया के कर्ता के साथ भी होने लगा।

सबसे पहले 'ने' का प्रयोग दिल्ली के आसपास के प्रदेश में अपनाया गया होगा जहाँ शाहजहाँ के समय में भी इसका प्रयोग बहुलता से होता होगा। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शाहजहाँ के राज्यकाल में ही राज-कार्यालय में इनसे अधिक हिन्दुओं का प्रवेश हुआ। उसी समय उर्दू ने फ़ारसी की छाया म दिल्ली और मेरठ के आसपास की भाषा की धरा पर अपना रूप दृढ़ता से संभालना प्रारम्भ किया। दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में उस समय 'नें' का प्रयोग सम्प्रदान में होता था।

पुरानी हिन्दी में कर्ता के रूप में कोई भी कारक-चिह्न प्रयुक्त नहीं होता था। संस्कृत और प्राकृत में भी अधिकांश संज्ञाओं के प्रथमा रूपों में परिवर्तन नहीं होता। सप्रत्यय कर्ता कारक का चिह्न 'ने' पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। बोलना भूलना बकना लाना समझना जानना आदि सकर्मक क्रियाओं को छोड़ शेष सकर्मक क्रियाओं के तथा नहाना छींकना खाँसना आदि अकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदन्त से बने कालों के साथ सप्रत्यय कर्ता कारक आता है।

पुरानी हिन्दी में 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। आधुनिक हिन्दी में इसका प्रचार बहुत हुआ है। हिन्दी में संस्कृत के करण कारक का कोई भी चिह्न नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में ही संभवत १७ वी शती में कभी सम्प्रदान कारक के लिए प्रयुक्त 'ने' का प्रयोग (जैसे-मैंने दे दे) करण कारक की कुछ क्रियाओं के साथ भी होने लगा।

हॉर्नली का कहना है कि सम्प्रदान के लिए ब्रज में 'नैं' का और मारवाड़ी में 'नै' 'न' का प्रयोग होता रहा है। सभव है कि 'नै' या 'न' को हिन्दी में सम्प्रदान कारक के लिए आवश्यक न समझकर आवश्यकता की पूर्ति के लिए सप्रत्यय कर्ता या करण कारक के लिए ले लिया हो।

हमे यहाँ यह न भुला देना चाहिए कि आधुनिक आर्य भाषाओं में रूप निर्माणकारी प्रत्ययों की तीन कोटियाँ है। (१) प्रथम और प्राचीनतम तो वे विभक्ति प्रत्यय हैं जो संस्कृत विभक्तियों के अवशेष है और जो मूल शब्दों से अभिन्न हैं।

(२) दूसरे वे विभक्ति प्रत्यय हैं जो उन विभक्तियों के स्थान की पूर्ति के लिए स्वीकार किये गये हैं जो इतनी विगलित हो गई हैं कि कारक-संबंध को अभिव्यक्त नहीं कर सकती हैं। इनके अतिरिक्त वे मुख्य शब्द का अभिन्न अंग भी नहीं हैं और वे उनके विकारी रूप के साथ ही जुड़ते हैं (३) तीसरे और नवीनतम प्रत्यय (क्रिया-विशेषण आदि) परसर्ग हैं जो स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होकर मुख्य शब्दों में विभक्ति-प्रत्यय के बाद जुड़ते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन संयोगात्मक कारकों के अवशेष यदि आधुनिक भाषाओं में कहीं रह गये हैं तो सविभक्तिक या संयोगात्मक रूपों के ही। यदि हिन्दी का 'ने' तीसरी कोटि में आता है तो हम उसे सविभक्तिक परम्परा का अवशेष स्वीकृत नहीं कर सकते अतएव 'ने' हिन्दी में पृथक् कारक चिह्न है।

मेरे विचार से 'ने' के दो स्रोत हो सकते हैं—एक तो अपभ्रंश में एक वचन में प्रयुक्त 'ण' और दूसरा 'अस्मद्' की तृतीया के एक वचन और बहुवचन का प्राकृत रूप 'एं'। प्राकृत 'ण' का अर्थ है मेरे या 'हमारे द्वारा'। अपभ्रंश में 'एं' का प्रयोग पृथक नहीं मिलता। कुछ सर्वनाम शब्दों में तृतीया विभक्ति में मिलता है। यह कहना कठिन है कि 'कीर्तिलता' में मिलने वाले 'अम्हें' जैसे प्रयोगों में यही 'एं' है। बहुत सम्भव है कि परसर्ग के इस प्राकृत करण-रूप को अपभ्रंश में 'ने' परसर्ग रूप में स्वीकार कर लिया हो। पास, साथ आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सौं, 'सभों' सहु का प्रयोग करण-परसर्ग के रूप में अपभ्रंश काल से ही बहुलता से मिलता है किन्तु अपभ्रंश में 'में' का प्रयोग 'कीर्तिलता' में 'तेन्हें' 'जैन्हें' आदि सर्वनाम रूपों में क्षीण रूप में मिलता है। ब्रजभाषा में कहीं 'कौने' जैसे प्रयोग भी काव्य में मिलते हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि यह शब्द 'कौन में' का ही संक्षिप्त रूप है अथवा सम्यागम से 'कौन' ही 'कौने' हो गया है। गिरिधर की एक कुण्डलिया में 'कौने' का प्रयोग इस प्रकार मिलता है—

पिता पुत्र के बैर भला कहु कौने पाई।

मैं 'कौने' को 'कौन में' का ही संक्षिप्त रूप मानने के पक्ष में हूँ क्योंकि 'कौने कहानी कही'—जैसे प्रयोग ब्रजभाषा में आज भी मिलते हैं।*

परसर्गों के सम्बन्ध में एक विलक्षण बात यह दिखाई देती है कि उनका प्रयोग संज्ञाओं की अपेक्षा सर्वनामों में पहले प्रारम्भ हुआ और साथ ही अधिक भी। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के कतिपय उदाहरणों में 'तस्य' और 'तद्' के बाद ही 'उपरि' 'पार्श्व' 'सम्मिक' आदि परसर्गों का प्रयोग विशेषता से मिलता है। अपभ्रंश में भी यही प्रवृत्ति रही। हेमचन्द्र व्याकरण के अपभ्रंश दोहों में जितने स्थानों पर

---

* सूर सागर में भी 'कहु कौने' सचु पायो -जैसे प्रयोग मिलते हैं जिससे यह परम्परा कुछ अधिक पहले चली जाती है। भ्रमरगीत—१४९

परसर्गों का प्रयोग हुआ है उनका तीन चौथाई सर्वनामों के ही साथ है। कबीर और तुलसी की रचनाओं स दिये हुए कुछ उदाहरणों से सर्वनामों की यह विशेषता या विलक्षणता व्यक्त हो सकती है।

(१) साईं मुझ स्यों मरि पर्या — क ग्र २६२/१९७

(२) मैन निहारी तुझ कौं — क ग्र २५१/८८

(३) धावम बाना हुकम तिसी का — क ग्र २७१/२४

(४) मयन कहहि न जिन्ह के नाहीं — रा च मा बा० दो० २६१

(५) एहि के कंठ कुठार न दीन्हा — मानस बा का दो १११

(६) तेहि के रचि पचि बंध बनाए— मानस बा का दो १२०

उक्त उदाहरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो कारक संज्ञा के लिए परसर्गहीन रूप में भी महत्वपूर्ण हैं वे सर्वनाम के लिए अपना महत्व खो चुके थे। ब्रजादि बोलियों में भी यही बात मिलती है कि अधिक व्यवहार में आने के कारण सर्वनाम संज्ञा की अपेक्षा जल्दी घिसते हैं अर्थ के क्षीण होने से उन्हें सहायक एवं द्योतक शब्दों की आवश्यकता पड़ जाती है।

इससे यह समझना उचित ही है कि हिन्दी ने सर्वनामों की विभक्तियों के घिसने पर परसर्गों का उपयोग स्वीकार कर लिया था। 'कीर्तिलता' के 'जेन्हें' और 'जेनें' सर्वनाम-रूपों को देखकर अपभ्रंश 'नैं' के प्रयोग का संकेत मिल जाता है। कबीर की भाषा में भी 'जिन 'तिन' किन आदि सर्वनाम—रूपों का प्रयोग करण में हुआ है जैसे—

(१) जिन ऐसा करि बूझिया —क. ग्र २६०/१४७

(२) जिन यहु रचना रचाइया—क. ग्र २६२/१७१

(३) कर्महि किन बीत दीन रे—क ग्र २९८/ग तिम पंक्ति।

कबीर के कुछ प्रयोगों में 'जिनि' 'तिनि' रूप भी मिलते हैं जैसे—

(१) जिनि पाया तिनि मोता।

(२) पाया तिनि पाया नहीं। क. ग्र ५६/२१

(३) राम कह्या तिन कहि लिखा। क ग्र ७५/२४

यहाँ मूल प्रश्न यह उठता है कि क्या 'जिन तथा जिनि' एवं 'तिन' तथा 'तिनि' ये दोनों प्रकार के प्रयोग 'जेनें' और 'तेनें' के ही विकार हैं अथवा इनका विकास भिन्न स्रोतों से माना जाना चाहिये। सामान्यतया 'जिन' और जिनि को देखकर इनका एक ही स्रोत ध्यान में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश 'जेनें' से ही 'जिनि' और 'जिन' का विकास हुआ है। 'जे और ने' की ए-ध्वनि इ' में परिवर्तित हो गई है। लघुता की यह क्षमा भाषा के विकास की प्रवृत्ति को पष्ट करती है। इस प्रकार 'जिनि से ही 'जिन' हो गया है।

मध्यकालीन हिन्दी में 'ने' करण के परसर्ग के रूप में केवल कुछ सर्वनामों के साथ प्रयुक्त होने लगा था। संज्ञाओं में पृथक रूप से ने का प्रयोग पद्य में रीतिकाल तक प्रचलित नहीं हुआ। गिरिधरकवि की कुण्डलियों में 'ने' का इक्का-दुक्का प्रयोग मिलता है। उधर गद्य में भी इसका प्रयोग हुआ है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नीचे लिखे उद्धरणों में 'ने' का प्रयोग द्रष्टव्य है –

(i) वैष्णवन ने कही।

(ii) वाही ने सब लोगन में वाको नाम खंडन पार्‌यो।

ये उद्धरण इस बात का साक्ष्य देते हैं कि 'ने' का पृथक प्रयोग बोलचाल की भाषा में संज्ञाओं के साथ भी सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में उपलब्ध होने लगा था। ब्रजभाषा-पद्य में इसके प्रारंभिक प्रयोग मिलने से यह सिद्ध होता है कि इसका जन्म बोलचाल में पहले ही हो चुका होगा और अवश्य ही यह पश्चिमी हिन्दी में हुआ होगा।

'ने' का प्रयोग कर्म और संप्रदान में तो गुजराती पंजाबी और मारवाड़ी मे भी होता रहा है अतएव यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है कि हिन्दी 'ने' की भांति उपयुक्त भाषाओं के 'ने' का प्रयोग किस दिशा से आया ? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व इस कथन की परीक्षा कर लेना भी आवश्यक है कि क्या 'ने' का विकास संस्कृत के विभक्ति-प्रत्यय 'एन' से हुआ है ? विकास-प्रक्रिया इस प्रकार हुई होगी —

एन > आ एण इसा ऐ > अप इणि ए निह, नइ नै > हि नइ न ने। क्या इस प्रकार 'एन' प्रत्यय का स्वतंत्र विकास हुआ होगा ? 'एन' विभक्ति-प्रत्यय है, सामान्य प्रत्यय नहीं जिसके स्वतंत्र विकास की अधिक संभावना हो सकती थी। स्वतंत्र रूप से इसका विकास शायद ही हुआ हो।

कहा जा चुका है कि अधिक प्रयोग से सर्वनाम अपने कारक-रूपों को जल्दी घिस कर खो देते हैं और फिर वे दूसरे कारक-चिह्न धारण करते हैं। जब तेण तेस तेण अथवा जिण तिण किण से आगे अपभ्रंश में तइ (ते) तइ (तै) कइ (कै) आदि रूप ग्रहण कर लिये तो वे कभी-कभी अपना काम जो ते तै कै आदि से भी चलाते रहे। मध्यकालीन हिन्दी भाषा में ये प्रयोग बहुत कम ही मिलते हैं। इसी समय इन सर्वनामों को नये कारक-चिह्न लेने की आवश्यकता हो गयी। अपनी घिसी हुई दशा में सर्वनाम आपद्धर्म की स्थिति में किसी भी शब्द को प्रत्यय-रूप स्वीकार कर लेते हैं। जैसे जिने जिनने जिसने आदि प्रयोग सर्वनामों की घिसी-पिटी दशा के सूचक हैं। 'ने' अपनी स्वतंत्र सत्ता का द्योतन करता है। सब सर्वनामों में 'एो (> अमा) की स्थिति बहुत दुर्बल थी अतएव वह सर्वनामों में से निकल कर अपने सजातीयों की सेवा में नियुक्त हो

गया। इसने 'ने' के रूप में एक ओर (गुजराती, मारवाड़ी आदि में) कर्म और सम्प्रदान के चिह्न का काम किया और दूसरी ओर हिन्दी में कर्ता का परसर्ग बनकर अपना सेवा-कार्य सम्पन्न किया।

संभवतः 'ने' का प्रयोग पहले सर्वनामों ने स्वीकार किया फिर संज्ञाओं ने। प्रारंभ में अनभ्यास के कारण प्रयोक्ताओं ने अनेक टूटे फूटे प्रयोग किये होंगे बहुप्रचलित होने पर 'ने' शिष्ट प्रयोगों में आगया किन्तु विकारी रूपों ने ही इसे स्वीकार किया।

अनुमान है कि 'ने' की प्रयोग-परम्परा शाहजहाँकालीन दिल्ली के आस पास की बोली के संपर्क से हिन्दी में विकसित हुई।

(२) कर्म कारक (को)।—

हिन्दी में कर्म कारक का चिह्न 'को' है। इसे कर्म-परसर्ग भी कहते हैं। 'ने' की भाँति इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में भी मतभेद है।

सामान्यतया 'को' की व्युत्पत्ति 'कृते' या 'कक्षे' शब्द से बतायी जाती है। ट्रम्प का विचार है कि 'को' संस्कृत के 'कृते' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है 'के लिए' निमित्त। (सं) कृत 7 किलो किदो 7 किओ कओ 7 को। प्राचीन हिन्दी में 'कहुँ' कर्म-परसर्ग का प्रयोग भी होता था। ट्रम्प को इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। ट्रम्प का खयाल है कि प्राकृत के 'कर्त' और (कृतम्) रूपों में महा प्राणत्व का प्रभाव आ गया था परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

हार्नली और बीम्स 'को' की व्युत्पत्ति 'कक्ष' से मानते हैं। संस्कृत 'कक्ष' का अर्थ 'बगल' 'पक्ष' तरफ या 'ओर' होता है। अर्थ की दृष्टि से 'को निकट' या 'ओर' का समानार्थक है। परिवर्तन-प्रक्रिया इस प्रकार मानी गई है।

सं कक्षं 7 प्रा कक्खं 7 कांखं या काहं काहु कहु कहं कौं 7 को। डा चटर्जी ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

इस संबंध में भी आपत्ति की जाती है। 'कक्ष' के साथ 'को' परसर्ग का सम्बन्ध बिल्कुल काल्पनिक बतलाया जाता है। संस्कृत में कहीं भी कर्म या सम्प्रदान अर्थ में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

इस संबंध में एक और मत दिया जाता है कि 'को' संस्कृत शब्द अस्मद् (=हम) और युष्मद् (=तुम) के षष्ठी बहुवचन के क्रमशः अस्माकं और युष्माकं रूप से संबद्ध है। अस्माकं और युष्माकं से ही क्रमशः अम्हाकं और तुम्हाक का विकास हुआ है। हिन्दी के 'हमें' और 'तुम्हें' और 'तुम्हें' इन्हीं से निकले हैं। अन्तिम 'के' का प्रयोग इन सर्वनामों के साथ 'को' के अर्थ में होने लगा और बाद में यह रूप सभी संज्ञा-शब्दों के साथ प्रयुक्त होने लगा। इस मत के विरोध में यह

आपत्ति की जाती है कि हिन्दी परसर्गों का विकास स्वतंत्र शब्दों से हुआ है विभक्ति रूपों से नहीं। अन्य शब्दों में 'न' की अतिव्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

मेरी राय में 'कों' का विकास संस्कृत 'कस्य' से हुआ है। प्राकृत में इसका रूप 'कस्स' हुआ जिससे अपभ्रंश में भी कस्स रहा किन्तु साथ ही 'कास' और 'कासु' रूप भी प्रचलित थे। पुरानी हिन्दी में 'जासु तासु' की भांति 'कासु' का प्रयोग भी होता है जिससे काहु कहुँ कहुँ कउ का विकास हुआ है। इसी से खड़ी बोली 'कों' परसर्ग का विकास हुआ है।

ध्यान देने की बात यह है कि काहु और काहु तक तो इनका प्रयोग सर्वनाम में ही हुआ। मध्य कालीन हिन्दी में इसका एक रूप काहि' (जैसे और काहु में काहि) है। इसी का समानार्थक 'किहि' रूप भी मध्ययुगीन हिन्दी में प्रयुक्त होता रहा किन्तु 'कहुँ', 'कहुँ' रूपों ने अपना स्वतंत्र प्रयोग त्याग दिया और कर्म तथा सम्प्रदान के परसर्ग का कार्य स्वीकार कर लिया। उधर काहुँ काहु' 'किहि' आदि सर्वनाम-रूप भी चलते रहे। कहु और कहुँ से 'कउ' बाद में कौं कें को का विकास हुआ। इन 'कौं' 'कूँ', 'को' का प्रयोग कर्म तथा सम्प्रदान परसर्ग के रूप में हुआ। इधर कों और 'को' का प्रयोग ब्रज भाषा में संबंध-परसर्ग के रूप में भी हुआ जैसे—

'पुरन प्र म देखि गोपिन को मधुकर मौन गही'

भ्रमरगीत—२४७

यह प्रयोग कबीर की भाषा में भी मिलता है एक स्थान पर नहीं अनेक स्थानों पर।

(३) करण तथा अपादान—(से)

मध्यकालीन हिन्दी में से के स्थान पर 'सौं' और तैं प्रयोग भी होते थे। ब्रज और उसके आसपास की बोलियों में सौं' 'तैं के अतिरिक्त 'सूँ' का प्रयोग और तैं' करण कारक में आज भी किया जाता है, जैसे—

(१) मो सूँ कही जाहु घर अपनै।

(२) तो सौं कहा कहूं पूं बालक।

(३) घरतैं निकसि न बाहर देख्यो।

कुछ लोग खड़ी बोली में भी 'सौं' का प्रयोग कर देते हैं किन्तु यह प्रयोग 'बोली' तक ही सीमित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सौं या सैं से का निकटवर्ती पूर्वरूप है।

जिस प्रकार से' 'सौं' 'सों' 'सो' आदि प्रयोग करण और अपादान दोनों कारकों

---

* मधाकर iv-पृ १७०

में होते हैं उसी प्रकार बोलियों में 'तैं' 'तै' या 'तें' प्रयोग भी दोनों कारकों में होते हैं, जैसे—

(१) मैया मोतें बोल्यी—माग वा घांमो भाड रही है।

(२) मैं तो बरतौ दसिया की मायौ।

(३) मैंने तो साँप कूँ लठिया तें मारि दयौ।

इन सभों परसर्गों के पृथक-पृथक स्रोत हैं।

(१) तै की उत्पत्ति मेरी समझ में संस्कृत 'तस्' से हुई है जैसे-'आगत 7 भागतो 7 भागतउ आगतइ 7 भागते। प्राकृत में तस्' का 'तो' हो गया जिसका 'ओ' 'अउ' में होकर 'अइ' एवं 'ए' मे परिणत होगया। रासो में 'तें' का बहुत प्रयोग हुआ है जैसे—

(i) ता के कुल तें उप्पनौ—रासो १ १६४

(ii) तुम कही चक औव तें बव—रासो १ १७८

बोलियों में 'तैं' और 'तै' दोनों प्रयोग मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुनासिकता अकारण है।

'तै' या 'तें' की भाँति से का प्रयोग हिन्दी-भाषा में करण और अपादान दोनों कारकों मे होता है। इसका प्रयोग 'पार्थक्य' और 'संग' दोनों की सूचना के लिए होता है जैसे—

(१) मैंने लाठी से साँप मारा (करण)

(२) वह घर से चला गया (अपादान)

से' या 'सें' का पूर्व रूप 'सौं' या 'सों' माना जाता है। ग्रामीण बोलियों में सौं का प्रयोग अब भी होता है। इसका संबंध बीम्स आदि कुछ विद्वानों ने' सम' से जोड़ा है जो संस्कृत के क्रियाविशेषण 'समं' से प्रसिद्ध है। पुरानी हिन्दी में 'सम' का प्रयोग द्वितीयार्थक तृतीया में मिलता है जैसे—

(१) कहै इस प्रिथिराज सम—रासो १२/१६

(२) कहै कति सम कंत—रासो १ ७

इसका रूप सिंधी में 'सां' और 'सें' तथा गुजराती में 'सु' और 'से' के मिलता है जो 'सु' और 'से' से भिन्न नहीं है।

मध्यकालीन हिन्दी में सन शब्द का प्रयोग भी से' के अर्थ में हुआ है। तुलसीदास ने इसका प्रयोग प्रचुरता से किया है, जैसे—

(१) तेहि सन याज्ञवल्क्य पुनि पावा—रा० च० मा० (बा कां)

(२) मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत। ( )

(३) मिलटा सम बोली कर चोरी—" (सु० कां०)

विद्यापति ने पदों में कहीं-कहीं 'सयँ' का प्रयोग 'से' के अर्थ में किया है, जैसे—

दैवक दोप प्र म कदि उपजए
रमिक सर्मे मनु होप।
ऐसा प्रतीत होता है कि सर्म से एक मोर प्राकृत में सम्" हो गया मोर
दूसरी मोर बोली में 'सम' चलता रहा। इन्हीं से मन्त में 'सउ" मोर सइ" रू
म्युत्पन्न हुए, जिससे यूँ– सें रूपों का उद्भव हुमा।
हार्नली से' का संबंध प्राकृत संतो' या 'मु गो' से मानते हैं जिनका विकास
संस्कृत √मस धातु से माना जाता है।
कमाय के विचार से 'से' का संबंध संस्कृत 'समे से है। डा॰ उदयनारायण
तिवारी ने 'से' का मूल रूप 'सम-एन' बतलाकर इस प्रकार म्युत्पत्ति दिखाई है-
सम-एन 7 सएं सइ 7 सें 7 से।
मुझे बीम्स का मत मधिक ठोस प्रतीत होता है। डा॰ उदयनारायण तिवारी
ने सम' के साथ 'एन' का जो योग दिखलाया है वह व्यर्थ है क्योंकि संस्कृत के
मकारान्त व्यंजन से 'इ' मौर 'उ दोनों का उद्भव होता देखा गया है जैसे—
मत से मइ' (मैं) तथा मउ'(मौ)। इसी प्रकार 'सर्म' से'सइ" मौर'सउ" बाद
में 'सें मौर 'सौं' दोनों बने हैं। मनुस्वार का संबंध 'म' से जोड़ना स्वाभाविक है।
(४) सम्प्रदान कारक—(को के लिये)
'को' की उत्पत्ति की चर्चा कर्म-परसर्ग के विवेचन में की जा चुकी है।
के लिए' की म्युत्पत्ति की दृष्टि से दो भागों में रख कर देख सकते हैं-के+
लिए। कुछ विद्वान् के' की म्युत्पत्ति 'कृते' से मानते हैं। इस सिद्धान्त को मानने वालों
म टम्प का स्थान प्रमुख है। उसका मनुमान है कि 'कृते' में से 'ए' के लोप से क्रिते'
शब्द रह गया। 'को' भी इसी के 'इन्त' रूप से बना बताया गया है-सं कृतं 7 प्रा
क्रितो किमो 7 हिन्दी को'।
बीम्स टम्प के इस सिद्धान्त को नहीं मानता। उसका कहना है कि को' के
प्राचीन रूप कहुँ" मौर कहे' में ह' का मागम इस सिद्धान्त से समर्थित नहीं होता
(५) संबंध कारक– (का की के रा री रे ना नी ने)
हिन्दी के संबंध—परसर्ग को लिंग मौर वचन के संबंध से तीन रूपों में
देखते हैं का' की' तथा के। मस्मद्' एवं 'युष्मद्' के षष्ठी रूपों में का की तथा के
विलुप्त होकर रा री तथा 'रे' हो जाते हैं। मारवाड़ी में भी संबंध-परसर्ग के रूप
में 'रा' 'री 'रे' सुरक्षित हैं। इनका संबंध बंगाली के 'एर' मौर उड़िया के मर' से
जोड़कर किसी एक स्रोत की खोज में मधिक सहायता मिल सकती है।
इधर नेपाली को (हि.'का') का (हि॰ के') की (हि 'की') का संबंध
भी इसी स्रोत से जोड़ना उचित होगा। भोजपुरी 'करा' एव 'करे' परसर्ग जो मन्य
पुरुष में लगते हैं किसी सामान्य स्रोत की ही घोषणा करते हैं।

सब भाषाओं में इन परसर्गों को सामने रख कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता हूं कि इन सबका संबंध किसी ऐसे सामान्य शब्द से है जिसमें 'क' तथा 'र' का योग रहा हो। यह योग हमें 'कर' शब्द में मिल जाता है। मानस में इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है जैसे—

(१) कपि 'कर' बचन सप्रेम सुनि (मा सु कां)
(२) सब कर भानु सुकृत फल बीता (मा भयो कां)
(३) कपि 'कर' ममता पूँछ पर (मा सु कां)
(४) नहिं कछु होति बिवस भइ राती।
ताकर कहहु कौन कुल जाती ।। मा सं कां

आधुनिक बंगाली का 'एर' पुरानी बंगाली में 'कर' रूप में मिलता है। आधुनिक बंगाली के अनुसार इसका उच्चारण 'कार' जैसा होता है यथा-आजिकार (आज का) कालिकार (कल का)। इससे भी कर' की ओर ध्यान चला जाता है। 'कर का प्रयोग विद्यापति ने भी किया है, जैसे—

(१) कुल कामिनी छिलु कुलटा भैबेनु ताकर बचन लोभाइ। (पदावली)
(२) कहहि मो सखि कहहि मोकथ तकर अविबास। (पदावली—प्रेम-प्रसंग)

इससे भी यही सिद्ध होता है कि इन सबका कोई एक स्रोत है। विद्यापति की पदावली में 'क' का प्रयोग भी 'का' के अर्थ में हुआ है जो हिन्दी और नेपाली 'का' के समकक्ष है जैसे—

(१) चिकुर—चमर फर कुसुम क भारा। (पदावली)
(२) मधु-जामिनि मोर आज बिपल भेलि गोप मसारक संग। (पदावली)

'क 'कर' आदि का पूर्ण रूप 'केरा' 'केरौ' आदि में मिलता है। पृथ्वीराज रासो में यह प्रयोग बहुलता से हुआ है जैसे—

(१) किम्यौ नर नीसान फौजें सु केरी।
मिली दिष्टि सौं दिष्टि चाहुवान केरी ।। २१ २१ १
(२) धौरे सब पच चाहुवान केरो।
नरीमं गिरवनं बिहौं चक्क फेरो ।। २० १४१ ७

कबीर की साखियों और मानस में भी केरा, केरी आदि रूप मिलते हैं।

कबीर—

(१) तामस केरे तीन गुन भौर लेइ तहं बास।
एकै डारी तीनि फल, भोंटा ऊख कपास ।। कबीर-साखी
(२) साबन केरा भेवरा बुंद परा असमान।
सब दुनिया बैष्णव भई गुरु न मान्यो कान ।। कबीर साखी

तुलसीदास—

(१) भये बहुत दिन अति अवसेरी ।
सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी । (मा० मार०, कां)

(२) पुर्ना देखि बर दूषण केरा । (मा० भार०, कां)

'केरा' 'केरी' आदि प्रयोग पुरानी गुजराती में भी मिल जाते हैं जैसे—

(१) चंपक केरो बेटडो मे राखो छे मेर ।

सामुभदास पद्मावती १४

(२) जाह्नवी केरा तरंग खबीने
उदमां जाइ कूप खोवे रे । नरसिंह मेहता—

जिस प्रकार विद्यापति ने कहीं-कहीं 'कर' के 'र' का विलयन करके 'क' का प्रयोग का' के अर्थ में किया है, उसी प्रकार तुलसीदास ने भी कहीं-कहीं यह प्रयोग किया है जैसे—

(१) सिसु भायसु सब धरम क टीका । (मा अयो कां)

इस विवेचन के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि खड़ी बोली हिन्दी की संज्ञाओं में और कई सर्वनामों में भी का की के परसर्ग संबंध कारक में प्रयुक्त होते हैं । उत्तमपुरुष तथा मध्यपुरुष के संबंध-कारक रूपों में रा,री रे का प्रयोग होता है । पुरानी हिन्दी में 'केर' 'केरी' तथा 'केरे' का प्रयोग मिलता है। हिन्दी के 'का' 'की' 'के' का उद्भव 'केरा' एवं कर' के 'र' का लोप होने से हुआ है । जिस ओर ध्यान ने का' 'की' 'के' रूप देदिया है । सर्वनामों में प्रयुक्त रा री रे भी इसी केरा केरी या 'कर' में से 'के' के लोप से उत्पन्न हुए हैं ।

'केर' के रूपों का प्रयोग अपभ्रंश की रचनाओं में तो मिलता ही है, प्राकृत में भी मिलता । प्राकृतों में 'केर' का प्रयोग नाटकों में 'किया अथवा संबंधित' के अर्थ में हुआ है । यह शब्द इसी अर्थ में केरक' रूप में भी मिलता है । हार्नली इसका उद्भव संस्कृत के 'कृत (किया) से मानता है और पिशेल 'कार्य' से मानता है । हार्नली ने प्रक्रिया इस प्रकार दिखलाई है—कृत 7 प्रा० करिओ करिया (पु० हिन्दी कमी) । इसी करिओ या कर्यो से 'केरो' का उद्भव हुआ है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार अछिरो' का परम अच्छरिओ' में होकर 'आश्चर्य से हुआ है । बीम्स मेवाड़ी के नो' को प्राकृत के केरको' से व्युत्पन्न मानता है जो 'केरको का ही रूप है ।

डा० चटर्जी हिन्दी 'का' संबंध प्राकृत 'कक' के साथ जोड़ते हैं । उनके मतानुसार 'संस्कृत 'कृत ' के प्राकृत रूप 'कय' में आधुनिक काल तक आते आते 'क' बना रहना संभव प्रतीत नहीं होता । साधारणतया बीम्स एवं हार्नली का मत ही मान्य है ।

अतएव निष्कर्ष यह है कि संस्कृत 'कृतस्' से प्राकृत रूप 'करियो' केरो तथा केरको' उद्भूत हुए। उन्हीं से लघु होकर 'केरमो' और 'केरो' का विकास हुआ जिसका संक्षिप्ततर रूप 'कर' एवं 'क' है तथा आधुनिक हिन्दी का 'का' रूप भी इसी का विकास है। हिन्दी सर्वनाम के रूप रा री रे का विकास भी इसी 'कृतम्' के 'केरक' या 'केर' रूप से हुआ है जैसा कि पीछे दिखाया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के निजवाचक सर्वनाम के संबंधकारक में 'ना', 'नी' ने प्रयोग मिलते हैं, जैसे 'मैं अपना काम करता हूँ' 'अपनी घड़ी गिर गई' 'अपने अन्ध संगीत में भाग लेंगे'।

मेरी समझ में 'ना' 'नी', 'ने' का उद्भव किसी शब्द विशेष से नहीं हुआ और न ये परसर्ग ही हैं। ये तो सहज 'आत्मन' (अप्पणो) के घिसे-पिटे रूप हैं। ये विभक्ति-रूप हैं घिसे-पिटे अवश्य हैं किन्तु परसर्ग नहीं हैं। लिंग और वचन भेद से अप्पणो (अपनो) ही अपना अपनी और अपने में बदल जाता है। इन रूपों को तणो, तणी तणु (अपभ्रंश) रूपों से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। आधुनिक हिन्दी में 'तणा' शब्द का प्रयोग नहीं होता है। हाँ पुरानी हिन्दी में 'तना' शब्द का प्रयोग होता था, जो ग्रामीण प्रयोग था। इसकी व्युत्पत्ति 'चिरंतन' 'सनातन', 'पुरातन' 'नूतन' आदि के 'तन' से मान सकते हैं। अपभ्रंश में यही 'तन' 'तणो' हो गया। इसीसे पुरानी हिन्दी का ग्रामीण प्रयोग 'तना' विकसित हुआ।

(६) अधिकरण—(में पर पै)

आधुनिक हिन्दी में अधिकरण परसर्ग 'में' और 'पर' हैं, किन्तु कभी-कभी 'पै' का प्रयोग भी होता रहा। इसका प्रयोग बोलचाल में अधिक होता है। कभी-कभी 'पै' अन्य कारक-चिह्न के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

'में'—इसका उद्‌भव संस्कृत 'मध्य' से माना जाता है। जिस प्रकार संस्कृत में 'गृहमध्ये', 'पुरमध्ये' पदों का प्रयोग होता था उसी प्रकार हिन्दी में होता रहा किन्तु हिन्दी ने 'मध्ये' के स्थान पर 'मध्य को ही स्वीकार कर लिया। 'रासो' आदि प्राचीन हिन्दी रचनाओं में 'मध्य' के प्रयोग बहुत मिलते हैं, जैसे—

(१) अमृत सु फल मध्य बसि।

(२) इह बोलि बाणी इक मध्य आयी।

मध्य के साथ-साथ 'मधि' और 'मद्धि' रूपों के प्रयोग भी होते रहे। ये शब्द 'मध्ये' का ही विकास द्योतित करते हैं। इनके उदाहरण ये हैं —

मधि—(i) हजार सु तीन परे मधि।

(ii) तिन मधि सोहत हंस जिमि।

मझि—(i) जोगिनीय गई रागिनि मझि ।

(ii) चंद्रमा मझि धावे ग्रहराज क्यों ।

हिन्दी में 'मध्य का तीसरा विकार 'मध्दि' है । हिन्दी में इसका प्रयोग भी 'मझि' और 'मद्धि' के समान ही होता है, जैसे—

(i) मुखेण परिय मध्दि बिस प्रभाव ।

(ii) सेना मध्दि भवि बीर कीं ।

'मध्य का प्राकृत-रूप 'मज्झ' था इसीसे हिन्दी का एक रूप मांझ' विकसित हुआ । यह रूप भी हिन्दी में खूद से प्रचलित है,जैसे—

उपजाव मौझ चलि मने भाव ।

इन्हीं रूपों के समान मज्झ, मंझ' 'मझार' आदि शब्दों का प्रयोग 'में' के अर्थ में होता रहा है । इन्हीं के अन्य रूप 'माहि, माहीं माँहिं' और 'माँहि' हैं । बाम चाल में 'माँइ' या 'मँइ' भी उच्चरित होता है । यही रूप 'में' के विकास की पूर्व पीठिका हैं । इस प्रकार 'में' की व्युत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है—मध्ये 7 प्रा० अपभ्र श-मज्झे, मज्झि,मज्झहि 7 पु हिन्दी 'माहिं माहि, महि, मइ 7 में ।

पर—

इस परसर्ग की व्युत्पत्ति के संबंध में विशेष मतभेद नहीं है । हिन्दी में इसके स्थान पर 'ऊपर' शब्द का प्रयोग भी होता है । 'पर' और 'ऊपर' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'उपरि' से मानी जाती है । 'उपरि' के प्राद्य 'उ' के लोप से 'परि' और फिर 'पर' का विकास माना जाता है, तथा 'उपरि' के आदि 'उ' के दीर्घ हो जाने से 'ऊपर' शब्द बना बताया जाता है । मराठी और गुजराती में 'पर के स्थान पर वर' का प्रयोग होता है जैसे 'घरवर' । साधारणतया यह व्युत्पत्ति ही स्वीकार की जाती है किन्तु मेरी समझ में 'घर पर गया' तथा 'पीढ़ा पर बैठा है' इन दोनों वाक्यों में प्रयुक्त 'पर' दो भिन्न शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं—

(i) 'घर पर गया' के 'पर का विकास संस्कृत के 'प्रति' से हुआ है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जाती है—सं प्रति 7 प्रा पडि 7 हिन्दी परि पर ।

(ii) 'वह पीढ़ा पर बैठा है —'इस वाक्य में प्रयुक्त 'पर' को 'उपरि' से व्युत्पन्न मानना चाहिये । इनके रूप में कोई भेद न होने से साधारणतया इस व्युत्पत्ति भेद की ओर ध्यान नहीं जाता ।

पै—

इसका प्रयोग 'पर के समान भी होता है जैसे— मोहन छत पै बैठा है

बालक खाट पै चढ़ गया' आदि किन्तु इसका प्रयोग अन्य कारकों में भी होता रहा है जैसे—

(१) छोरा छोरि बाप पै गयौ।

(२) मह मरि मायो मिहुम उर ता पै गह्यो न जाय।

(३) बानर जाइ राम पै कह्यो।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अधिकरण के अतिरिक्त 'पै' का प्रयोग कम करण आदि कारकों में भी होता रहा है।

'पै' के उद्भव के सम्बन्ध में मतभेद है। इसको पद ∠ पदि ∠ प्रति से व्युत्पन्न माना जाता है। कुछ लोग इसे पद ∠ परि ∠ उपरि से व्युत्पन्न मानते हैं। सम्भव है कि 'पै' का विकास दोनों स्रोतों से हुआ हो। 'पै' रूप 'पर' से अधिक प्राचीन है। 'पइ' रूप पुरानी हिन्दी से चला आ रहा है। मध्यकालीन हिन्दी में भी इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है। इसी 'पइ' से 'पै' का जन्म हुआ है।

उक्त परसर्गों के अतिरिक्त अधिकरण कारक में कुछ सम्बन्धबोधक अव्ययों का प्रयोग भी परसर्गवत् होता है जैसे—तले पीछे, आगे पास संमुख आदि किन्तु इन अव्ययों को परसर्ग न कहकर अव्यय कहना ही उचित है। परसर्ग और सम्बन्धबोधक अव्ययों का अन्तर यह है कि परसर्ग और शब्द के बीच कोई और चिह्न नहीं लगता जब कि सम्बन्धबोधक अव्यय और शब्द के बीच 'का' आदि सम्बन्ध-सूचक चिह्न लगते हैं जैसे—पेड़ के तले राम के आगे सीता के पास, मेरे पीछे, आदि।

अध्याय १०

सर्वनाम

पुनरुक्ति दोष के निवारण के लिए संज्ञा के स्थान पर जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे सर्वनाम कहलाते हैं। भाषा वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से सर्वनाम शब्दों की छः सारणियाँ हैं —

१ पुरुष एव निश्चयवाचक।
२ सम्बन्धवाचक।
३ प्रश्नवाचक।
४ अनिश्चयवाचक।
५ निजवाचक।
६ वैशेषणिक सर्वनाम।

सूचना—पुरुषवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत तीन पुरुष–उत्तम मध्यम और अन्य अथवा प्रथम होते हैं। निश्चयवाचक सर्वनाम अन्य पुरुष से अभिन्न है। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम और मध्यम पुरुष के रूप समानान्तर चलते हैं और वे मूलत चार रूपों में देखे जाते हैं —

१ कर्ता एकवचन
२ विकारी एकवचन
३ कर्ता बहुवचन
४ विकारी बहुवचन।

उत्तम पुरुष के रूपों को नीचे की लिखी तालिका में देखिये —

कर्ता एकवचन	विकारी एकवचन	कर्ता बहुवचन	विकारी बहुवचन
मैं	मुझ	हम	हम
हौं	मो	—	—
हूँ	—	—	—

१ पुरुषवाचक तथा निश्चयवाचक सर्वनाम—

उत्तम पुरुष]

मैं—

आधुनिक हिन्दी भाषा में 'मैं' का प्रयोग होता है, किन्तु बोलियों में आज भी कहीं-कहीं 'हौं' और 'हूँ' रूपों का प्रयोग मिलता है।

मैं संस्कृत के 'मया' से आया है। प्राकृत में इसका एक रूप 'मइ' भी होता है जो अपभ्रंश में 'मइं' हो जाता है। यही 'मइं' हिन्दी में 'मैं' हो गया है। पूर्वी प्रदेशों में इसका उच्चारण अब भी अपभ्रंश-रूप का स्मरण दिलाता है। संस्कृत में 'मया' का प्रयोग करणकारक एकवचन में होता था किन्तु अपभ्रंश में 'मइं' का प्रयोग करण के अतिरिक्त कर्म अधिकरण आदि कारकों में भी होने लगा। अपभ्रंश के करणकारक के प्रयोग को हिन्दी में कर्ताकारक ने स्वीकार कर लिया है। पुरानी हिन्दी में 'मैं' का प्रयोग केवल वहीं होता था जहाँ कर्ता (agent) कर्ताकारक का रूप ग्रहण करता था जैसे—

मैं सुन्यौ छाहि बिन म पि कीन। (रासो)

'मैं सुन्यौ' का संस्कृत-रूप 'मया श्रुतं' है। इसमें 'मया' करणकारक में है। आधुनिक हिन्दी में इसका रूप 'मैंने सुना' होता है। वस्तुतः यह प्रयोग 'मैं ∠

मैंने रोटी गायी, हमने रोटी गायी।
मैंने रोटी गायी थी हमने रोटी गायी थी।
मैं रोटी खा चुका था हम रोटी खा चुके थे।

'हम' एक ओर तो 'मैं' के समानान्तर काम करता है और दूसरी ओर 'मुझ' के समानान्तर भी। जहाँ 'मैं' और 'मुझ' काम नहीं करते वहाँ 'हम' भी काम नहीं करता। वहाँ मेरा, मेरी मेरे की भाँति 'हमारा' 'हमारी' 'हमारे' से काम लिया जाता है, जैसे—

१ हमने रोटी गायी।
२ हम घर गये थे।
३ मोहन ने हमको दो दो रुपये दिये।
४ वह हमसे काम कराना चाहता था।
५ श्याम ने हमसे पुस्तकें छीन लीं।
६ उसने हममें भेद डाल दिया।

या

उसने हम पर बोझ लाद दिया
७ मोहन ने हमारे लिए कुछ नहीं किया।
८ हमारा घर अभी तक खाली पड़ा है।

कहीं-कहीं करण कर्म और अपादान में कुछ ग्रामीण प्रयोग भी सुनाई पड़ते हैं जैसे—

१ हमारे को भी कुछ दीजिये।
२ आप हमारे से कुछ नहीं करा सकते।
३ वह हमारे से क्या ले सकता है।

इन रूपों के अतिरिक्त 'मुझे' की भाँति रूप में 'हमें' प्रयोग भी होता है, जो 'हमको' का काम करता है जैसे—

१ मोहन ने हमको चार रुपये दिये मोहन ने हमें चार रुपये दिये।

हमें—

इस 'हमें' की व्युत्पत्ति अपभ्रंश रूप 'अम्हे' से हुई है। वर्ण विपर्यय द्वारा ही 'अम्हे' का 'हमें' हो गया है। 'हमें' में 'मे' के साथ अनुनासिकता का संबंध 'म' की 'अनुनासिकता' 'हमें' के कारण हुआ प्रतीत होता है। ध्यान रखने की बात है कि कर्म

कारक में 'भ्रम्हे' न केवल अपभ्रंश में प्रयुक्त होता था वरन् प्राकृतों में भी होता था। इसलिए हिन्दी-'हमें' अपनी परंपरा का पालन कर रहा है।

हमारा, हमारी हमारे का विवेचन कारकों के प्रकरण में किया जा चुका है।

मध्यम पुरुष—

मध्यम पुरुष के रूप बिल्कुल उत्तम पुरुष के रूपों की भाँति चलते हैं। इसके रूप इस प्रकार चलते हैं —

कर्ता एकवचन	कर्ता बहुवचन	विकारी एकवचन	विकारी बहुवचन
तू	तुम	तुम्ह	तुम

तू—

'तू' और 'तुम' दोनों रूप संस्कृत के 'त्व' से विकसित हुए हैं। साहित्यिक प्राकृत में 'त्व' के लिए 'तुमं' तथा तुम' का प्रयोग होता था। अपभ्रंश में 'तुहं' का प्रयोग भी होता था। यहाँ 'ह' के प्रकारण आगम के सिवा 'तुहं' और 'तुम' में कोई भेद नहीं है। 'म' के विलोप तथा 'उ' के दीर्घ होने से 'तू' का विकास हुआ। इसी 'तू' से 'तूं' बना है। 'तूं' का प्रयोग पश्चिमी बोलियों में आज तक हो रहा है। पंजाबी गुजराती सिंधी मराठी और राजस्थानी भाषाओं में भी 'तूं' (गुजराती 'तुं') का प्रयोग होता है।

'तू' का प्रयोग कर्ताकारक में कहीं विभक्ति ने' के साथ और कहीं बिना विभक्ति के होता है जैसे—

१ तू काम करता है।
२ तू पुस्तक पढ़ चुका।
३ तू अध्ययन करेगा।
४ तू ने रोटी खाली।
५ तू ने परीक्षा दी।

तैं—

आधुनिक ब्रजभाषा आदि कुछ बोलियों में तथा मध्यकालीन ब्रजभाषा के

रूपों में प्रभिक्ता स 'तैं' का प्रयोग होता या हुआ है बिल्कुल 'मैं' की भाँति। अन्तर इतना ही है कि 'मैं' का प्रयोग तो साहित्यिक हिन्दी में आज भी स्वीकार कर रखा है और 'तैं' का प्रयोग आज की साहित्यिक हिन्दी से निकल गया है।

यह रूप संस्कृत 'त्वया' से विकसित हुआ है। 'त्वया' का अपभ्रंश रूप 'तइ' था जिससे मध्यकालीन हिन्दी का 'त' विकसित हुआ। हिन्दी में इसको कर्ता-कारक में ले लिया बिल्कुल 'मैं' की भाँति जिसके साथ मध्यकालीन हिन्दी में 'ने' का प्रयोग बहु प्रचलित नहीं था। इसका प्रचलन भी दिल्ली के आसपास की बोली में रहा था किन्तु इसका साहित्यिक प्रयोग शाहजहाँ के समय के आसपास हुआ। सूर की भाषा में 'तैं' का प्रयोग बिना 'नें' के ही हुआ है।

तो, तुम्ह —

'तू' के विकारी रूप प्रमुखतः दो ही हैं — तो तथा 'तुम्ह' जो 'मो' एवं मुम्ह के समानान्तर हैं। 'तो' का प्रयोग पुरानी एवं मध्यकालीन हिन्दी में ही मिलता है। यह रूप अपभ्रंश के 'तउ' (संबंध-रूप) से विकसित हुआ है। 'तुम्ह' का विकास अपभ्रंश के संबंध रूप 'तुम्भ' से हुआ। जिस प्रकार खड़ीबोली में 'तुमको' 'तुमसे' तुम्ह पर 'तुम्ह में' प्रयोग होते हैं उसी प्रकार पुरानी और मध्यकालीन हिन्दी में तोहि' 'तोकहुँ' 'तोकहँ', तोकों' 'तोकूँ' 'तोतैं' 'तोपै' 'तोमें' 'तोपहिं आदि प्रयोग भी होते हैं। 'तो' का प्रयोग सार्वनामिक विशेषण के रूप में भी होता था किन्तु 'तुम्ह' का प्रयोग आधुनिक हिन्दी में सर्वकारक में नहीं होता।

आधुनिक हिन्दी में 'तुम्ह' का एक रूप (कर्म-एकवचन में) 'तुम्हें' है अतएव 'तुमको' के स्थान पर 'तुम्हें' प्रयोग भी प्रचलित है।

तुम —

कर्ताकारक का बहुवचन रूप 'तुम' है। यह कहना कठिन है कि इसका विकास प्राकृत 'तुम' से हुआ जो अपभ्रंश में 'तुहुं' होता है अथवा अपभ्रंश के बहुवचन रूप 'तुम्हइ' से हुआ। मैं समझता हूँ कि इसका विकास 'तुम्हइ' से 'इ' के विलुप्त होने पर हुआ। पुरानी तथा मध्यकालीन हिन्दी में 'तुम्ह' रूप अधिक प्रचलित है। इसीसे आधुनिक रूप 'तुम' का विकास हुआ। आधुनिक हिन्दी में 'तू' और 'तुम' दोनों का प्रयोग होता है। 'तू' का प्रयोग कुछ अशिष्ट माना जाता है। यहाँ तक कि नौकरों तक के लिए एकवचन में 'तुम' शब्द ही प्रयुक्त होता है। 'तू' का

प्रयोग केवल 'ईश्वर' के लिए रह गया है। आजकल तो कुछ तथाकथित शिष्ट लोग 'माँ' के लिए भी 'तू' का प्रयोग नहीं करते।

आप—

जिस प्रकार आजकल 'तुम' का प्रयोग एकवचन और बहुवचन में होता है उसी प्रकार बड़ों के लिए अथवा आदर में 'आप' शब्द का प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों में होता है। आपका प्रयोग दोनों वचनों में सब कारकों में होता है। कर्ता में इसके चार रूप बनते हैं जैसे—

एकवचन कर्ता	बहुवचन कर्ता
१ आप गये थे।	१ आप गये थे।
२ आप काम करेंगे।	२ आप काम करेंगे।
३ आप पुस्तक पढ़ते हैं।	३ आप पुस्तक पढ़ते हैं।
एकवचन विकारी	बहुवचन विकारी
१ आपने पुस्तक पढ़ली।	१ आपने पुस्तक पढ़ली।
२ आपने खाना खाया।	२ आपने खाना खाया।

इसकी व्युत्पत्ति आत्मन् 7 प्रा० अप्पा से हुई है। पुरानी हिन्दी में इसका प्रयोग 'अप्प' रूप में हुआ है जैसे—'अप्प कर' (रासो)।

मध्यकालीन हिन्दी में इसका रूप 'आपु' रहा। आज यह आप रूप में प्रयुक्त होता है। इसके रूप संबंधकारक में भी आपका' आपकी' आपके' बनते हैं।

तुम्हें—

कर्म-बहुवचन में 'तुम्हें' का प्रयोग होता है या अपभ्रंश के कर्म-बहुवचन रूप 'तुम्हे' से विकसित हुआ है। विकास में केवल 'म्हे' पर अनुस्वार आया है।

तेरा तुम्हारा आदि संबंधकारक एकवचन में 'तेरा' 'तेरी' तेरे' तथा बहुवचनमें 'तुम्हारा तुम्हारी' 'तुम्हारे' रूप बनते हैं। इन रूपों का विवेचन 'केरक' पर-सर्ग में किया जा चुका है। फिर भी यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि 'तोर' 'तोरा' आदि रूप प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होते थे। 'मो' और 'तो' का प्रयोग संबंधकारक में भी होता था जैसे—'श्याम औ चंद अथवा 'इहि बालक मो मन बसौ' में। इसी प्रकार 'तो' का प्रयोग भी सिद्ध है किन्तु इनके साथ संबंध चिन्ह भी प्रयुक्त होता था जैसे—'मैं मद 'मोर' ओर यह माया में 'मोर' 'तोर' में 'र' संबंध-चिन्ह है। यह 'र' प्राचीन 'केरक' से विकसित 'कर' का ही संक्षिप्त रूप है। 'मोर' 'तोर' के समानान्तर 'मोरा' 'तोरा' रूप भी

चलते थे। प्राचीन कवि'यों', तो के साथ मेरो हमारो' आदि रूप भी जानते थे।
बद-तक तो इन रूपों का ज्ञान था किन्तु उसने प्राय मा वा का ही प्रयोग किया
है। सूर ने मेरो 'हमारो के साथ 'तेरो, तिहारो आदि रूपों का प्रयोग भी किया है।
तेरा'की उत्पत्ति 'तव'+केर' से इस प्रकार हुई है—तव+कर(!) 7 तवेरा 7 तेरा।
'हमारा' और तुम्हारा रूप 'अस्मद् (हम) एवं तुम्ह' के साथ केरा या 'रा' प्रत्यय
जुड़ने से और इसके पूर्व लोप आ' के आगम से विकसित हुए हैं। कहीं-कहीं
बोली में 'आ' का आगम नहीं भी होता अतएव हमारा' 'तुम्हारा के स्थान
पर हमार 'तुम्हार' प्रयोग भी चलते हैं किन्तु साहित्यिक हिन्दी इन रूपों को मान्य
स्वीकार नहीं करती।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस 'केरक' शब्द ने संबंध कारक की
बड़ी भारी सेवा की है। इसने अपने अ ग के टुकड़े-टुकड़े करके सेवा-कर्म का निर्वाह
किया है। यह शब्द कहीं 'क' कहीं 'कर' कहीं 'केरा', कहीं एर कहीं 'र' और
कहीं 'रा' तक में विभक्त होगया है और इसने संज्ञा सर्वनाम और विशेषण सभी के
निर्माण में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। मैं' और तू' के संबंध कारक के नये-पुराने
रूप इसकी सेवाओं को कदापि नहीं भुला सकते।

सूचना—तेरा'और 'मेरा' की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी विचारी जा सकती है—

ते (अप तुम्ह-संबंध-कारक ए व) + केर 7 तेर 7 तेरा

तथा—

मे + केर 7 मेर 7 मेरा।

अन्य पुरुष—

इसके दूरवर्ती और निकटवर्ती दो भेद होते हैं। दूरवर्ती मे वह' तथा 'वे'
और निकटवर्ती मे 'यह' और 'ये' रूप बनते हैं। वास्तव में वह और 'वे' ही
अन्य पुरुष सर्वनाम है। 'यह' और 'ये' की गणना व्याकरणों में निश्चयवाचक
के अन्तर्गत की गयी है किन्तु भाषावैज्ञानिक विवेचन मे इन दोनों को एक ही
सरणि में रखा गया है। 'वह' के समानान्तर ही सो' का प्रयोग भी होता है।

दूरवर्ती (वह वे)—

इसका प्रयोग अन्य पुरुष एकवचन के अविकारी रूप एक वचन (वह)
में होता है जैसे—'वह पानी पीता है' 'वह आ चुकी'। इसका व्युत्पत्ति सं अदस्
के प्रथमा—एकवचन-रूप 'असौ' से हुई है। प्रक्रिया यह रही है —

सं असौ 7 प्रा० असो 7 अहो ओह वह।
परसर्गों के साथ 'उस' का प्रयोग होता है जो संस्कृत अमुष्य' से इस प्रकार व्युत्पन्न हुआ है–

सं अमुष्य 7 पा अमुस्स प्रा अउस्स 7 हिं 'उस । 'मुझे की भाँति इसका कर्म-रूप 'उसे भी बनता है जो 'उसको के समानान्तर प्रयुक्त होता है। इसके रूप इस प्रकार बनते हैं—

अविकारी	—	वह'
विकारी	—	'उस'
कर्म	—	'उस

इन्हीं तीन रूपों से सारे कारकों का काम चल जाता है। 'वह' का प्रयोग कर्ता मे 'उसे' का प्रयोग केवल कर्म में तथा उसका प्रयोग सब कारकों म होता है किन्तु परसर्गों के साथ।

बहुवचन वे'—इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। फिर भी विद्वानों ने अटकल से काम लिया है। मैं इसकी व्युत्पत्ति अन्स् के कल्पित संस्कृत रूप अमुके' से मानता हूँ जो इस प्रकार है—

सं अमुके ⁻ अबु ए 7 ओइ 7 वे।

डा० उदयनारायण तिवारी का खयाल है कि अविकारी ए व क रूप 'वह' में करण कारक ब व की विभक्ति स एभि 7 अप ग्रहि अइ 7 हि 'ए' जोड़कर 'वे' रूप निष्पन्न हुआ है। हिन्दी में इसके प्रयुक्त तीन रूप होते हैं–

अविकारी	—	'वे'
विकारी	—	'उन' 'उन्ह'
कर्म	—	'उन्हें

'वे' का प्रयोग केवल कर्ता मे होता है। इसके साथ कोई परसर्ग नहीं लगाता। उन्हें का प्रयोग केवल कर्मकारक में होता है। इसके साथ भी कोई परसर्ग नहीं लगता। उन का प्रयोग परसर्गों के साथ सभी कारकों में होता है। 'उन्ह' 'उन का पूर्व रूप है किन्तु कर्ता में ने' परसर्ग के साथ 'उन्ह का 'उन्हों' रूप भी प्रयोग में आता है जैसे—'उन्होंने । यह प्रयोग अन्य किसी कारक में नहीं होता। सूरकालीन हिन्दी मे 'वे' के अर्थ में 'वै' का प्रयोग होता था—

'वै' वह बानि बिसारै — भ्रमर गीतसार—७१

सो—

इसका अर्थ 'वह होता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'तद्' शब्द से मानी जाती है। 'तद् से प्राकृत शब्द 'त तथा स' बनते हैं। 'स' का प्राकृत रूप कर्ता पुंल्लिंग-एकवचन में सो है जिसका प्रयोग महाराष्ट्री जैन महाराष्ट्री जैन

आदि। बहुवचन का अविकारी रूप कर्ता में कभी-कभी 'तिन्ह' भी प्रयुक्त होता है जैसे- 'तिन्ह कीन्हा'।

'ते' का बहुवचन रूप 'ते' प्राकृत में भी मिलता है। प्राकृत में इसके 'से' आदि रूप भी मिलते हैं। मध्यकालीन हिन्दी में 'ते' का प्रयोग बहुलता से हुआ है। जिस प्रकार प्राकृत में 'से' बहुवचन-रूप मिलता है उसी प्रकार पहले कहा जा चुका है अपभ्रंश और मध्यकालीन हिन्दी में एकवचन-रूप 'सो' है। 'ते' के बहुवचन रूपों को नीचे के उदाहरणों में देख सकते हैं—

१ ते पुनि पुन्य पुंज हम लेखे। (मानस)।

२ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
 औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥ (मानस अयो)

३ तिन्ह के हृदय सदन सुख दायक।
 बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक॥ (मानस-अयो)

४ ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाए। (मानस-अयो)

आधुनिक हिन्दी में 'ते' का प्रयोग नहीं होता। जैसे 'जो करेगा सो भरेगा' आदि विरल प्रयोग आधुनिक खड़ी बोली में मिल जाते हैं वस ही कहीं-कहीं 'जिसकी लाठी तिसकी भैंस' जैसे रूप भी मिल जाते हैं।

मैं 'सो' और 'ते' का स्त्रोत संस्कृत 'तद्' को मानता हूं। संस्कृत तद् का 'स (सः)' प्राकृत-कर्ता एकवचन में 'सो' हुआ और पुरानी हिन्दी में होता हुआ वही रूप अब तक चला आया। बहुवचन में प्राकृत में 'ते' और 'से' दोनों रूप चले। 'सो' के समानान्तर तद् का एक रूप 'तो' भी मराठी में चला। क्या 'वह' और 'वे' की व्युत्पत्ति क्रमशः 'सो' और 'ते' (से) भी खोजी जा सकती है? यह प्रश्न विचारणीय है।

निकटवर्ती रूप—

एकवचन 'यह'

'यह' की व्युत्पत्ति सं 'एष' से मानी जाती है। सं एष >प्रा॰ एसो > अप एहो > हि. एह, यह। 'अब कर फल एहा' जैसे—प्रयोग में मध्यकालीन हिन्दी में 'यह' का रूप मिल जाता है। इसके प्रमुख रूप ये मिलते हैं।

अविकारी	—	यह
कर्म	—	इसे
विकारी	—	इस

यह का प्रयोग केवल कर्ता में होता है। इस का केवल कर्म कारक में किन्तु इस का प्रयोग परसर्गों के साथ प्रत्येक कारक मे होता है। पुरानी और मध्यकालीन हिन्दी में कर्ता कारक में अनेक रूप चलते हैं जैसे—इ इह ए, एह यह। एकवचन का विकारी रूप केवल इस है। इसकी व्युत्पत्ति सं 'एतस्य' से इस प्रकार हुई है—सं एतस्य 7 पा० एतस्स 7 प्रा० एअस्स 7 हि० 'इस'।

यह अनुमान भी किया जाता है कि 'यह' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'इद (अयं इयं इदं) से हुई है। प्राकृत में अय' 'इम' तथा इए' बनते हैं। आश्चर्य नहीं कि 'इम' होकर 'इह' और 'यह' इन्हीं में से किसी से विकसित हुआ हो। इसके 'इस' रूप की व्युत्पत्ति 'अस्य' से भी मानी जा सकती है।

अस्य 7 प्रा० अस्स 7 इह इहा एवं इस।

बहुवचन ये —

इसकी व्युत्पत्ति स० 'एते' से इस प्रकार हुई है—एते 7 प्रा० एए 7 अप एइ 7 हि० ए, ये। 'ए' का प्रयोग मानस में बड़ी छूट से हुआ है जैसे—

१ ए बिचरहिं मम बिनु पदत्राना। (मानस—अयो)
रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥

२ ए महि परहिं डासि कुस पाता।
सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥

३ कौं ए मुनि-पटधर जटिल सुन्दर सुठि सुकुमार। (मानस-अयो)

४ एक कहहिं ए सहज सुहाए— (मा० अयो)

इसका प्रयोग केवल अविकारी कर्ता में होता है। इसके साथ कोई परसर्ग नहीं लगता। इसका विकारी रूप 'इन' या इन्हं' है।

इसकी व्युत्पत्ति सं० एतेषाम् से मानी जाती है।

सं० एतेषाम् एतानाम् 7 एआण 7 एन्ह 7 एन्ह 7 इन्ह इन। 'इन' आधुनिक प्रयोग है। मध्यकाल तक 'इन्ह' शब्द का प्रयोग होता था। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य मे भी इसका प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है। मध्यकालीन ब्रज और अवधी में इन्ह' का प्रयोग बहुलता से हुआ है। 'इन्हें' में 'इन्ह' का प्रयोग आधुनिक हिन्दी में भी चलता है। 'ये' का प्रयोग केवल कर्ता में 'इन्हें' का केवल कर्म में तथा 'इन' का सम्बन्ध कारकों में परसर्गों के साथ होता है।

निश्चयवाचक—निश्चय वाचक सर्वनाम में यह, ये तथा वह वे के अनेक रूप ही प्रयुक्त होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति अलग से दिखाने की आवश्यकता नहीं है।

संबंधवाचक सर्वनाम—हिन्दी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	एक वचन	बहुवचन
अविकारी	जो	जो
विकारी (तिर्यक)	जिस	जिन जिन्ह

जो—

इसका प्रयोग हिन्दी में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों रूपों में होता है। संस्कृत में पु० में 'य' स्त्री० में या' और नपु० में 'यत्' रूप होता है। हिन्दी के 'जो' रूप का विकास संस्कृत य से हुआ है। सं० 'य' 7 पा० यो 7 प्रा जो 7 अप जो यु। पुरानी हिन्दी में 'जु' के साथ 'जे' तथा 'जि' का प्रयोग होता रहा है।

'जिस' की उत्पत्ति संस्कृत ऽस्य' से हुई है। यस्य 7 पा० 'यस्स 7 प्रा० जस्स जिस्स 7 हिन्दी 'जिस'। मध्यकालीन हिन्दी-शब्द 'जासु' भी जस्स' से ही व्युत्पन्न हुआ है। जिन' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डा० उदयनारायण तिवारी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति में 'बीम्स' का अनुकरण किया है। वे इसकी उत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—

येषां 7 प्रा० जाणां 7 हि० जिन, जिन्ह।

मुझे यह व्युत्पत्ति गलत लगती है। मेरी समझ में 'जिन' की उत्पत्ति सं० 'येन' से हुई है—

सं० येन 7 प्रा० जेण अप० 7 जेण, जिणा जिणि, जिण 7 हिन्दी (पुरा० जिनि) जिन। करण एकवचन का यह रूप हिन्दी में बहुवचन में प्रयुक्त होने लगा। तिन किन आदि शब्द-रूपों के सम्बन्ध में भी यह बात विचारणीय है।

प्रश्नवाचक सर्वनाम—

इसके लिए कौन' और क्या का प्रयोग होता है इसके 'विकारी' और 'अविकारी' रूप इस प्रकार बनते हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	कौन	कौन
विकारी	किस	किन किन्ह

कौन—

इसकी व्युत्पत्ति के दो स्रोत बताये जाते हैं। एक तो कवन (वैदिक 'कमण'), दूसरा 'कः पुन'। अभी तक बहुमत 'कः पुन' के पक्ष में ही है किन्तु मेरा झुकाव 'कमण' या 'कवन' के ही पक्ष में है। तुलसीदास ने 'कारण कवन नाथ मोहि मारा' आदि वाक्यों में कवन' का ही प्रयोग किया है। इसी से कवन' (कउण) फिर

'कौन' का विकास हुआ है। कउन' से 'कवन' बनने की संभावना बहुत कम है। क' पुन' से उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी जाती है—

सं० क पुन 7 प्रा० कोउण 7 हि० कउन कवन कौन।

किस—

इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'कस्य से इस प्रकार हुई है —

कस्य 7 प्रा० कस्स 7 अप० किस्स, कास, काहु 7 हिं 'काहु' कासु कम्मु, किस।

किम, किन्ह—

इसकी व्युत्पत्ति डा उदयनारायण तिवारी ने क्या (प्रा काएं) से मानी है।

मैं तो यह ठीक समझता हू —

संस्कृत केन' 7 प्रा केण, किणा तिणि 7 हिं० किन या किन्ह'।

क्या —

प्रश्न वाचक सर्वनाम में निर्जीव वस्तुओं के लिए 'क्या' शब्द का प्रयोग होता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'किम्' से हुई है। अपभ्रंश में इसके रूप काइँ तथा 'कइँ' मिलते हैं। इन्हीं से का' और 'क्या' हिन्दी शब्दों का विकास हुआ। बहुत संभव है कि किम्' का स्त्रीलिंग रूप 'का' ही हिन्दी में पहले का' रह कर फिर 'क्या' विकसित हो गया हो। इसका तिर्यक रूप 'किस' और बहुवचन किन' बन जाता है। व्युत्पत्ति कौन' के प्रसंग में देखी गयी है।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—

कोई' और 'कुछ शब्दों का प्रयोग अनिश्चयवाचक सर्वनाम में होता है। 'कोई संस्कृत के 'कोऽपि' से विकसित हुआ है।

कोई—

कोऽपि (कोपि) 7 प्रा० कोवि 7 हि० कोइ कोई।

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	कोई	कोई, कई
विकारी	किसी	किन्हीं

विकारी

बहुवचन में 'कोई' और 'कई' शब्द का प्रयोग होता है। 'कोई' की व्युत्पत्ति 'कोपि' से बताची गई है। यह एकवचन प्रयोग है जो बहुवचन में भी होता है। कभी-कभी बहुवचन में 'कोई' की आवृत्ति करवी जाती है जैसे कोई-कोई।

कई—

बहुवचन में 'कई' का प्रयोग भी होता है। इसकी व्युत्पत्ति मैं 'कोऽपि' से न मानकर 'केऽपि' से इस प्रकार मानता हूं—केऽपि (केपि) 7 के वि 7 केइ कई।

कभी-कभी 'कई' शब्द के साथ 'एक' शब्द का प्रयोग भी होता है जैसे— 'कई एक ऐसा भी कहते हैं।'

कुछ—

निर्जीव पदार्थ अथवा लघु जीव के लिए 'कुछ' शब्द का प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति सं 'किंचिद्' से हुई है। अशोक के शिला-लेखों में 'किछि' और किंछि' रूप मिलते हैं। कहीं-कहीं 'किछु' रूप का प्रयोग अब तक चला आता है। 'इ' के लोप तथा 'च' के स्थानान्तरण से 'कुछ' का विकास दीख पड़ता है।

निजवाचक सर्वनाम—

इसका प्रमुख रूप 'आप' है। कर्ता में 'आप' का ही प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'आत्मा' से हुई है। इसका विकास इस प्रकार हुआ है—

आत्मा 7 अत्ता, अप्पा 7 आप।

संबंध में 'अपना' शब्द प्रयुक्त होता है जो 'आत्मन' का विकसित रूप है—

आत्मन 7 प्रा० अप्पणो 7 आपणो अपनो अपना। हिन्दी में आपस

(का','के','की'के साथ)का प्रयोग भी होता है। इसका विकास 'इस', 'उस' जिस' किसके' समान कल्पित 'अ स्सम' से हुआ है जो बोल चाल की प्राकृत में आपस्स' रूप में प्रचलित रहा।

साकल्यवाचक सर्वनाम—सकल तथा सब।

'सब' संस्कृत के सर्व' से बना है। सर्व 7 सम्ब 7 सब। सकले' से हिन्दी में 'सगरे शब्द भी व्युत्पन्न होता है।

सार्वनामिक विशेषण—

यद्यपि पीछे बताये हुए सभी पुरुषवाचकेतर सर्वनाम किसी सीमा तक विशेषणात्मक हैं। हिन्दी में इन्होंने लिंग भेद त्याग दिया है जिससे इनमें विशेषण की विशेषता आगयी है। उदाहरण के लिए 'जो' शब्द ले सकते हैं जिसका प्रयोग पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों में एक ही प्रकार होता है। फिर भी हिन्दी के कुछ *वैशेषणिक सर्वनाम हैं जो परिमाण तथा गुण सूचित करते हैं।* साथ ही इनसे प्रश्न निश्चय या संबंध भी सूचित होता है जैसे-कितना कितनी कितने कैसा कैसी कैसे। हिन्दी में प्रमुख वैशेषणिक सर्वनाम निम्नलिखित हैं—

(१) परिमाणवाचक—इतना उतना जितना, कितना तथा तितना शब्दों के साथ इता जिता उता किता तथा तिता शब्दों का प्रयोग भी परिमाणवाचक के अर्थ में होता है।

(क) इतना तथा इता—इन शब्दों की व्युत्पत्ति म भा आ० 'एतिय' तथा 'एतम शब्द से मानी गयी है। इनके लिए प्रा० भा०आ भा शब्द'इयत्तक' की कल्पना की जाती है। 'एत्तम' से इता' बना है। इसी में 'ना' के योग से 'इतना' का जन्म हुआ है। बीम्स ने ना' को लघुवाचक प्रत्यय बताया है परन्तु यह अपना अर्थ खो चुका है। मारवाड़ी का इतरो' भी इसी इता' से 'रो' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है। ध्यान रखने की बात है कि 'रो' प्रत्यय भी लघु वाचक है।

(ख) उतना उता—इन रूपों की व्युत्पत्ति भी 'इतना' और इता' के समान म भा भा भा के 'उत्तिय' 'उत्तम' से हुई है। इन शब्दों में'उ'सर्वनाम-अ ग है। 'उतना में 'ना' प्रत्यय है।

(ग) जितना जित्ता—'इतना आदि के समान इन शब्दों की व्युत्पत्ति

भी म० भा० आ० के 'येत्तिअ' से हुई है। 'जेत्तिअ' से 'जित्ता' तथा इसमें 'ना' प्रत्यय लगकर 'जितना' बना है।

(घ) कितना कित्ता—इनकी व्युत्पत्ति के लिए भी प्रा० भा० आ० भा० के 'कियत्तक' शब्द की कल्पना की जाती है।

प्रा० भा० आ० कियत्तक > म० भा० आ० केत्तिअ > कित्ता कितना ('ना' लघुवाचक प्रत्यय)

(ङ) तितना तित्ता—इनकी व्युत्पत्ति भी सर्वनाम-अंग 'ति' से इतना' आदि के समान हुई है।

सूचना—हिन्दी में जित्ता 'कित्ता' आदि के प्राचीन रूप 'जेता', 'केता' आदि भी मिलते हैं।

(२) गुणवाचक विशेषण—ऐसा वैसा जैसा, कैसा, तैसा।

(क) ऐसा—सं एतादृश > प्रा एरिस > एविस एइस > हिन्दी अइस ऐसा।

(ख) वैसा — ओदृश > ओवृश उइस > वइस वैसा।

(ग) जैसे — यादृश > जादृस > जइस, जैसा।

(घ) कैसा — कीदृश > केरिस > कइस > कैसा।

(ङ) तैसा — तादृश > तारिस > तइस तैसा।

————

अध्याय ११

क्रिया

पृष्ठ भूमि

संस्कृत-क्रियाओं के इतने काल रूपों, उन रूपों में होने वाले जटिल ध्वनि परिवर्तनों और बनावट के विस्तारमय नियमों को देख कर आज का भाषा-वैयाकरण विस्मित हुए बिना नहीं रह सकता। क्रिया के प्राचीन और मध्यकालीन रूपों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सरलीकरण की प्रक्रिया ने साहित्य में (बोली में तो और भी पहले से) बहुत पहले से जन्म ले लिया था। संभवत: यह सोचना भी गलत न होगा कि संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थों में जितने क्रिया-रूप दिये हुए हैं बोलचाल में उतने प्रचलित नहीं थे। मैं समझता हूँ कि यह सोचना भी बहुत दूर का विचार न होगा कि क्रिया-रूपों का विस्तीर्ण विकास वास्तव में उस समय हुआ होगा जबकि जन भाषा साहित्यिक भाषा से बहुत दूर हट गयी होगी। जो भी हो, यह मानना असमीचीन न होगा कि जन-वाणी में सरलीकरण की प्रक्रिया ने ही संस्कृत-व्याकरण की आवश्यकता को जन्म दिया क्योंकि पालि और प्राकृत भाषाओं में क्रिया-रूपों का जटिल विस्तार बहुत कम हो गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उस संश्लिष्ट भाषा में, जिसको हम बहुधा 'सनामिकस' कहते हैं एक दो काल-रूपों को छोड़कर प्राय: सभी संश्लिष्ट हैं। क्रिया रूपों के पीछे हमें कुछ ऐसे मूलाधार मिलते हैं जहाँ से रूप विकसित हुए हैं उन्हीं को हम 'धातु' कहते हैं। क्रिया के वास्तविक रूप की खोज में हम धातु तक ही पहुँच सकते हैं। क्रिया-धातुएँ वास्तव में बोलचाल के शब्दों के वर्गीकरण में बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। यह ठीक है कि बोली में 'धातु' का कोई महत्व नहीं है क्योंकि बोलते समय बोलने वाले का ध्यान धातु की ओर न जाकर भावाभि व्यक्ति की ओर ही रहता है।

संस्कृत-धातुएँ प्राय: एकाक्षरीय हैं। उनके भी कई भेद हैं—(१) एक व्यंजन वाली स्वरान्त धातुएँ जैसे-'भू' या 'भी'। (२) एकस्वरवाली व्यंजनान्त धातुएँ जैसे-

'मद्' 'दृप्' 'उम्' (३) मध्यस्वरवाली दो व्यंजनवाली धातुएँ जैसे-'गम्' पद्' 'चक' (४) केवल एकस्वरवाली धातुएँ जैसे–'इ' और (५) एक व्यंजन के स्थान पर संयुक्त व्यंजनवाली धातुएँ जैसे–ग्रह पिञ्ज् स्था स्ना स्वा-इन वर्गों की धातुओं को प्रमुख धातु कहते हैं। इनके अलावा कुछ ऐसी धातुएँ भी हैं जो कभी आवृत्ति से बनती हैं जैसे-'जागर्' और कभी संज्ञाओं से बनती हैं जैसे–कुमार ।

प्रत्येक धातु कार्य के ६ स्तर या रूप प्रस्तुत करती है। इनको हम छै प्रकार के प्रयोग भी कह सकते हैं—

(१) परस्मैपद प्रयोग या कर्तरि प्रयोग, जैसे 'भव' ।
(२) आत्मनेपद प्रयोग या कर्मणि प्रयोग जैसे 'भूय, ।
(३) नपुंसक क्लीवार्थक या भाव प्रयोग जैसे– भव' ।
(४) प्रेरणार्थक प्रयोग जैसे 'भावय' ।
(५) इच्छार्थक प्रयोग जैसे–'बुभूष' ।
(६) अतिशयार्थक प्रयोग जैसे 'बोभूय' ।

प्रत्येक प्रयोग के ११ काल तथा प्रत्येक काल के भी पुरुष-रूप होने से एक धातु के ६×११×६=७ २ क्रिया रूप हो जाते हैं। इन अनेक क्रिया-रूपों में एक ही धातु-अक्षर (Syllable) का रूप बदल जाता है। इस परिवर्तन में स्वर और व्यंजन दोनों प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए 'कृ' (कर्) धातु का ले सकते हैं—

१ कृ—चकृवहे चकृमहे चकृम कृत्वा कृत आदि।
२ क्रि—क्रियासम क्रियात्, क्रियाद् क्रिये क्रियास आदि।
३ कर्—करोमि करावि करोति आदि।
४ कुर्—कुर्वे कुर्ये कुरुत आदि।
५ कार—चकार अकार्षम् कारयति आदि।
६ क—चक चक्रु चक्रे आदि।

इन उदाहरणों को देख कर संस्कृत व्याकरण की जटिलता का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु सरलता की दिशा में संस्कृत भाषा में ही प्रयत्न उठने लगा था। जिन विभिन्न रूपों की विवेचना व्याकरण-ग्रन्थों में की गयी उनका प्रयोग वास्तविक संस्कृत-साहित्य में बहुत कम या नगण्य नहीं मिलता। फिर भी जो कुछ मिलता है या मिल सकता है उसका उल्लेख करके हमें प्रमाण प्रस्तुत करते हैं क्योंकि आधुनिक हिन्दी की नियामक बहन भो नयी होने पर भी अपिरिहार्य पूर्वजों की संतान हा है। इसम उसका परिचय प्राप्त करने के लिए उसके पूर्वजों के रहन-सहन उसके इतिहास का ध्यान रखना ही होगा।

यह तो प्रथम कह ही दिया गया है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा संश्लिष्ट थी किन्तु भाज वह काफ़ी विश्लिष्ट हो चुकी है। संश्लिष्टता में ही प्राचीन भाषा की जटिलता भी निहित थी और जटिलता का अनुमान उसी युग में लगा लिया गया था अतएव संस्कृत में ही 'उतापे' ददर्श आदि पूर्णभूत-प्रयोगों के समानान्तर भूतकालिक कृदन्त प्रयुक्त होने लगे थे जो भाषा की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की सूचना देते हैं जैसे—

सं उद् (भीगना) से १ उदां चकार (भिगो दिया) २ उदां बभूव (भीग गया) ३ उदां भास (भीगा था)। इन प्रयोगों में 'उद्' धातु को भाव-रूप कर्म में परिणत करके उसके साथ 'भू', 'अस्' और 'कृ' आदि सहायक क्रियाएं लगायी गयी हैं। ये प्रयोग सरलता की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इसी प्रकार भविष्यत् के कुछ प्रयोग इसी प्रकार के मिलने लगे थे। मैक्समूलर ने संस्कृत-व्याकरण पृ० १७२ पर 'बोधितास्मि' आदि रूप भविष्यत्काल के प्रयोग बतलाये हैं। इनमें 'बुध्' धातु के कर्तृ-रूप 'बोधिता' के साथ 'अस्' के वर्तमान कालिक रूपों का सहायक के रूप में प्रयोग किया है। 'आगतोऽस्मि' में भी क्रिया के जटिलरूप से मुक्त होने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार 'तेन गतं' आदि प्रयोगों में भी यही प्रवृत्ति झलक रही है।

सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि भाषा में अधिकाधिक बढ़ती मिलती है क्योंकि वह प्राचीन लोक-भाषा की ही एक धारा के रूप को व्यक्त करती है और लोक भाषा के रूप में पालि संस्कृत-वैयाकरणों के जटिल अनुशासन को स्वीकार करके चल नहीं सकती थी। कहने के लिए तो पालि-वैयाकरण भी दस प्रकार के काल-रूप बतलाते हैं किन्तु इन सबके उदाहरण शायद ही मिलते हैं। संस्कृत के दस काल-रूपों में से चार (पहला, चौथा छठा और दसवां) आगम में बहुत मिलते हैं और वे पालि में एक हो गये हैं। संस्कृत का सातवां काल-रूप भी पालि में आकर अपनी विलक्षणता को त्याग देता है और संस्कृत के प्रथम गण रूप की भांति प्रारूपित होता है। अतएव पालि में संस्कृत की भांति 'गणद्धि'-जैसे प्रयोग न मिलकर 'ऽ भति' जैसे रूप ही मिलते हैं। इस प्रकार संस्कृत के पांच क्रिया-काल-रूप पालि में लगभग एक से हो जाते हैं किन्तु संस्कृत के पांचवे और नवें का पालि में बहुत साम्य हो गया है जैसे—

धातु	सं०	पालि
श्रु (पांचवां)	शृणोति	सुणाति
बन्ध (नवां)	बध्नाति	बंधति

पालि-क्रियाओं ने संस्कृत-क्रियाओं के द्विवचन से भी मुक्ति प्राप्त करली है और आत्मनेपद भी व्यावहारिक रूप से करीब-करीब परस्मैपद में ही विलीन हो गया है। यद्यपि कात्यायन ने आत्मनेपद के रूपों का भी उल्लेख किया है किन्तु उनके प्रयोगों की अनिवार्यता नहीं बतलायी वस्तु स्थिति यह थी कि परस्मैपद ने आत्मनेपद का आसन भी ग्रहण कर लिया था।

पालि ने क्रिया-धातु के सबन्ध म अपने क्रिया-रूपों म एक बात और अपनायी है कि वह अपने किसी क्रिया-रूप में धातु के मौलिक रूप का विघटन नहीं होने देती। 'पच्' धातु के उदाहरण से इस बात को भलीभाँति समझ सकते हैं। संस्कृत में भविष्यत्काल में इसका रूप 'पक्ष्यति' होता है जिसमें 'पच्' धातु का रूप विभिन्न हो जाता है किन्तु पाली ने 'पचिस्सति' रूप में धातु-रूप को सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार पालि ने भूतकाल में 'अपचि' रूप अपना कर 'पच्' को अक्षुण्ण रखा है जबकि संस्कृत ने 'अपाक्षीत' मे 'पच्' का नाम ही मिटा दिया है।

इसको यहां सामान्य व्यक्ति भाषा की विकार-दशा कह सकता है भाषाविद् विकास कहेगा और सरलीकरण की प्रवृत्ति का एक प्रौढ़ पद-प्रक्षेप कहेगा। पालि ने इस सम्बन्ध में किसी नियम की अभिव्यक्ति नहीं की क्योंकि कुछ क्रिया-रूपों में उसने संस्कृत का अनुकरण ही दिखलाया है, अन्यथा पालि में 'अकासि' 'करोति और 'कत्तु' आदि रूप दृष्टिगोचर न होते। इन रूपों में संस्कृत के क्रमशः 'अकार्षीन्' करोति' और 'कर्तुं' का अनुकरण स्पष्ट है।

सरलीकरण की 'प्रवृत्ति' उत्तरोत्तर बढ़ती गयी इसलिए जैन प्राकृत में इसे और भी अधिक मात्रा में देखा जा सकता है क्योंकि इसमें संस्कृत के लकार-रूप कुछ अपवादों को छोड़कर 'भू' धातु के रूपों के समान होते हैं। पाँचवें सातवें और नवें लकार में कुछ भेदो से आने वाले 'न्' को जैन प्राकृत की क्रियाएं अपनी धातु के अ ग के रूप में स्वीकार कर लेती हैं। वर्तमानकाल में जिन धातु-रूपों में 'आय्' आता है जैन प्राकृत में उसके स्थान पर 'ए' हो जाता है, जैसे—सं 'पालयति 7 जै॰ प्रा॰ 'पालेति' सं॰ तारयति ᅳ जै॰ प्रा 'तारेति' सं॰ पूरयति 7 जै॰ प्रा॰ पुरेति आदि रूप हो जाते हैं।

काल-रूपों के घटने से काल-द्योतक विशेषणों का प्रयोग बढ़ गया और संश्लेष की अवस्था से विश्लेष की अवस्था में आने के लिए भाषा का यह एक बड़ा भारी क़दम था। संस्कृत का 'तन्' प्रत्यय संस्कृत के दस लकारों का काम संभाल—
है। पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में इसके रूप संज्ञा के समान चलते

वास्तव में इसके अन्त में 'अन्त' आता है, किन्तु कुछ परसर्गों में अनुनासिक लुप्त हो जाता है, जैसे—

पु॰	स्त्री॰	नपु॰
पचन्	पचन्ती	पचत्
रुन्धन्	रुन्धन्ती	रुन्धत्

मगर जैन प्राकृत म अनुनासिक सुरक्षित रहा है जैसे—

	पु॰	स्त्री॰	नपु॰
सं॰—	भ्रमन्	भ्रमन्ती	भ्रमत्
जै॰ प्रा॰—	भमन्तो	भमंती	भमंतं

जैन प्राकृत की यह विशेषता सिन्धी-पंजाबी भाषाओं को समझने में तो मदद करेगी ही साथ ही हिन्दी क्रिया-रूपों को समझने और उनके उद्गम को जानने में भी बड़ी सहायक सिद्ध होगी।

संस्कृत-क्रिया के साथ 'तव्य' प्रत्यय बहुत ध्यान देने योग्य है। प्राकृत में 'तव्य' दो प्रकार से प्रयुक्त मिलता है, जैसे 'पत्तव्यं तथा पुच्छितव्यं' में। प्राकृत म इन दोनों ही प्रकारों से 'यव्व' हो जाता है। यह रूप जैन प्राकृत में 'तव्य' के स्थान पर एक नियम-सा बन गया है। इस 'यव्व' का हिन्दी में 'इव' हो जाता है जैसे—सं॰ यातव्यं 7 जै॰ प्रा॰ जायव्व 7 पु॰ हिन्दी 'जाइव' 'जाइवे'। हिन्दी की कुछ बोलियों में यह रूप आज भी प्रचलित है किन्तु खड़ी बोली साहित्य में इसका प्रयोग नहीं होता। शिक्षित लोग भी अपनी शिष्ट भाषा में 'जाइवे' 'खाइवे' आदि प्रयोग नहीं करते।

संस्कृत का 'तुमन्' (तु) प्रत्यय भी प्राकृतों में अपना महत्त्व खोने लगा था और 'तु के स्थान पर जैन-प्राकृत में 'इत' के रूप 'इयं' का प्रयोग होने लगा था जैसे-'इच्छामि मुञ्चापितु' (सं) के स्थान पर 'इच्छामि मु डावियं' (जै॰ प्रा॰) का प्रयोग होता था। भाषा में इसी से 'मु डावड' और फिर मु डावा' मु डावो हुआ किन्तु खड़ी बोली में इसके स्थान पर सामान्य क्रिया-रूप 'मुंडाना' ही प्रयुक्त होता है। हाँ कुछ बोलियों मे उक्त रूप अब भी चलते हैं। ब्रज गुजराती और राजस्थानी में इनके पृथक-पृथक प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राकृतों ने भविष्यत् काल में दो विशेषताएं दिखलायी—एक तो यह कि उसमें धातु-रूप को विगलित न होने दिया और दूसरी यह कि 'इस्सइ' से ही

काम लिया जैसे—पुच्छिस्सइ' 'पमिस्सइ' आदि। बाद में 'स्स' 'ह' में परिवर्तित हो गया और 'पुच्छिहिइ या पुच्छिहइ' जैसे रूप प्रयोग में आने लगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रिया के अनेक काल रूप जो संस्कृत में भूत काल में प्रयुक्त होते थे पालि तथा बाद की प्राकृतों में एक हो गये। इसके अतिरिक्त नाटकों की प्राकृत में भूतकाल की क्रिया के सभी पुरुषों में धातु के साथ 'इअ' लगता था। संभवतः यह संस्कृत के पूर्णभूतकालिक विशेषण का चिह्न है। इस प्रयोग की बहुलता कर्मकारक की बनावट के कारण ही दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत ही में बाद में 'अहं अपश्यम्' के स्थान पर 'मया दृष्टम्'—जैसे प्रयोगों का प्रचलन बढ़ गया। हिन्दी के 'देखा' 'सुना' आदि क्रिया-रूपों में इन प्रयोगों के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता।

यद्यपि संस्कृत नाटकों में महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतें ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुई हैं, किन्तु मागधी और उसकी उपबोलियों का महत्त्व भी अविस्मरणीय है। इन सबसे अधिक अपभ्रंश का महत्त्व है। जब शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें 'क्लासिक' बन गयी थीं और उनके मुहावरे रूढ़ हो गये थे, तो एक बोली ऐसी भी थी जो उन प्रयोगों से भी दूर हट गयी थी। स्थान भेद से इस बोली के कम से कम ३ भेद थे। हिन्दी के शब्द-रूपों को खोजने के लिए अपभ्रंश के शब्द रूपों को सामने रखना होगा।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राकृतों में ही वर्तमान आज्ञा और भविष्यत् क्रिया-रूपों को छोड़कर क्रियाओं का शेष कार्य कृदन्तों से होने लगा था। नीचे की 'टेबिल' से वर्तमान आज्ञा और भविष्यत् काल के क्रिया-रूपों को प्राकृत में देख सकते हैं—

वर्तमान में—

	उ० पु०	म० पु०	अन्य पु०
ए० व०	पुच्छामि	पुच्छसि	पुच्छइ
ब० व०	पुच्छाम	पुच्छइ	पुच्छंति

आज्ञा में—

ए० व०	करडं	करहि	×
ब० व०	करहिं	करहु	×
	करे	करउ	×

करि	कह	×
कर	×	×
कर	×	×

भविष्यत्काल के रूपों में 'सुमिरस्सदि'—जैसे प्रयोग भी मिलते हैं किन्तु प्राय वह रूप ही मिलता है जिसमें 'स्स' 'ह' में परिवर्तित मिलता है जैसे—

	उ० पु०	म० पु०	प्र० पु०
ए व	करिहिमि	करिहिसि	करिहिद

कृदन्त तो अन्य प्राकृतों के समान ही हैं किन्तु 'तव्व' का 'दव्व' हो जाता है जैसे करदव्वं' तथा 'करिव्वं' (सं कर्तव्य)।

'त्वप्' और 'त्वा' में 'ल्यप्' का प्रयोग बहुलता से मिलता है और पुरानी हिन्दी में भी यही प्रयोग चला आता है जैसे-आइय (स आगत्य) जाइय (सं० यात्वा)। 'इय' प्रत्यय सामान्यतया शौरसेनी में बहुप्रचलित है।

पुरानी हिन्दी में 'तव्य' और 'तु' के रूप लगभग एकसे हो जाते हैं अपभ्रंश में 'तव्य' का रूप 'एवहु' हो जाता है जैसे—'सहेवहु' यद्यपि 'सहेवहु' में 'हु' 'तु' से बहुत मिलता है। चन्दबरदाई के 'करसहु' तथा 'अग्गसहु' में यह समता बहुत निकटवर्तिनी हो जाती है।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश उदाहरणों में सभी भूतकालों के लिए भूतकालिक विशेषण का प्रयोग हुआ है। यह रूप 'इअ' लगा कर बनाया जाता है। 'इअ' का प्रयोग सब पुरुषों में एकवचन में होता है जैसे—

आसिउ ∠ आसितं (स आसं) कहिउ ∠ सं कथितं महिउ ∠ सं मथितं चलिउ ∠ सं चलितं अप्पिउ ∠ सं अर्पितं।

इसके बहुवचन के अन्त में 'आ' अथवा 'या' आता है जैसे—

गया ∠ सं गता
मारिया ∠ सं मारिता
चलिया ∠ सं चलिता

पेसिया < सं. प्रेषिता

उट्ठिया < सं. उत्थिता

कहीं-कहीं एकवचनान्त 'उ' के स्थान पर 'य' का प्रयोग भी मिलता है जैसे—
भणिय < सं. भणितं ।

इस नवपरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत पालि और प्राकृतें सामूहिक रूप से विचार करने पर, पूर्वाधुनिककालीन भाषाएं हैं और इनकी बनावट में संघटनात्मक एकता या समता मिलती है यद्यपि संश्लेष-दशा का स्तर बदल जाता है। विश्लेष की कुछ अवस्थाएँ संस्कृत में ही काल-रूपों में दृष्टिगोचर होने लगती है। पालि में संश्लिष्ट काल-रूप कम एवं अधिक सरल हैं और प्राकृतों में तो काल रूप बहुत ही कम हो जाते हैं तथा क्रिया-रूपों में कृदन्त प्रयोगों की वृद्धि हो जाती है। धातु, संस्कृत की भाँति अनेक काल-रूपों में अपना स्वरूप को बदलती नहीं है। धातु का यह प्रयत्न पालि में ही दृष्टिगोचर होने लगता है और भाषा की धारा जैसे-जैसे नीचे उतरती है यह प्रयत्न अधिकाधिक व्यापक होता जाता है।

प्राकृतों के सर्वेक्षण से यह भी विदित होता कि 'आत्मनेपद' और प्रेरणार्थक रूपों का विसर्जन हो गया था। साथ ही धातु के इच्छार्थक एवं अतिशयार्थक रूप भी अपना महत्व छोड़कर उपेक्षित हो गये थे।

हिन्दी में जिन धातुओं का प्रयोग होता है वे अनेक काल-रूपों में प्रायः अपरिवर्तित रहती हैं किन्तु इनके कुछ अपवाद भी मिलते हैं, जिनमें वे परोक्षभूतकालिक विशेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो सीधे प्राकृत रूपों से व्युत्पन्न हुए हैं और जिन्हें प्राचीन तद्भव की संज्ञा दी जा सकती है। इन अपवादों को छोड़कर धातु-रूप काल-रूपों में अपरिवर्तित ही रहते हैं। हिन्दी में इन रूपों के बनाने के लिए धातु में कुछ प्रत्यय लगा लिये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'सुन' और 'कर' धातुओं को ले सकते हैं—

सुन (ना) सुनता सुना सुनू सुने सुनो सुनेगा सुनकर ।

कर (ना) करता करा (किया) करू करे, करो करेगा करके ।

सिद्ध धातुएं प्रायः एकाक्षरीय हैं, किन्तु साधित धातुएं अधिकांशतः अनेकाक्षरीय हैं जिनको हम तीन वर्गों में रख सकते हैं—

ख गौणसंज्ञ साधित धातुएं, जैसे—उतर निकल पसर, सकोच आदि ।
ग सानुकृत साधित धातुएं जैसे—झमझम टनटन, थरथर बड़बड़ आदि ।
घ प्रत्यय-साधित धातुएं—जुट-क, मट-क चट-क पिल-अ (पलाए), चम-क चह-क आदि ।

हिन्दी-क्रियाओं के भेद—

हिन्दी में मूलत दो प्रकार की क्रियाए हैं—सकर्मक और अकर्मक । इन दोनों के धातु पदों से प्रेरणार्थक धातुपद भी बन जाते हैं किन्तु हिन्दी प्रेरणार्थक क्रियाओं ने संस्कृत प्रेरणार्थक क्रियाओं की निर्माण पद्धति से अपना सम्बन्ध अलग कर लिया है । संबंध के कुछ सूत्र जोड़ने पर भी संस्कृत की प्रेरणार्थक क्रियाए हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं में मिल गई हैं अतएव प्राचीन प्रेरणार्थक ने आधुनिक हिन्दी-प्रेरणार्थक से कोई विशेष संबंध नहीं दिखलाया है । हिन्दी में प्रेरणार्थक बनाने की पद्धति बिलकुल भिन्न है और वह हिन्दी की अपनी पद्धति है । इसलिए हिन्दी धातुओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) सिद्ध धातुए तथा (२) साधित धातुए ।

१ सिद्ध धातुए (Primary roots) वे धातुए हैं जो अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं जैसे—कर (ना) कांप (ना) गूंज (ना) पिस (ना) इत्यादि ।

२ साधित धातुए (Secondary roots) वे धातुए हैं जो मूल रूप में किसी प्रत्यय के योग से बनी हैं यथा कराना करवाना (कर+आ —आ प्रेरणार्थक प्रत्यय) बैठाना (बैठ+आ) मिलाना (मिल+आ) इत्यादि ।

इन दोनों वर्गों का विभाजन डा० उदयनारायण तिवारी ने इस प्रकार किया है—

१ सिद्ध धातुएं—

(क) संस्कृत से आयी हुई तद्भव सिद्ध धातुएं –
 (i) साधारण धातुए (ii) उपसर्गयुक्त धातुएं ।
(ख) संस्कृत णिजन्त से आयी हुई सिद्ध धातुए ।
(ग) संस्कृत से पुन व्यवहार में ली गयीं तत्सम एवं अर्द्ध तत्सम सिद्ध धातुए
(घ) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुए ।

२ साधित धातुए —

(क) आकारान्तणिजन्त (प्रेरणार्थक)
(ख) नाम धातु— (i) तद्भव—(अ) प्राचीन—उत्तराधिकार रूप में प्राप्त ।

(आ) नवीन—पुरानी तथा आधुनिक हिन्दी में बनी हुई ।

(ii) तत्सम

(iii) विदेशी

(ग) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्ययमुक्त (तद्भव) धातुएं ।

(घ) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार-ध्वनिज धातुएं ।

(ङ) संदिग्ध व्युत्पत्ति की धातुएं ।

१ सिद्ध धातुएं —

(क) प्रा० भा० आ० भा० से आयी हुई तद्भव-सिद्ध धातुएं —इनमें कुछ धातुएं ऐसी भी हैं जो पहले-पहल म० भा० आ० भाषा-काल में दिखायी देते बाकी धातुओं का तद्भव रूप है। हार्नली के अनुसार हिन्दी में तद्भव-सिद्ध-धातुओं की संख्या ११३ है। इनमें कुछ ऐसी भी हैं जिनमें संस्कृत गणों के विकरण वर्तमान हैं।

(१) साधारण धातुएं —

यहां सब साधारण धातुओं को प्रस्तुत करना तो संभव नहीं है, केवल कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

√कर् (ना) ∠ सं० √कृ √काँप (ना) ∠ सं० कम्प् √काट (ना) ∠ प्रा० √कट्ट ∠ सं० √कृत् √कूट (ना) ∠ प्रा० √कुट्ट √कूद (ना) ∠ प्रा कुद्द ∠ सं० √कूर्द √कह (ना) ∠ प्रा० √कह (कहेइ) ∠ सं० √कथ्—अय् (विकरण) √खा (ना) ∠ प्रा० √खाअ ∠ सं० √खाद् √गिन् (ना) ∠ सं० √गणय √गल (ना) ∠ प्रा० √गल √सं० √गल √गूँथ (ना) ∠ प्रा० √गुंथ ∠ सं० √ग्रन्थ् √गूँज (ना) ∠ सं० गुञ्ज √घिस (ना) ∠ सं० √घृष् √घू (ना) ∠ प्रा० √घुम ∠ सं० (सम्भवतः च्युत से)—इसका संबंध संस्कृत √भ्रम् ∠ प्रा० √भम से भी संभव है √चुन (ना) ∠ प्रा चिण चुण ∠ सं० √चि √चढ़ (ना) ∠ प्रा √चड्ढ (हेमचन्द्र ४–२१) चर (ना) ∠ प्रा० √चर ∠ सं चर चख (ना) ∠ प्रा० √चक्ख ∠ सं० चक्ष (संस्कृत 'चक्षणम्' शब्द मिलता है। जिसका अर्थ है प्यास बुझाने के लिए स्वादिष्ट वस्तु खाना) √चूक (ना) ∠ प्रा० चुक्क (हे० च० ४-१७७) √छू (ना) ∠ प्रा० √छुव ∠ सं० √छुप् छेद (ना) ∠ सं छिद् जाग (ना) ∠ प्रा० √जग्ग ∠ सं जागृ जान (ना) ∠ प्रा० √जाण ∠ सं √ज्ञा √जीत (ना) ∠ सं० भू० का वि० 'जित' जी (ना) प्रा० √जीव ∠ सं जीव् √जोत (ना) ∠ प्रा० √जोत्त ∠ सं० योक्त्र (योक्त्रयति) टूट (ना) ∠ प्रा० तुट्ट ∠ सं √त्रुट् टाँक (ना) ∠ प्रा० टङ्क

∠ सं टङ्क ('टङ्क' मुद्रा से निर्मित) √डूब (मा) ∠ प्रा० √बुड्ड (बूड् – वर्ण विपर्यय) बोलियों में कहीं 'बूड़ना' प्रयोग भी मिलता है) डँस (मा) — √ डस ∠मप० √डँस डस ∠सं० √दश् + दर (मा) ∠प्रा० डर (हे० च० ४।१९८) √डीक डक (मा) ∠ प्रा० डक्क (हे० चं० ४२१) √डूब (मा) ∠ मप० डुब √ताक (मा) ∠ सं० √ तर्क (समवत: यह नाम-धातु है) √थक (मा) ∠ सं० √स्थग् (संस्कृत में 'स्थगित' शब्द मिलता है)। √नहा (ना) ∠ प्रा० नहा ∠ स० √स्ना (सं० स्नापित पा० नहापित) पूछ (मा) ∠ प्रा० ∠ पुच्छ ∠ सं० √पृच्छ् √पढ़ (मा) ∠ प्रा० पढ़ ∠ सं० √पठ फूल (मा) ∠ प्रा० फुल्ल (हे० चं 'फुल्लइ'—४।१८७) √बढ़ (मा) ∠ प्रा० बड्ढ ∠ स० √वर्ध, √बाँट ∠ प्रा० √बँट सं० √वष्ट √बोल (मा) ∠ प्रा० √बोल्ल (हे० चं० ४२) ∠ सं० √ब्रू (?) √बो (मा) ∠प्रा०√वप ∠ स० √वप् √भर (मा) ∠ प्रा० √भर ∠ सं० √भृ √भूल (मा) ∠ प्रा० भुल्ल (भुल्लइ—हे० चं० ४।१७७), √मीज (मा) ∠ प्रा० √मज्ज ∠ स० मृज् √मल (मा) ∠ प्रा० √मल ∠ सं० मद् √रख (मा) ∠ प्रा० √रक्ख ∠ सं० √रक्ष √ले (मा) ∠ प्रा० √ले ∠ सं० √नी (?) √लूट (मा) ∠ प्रा √लुंठ ∠ सं० √लुण्ठ √सुन (मा) ∠ प्रा० √सुण सिण ∠ सं० √श्रु √सह (मा) ∠प्रा० √सह ∠सं० सह √हट (मा) ∠मप० √हट्ट भट्ट ∠सं० भ्रष्ट ('भृश् का विशेषण) हार (मा) ∠ प्रा० हार ∠ सं० हार् (हृ णिजन्त)

२ उपसर्गयुक्त धातुएं —

उपज (मा) ∠प्रा० उप्पज्ज ∠सं० उत् + पद् (सं० उत्पद्यते ∠प्रा० उप्पज्जइ) ∠उजड़ (मा) ∠प्रा० उज्जड ∠सं० उत् + जट् उग (मा) ∠प्रा० उग्ग ∠सं० उद् + √यम् उतर (मा) प्रा० उत्तर ∠सं० उत् + √तृ निरख (मा) ∠प्रा० निरक्ख ∠सं० निर् + √ईक्ष परख (मा) ∠प्रा० परक्ख ∠सं० परि + √ईक्ष पैख (मा) ∠प्रा० पेक्ख ∠सं० प्र + √ईक्ष निहार (मा) ∠प्रा० निहाल ∠सं० नि + √भाल् (निभालयति) ∠पैठ (मा) ∠प्रा० पइट्ठ ∠सं० प्रविष्ट (भू० का० कृदन्त) पोंछ (मा) ∠सं० प्र + √उञ्छ् पसर (मा) ∠सं० प्र + √सृ पहर (मा) ∠प्रा पहिर (पहिरइ) ∠सं० परि + √धा पसार (मा) ∠प्रा० पक्खाल ∠ स० प्र० + √क्षाल् बैठ (मा) ∠प्रा √बिस्स ∠सं० वि + √क्रु सँभाल-सम्हार (मा) ∠प्रा० संभाल ∠सं सं + √भाल (सम्भालयति) सौंप (मा) ∠प्रा० समप्प ∠सं० सं + अर्प

हिन्दी की तद्भवसिद्ध धातुओं का रूप बहुत बदल गया है। प्रा० भा० आ० भाषा से म० भा० आ० भाषाओं में आते आते ही धातुओं को अनेक ध्वन्यात्मक तथा ...क परिवर्तनों का सामना करना पड़ा था। अब सब जैसी बहुत थोड़ी

धातुएं ही ऐसी होंगी जो इन परिवर्तनों से मुक्त होंगी। प्रा० मा० प्रा० भाषाओं में आते आते तो परिवर्तनों का प्रभाव और भी बढ़ गया। इसी से 'समप्पइ' सौंपे' रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। यह दशा केवल सौंपे' की ही नहीं है अपितु इसके अनेक भाई-बन्धुओं की भी है। प्राकृत-काल में प्राचीन भा० आर्य भाषा की क्रिया के गण भेद को जिस क्रान्ति का सामना करना पड़ा था उसका परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश-काल तक सभी धातुएं प्रथम गण (भ्वादि गण) के समान हो गयी थी —इस क्रान्ति को बड़े-बड़े धुरन्धर संस्कृत-पण्डित भी काबू में न कर सके क्योंकि यह लोक-क्रान्ति थी और बड़ी दृढ़ता से धीरे धीरे हुई थी अतएव बड़े बड़े वैयाकरण भी इसके सामने झुककर इसे स्वीकार करने के लिए विवश हो गये। क्रिया के गणों पर आघात होने से उनके विकरण भी समाप्त हो गये फिर भी संस्कृत की अनेक धातुओं के विकरणयुक्त रूप धातु-रूप में गृहीत होकर हिन्दी में भी चले आये। नीचे के कुछ उदाहरणों में ऐसी धातुएं देख सकते हैं—

(१) य—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे नाचना जूझना बूझना समझना।

नाच (ना) = सं० नृत्यति (नृत्) ∠ प्रा० नच्चइ ∠ हिं० नाचे (धातु 'नाच') अर्थात् त्य = च्च = च।

जूझ (ना) = सं० युध्यति (युध्) ∠ प्रा० जुज्झइ ∠ हिं० जूझे (धातु 'जूझ') अर्थात् ध्य = ज्झ = झ।

बूझ (ना) = सं० बुध्यते (बुध्) ∠ प्रा० बुज्झइ ∠ हिं० बूझे (धातु 'बूझ') अर्थात् ध्य = ज्झ = झ।

समझ (ना) = सं० संबुध्यते (सं० + बुध्) ∠ प्रा० सबुज्झइ ∠ हि समझ (धातु समझ) अर्थात् ध्य = ज्झ = झ।

(२) नो—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे—चुन (ना) सुन (ना) धुन (ना)

चुन (ना) = सं० चिनोति (चि) 7 प्रा० चिणइ, चुणइ 7 हिं० चुने (चुन)

सुन (ना) = सं० शृणोति (श्रु) 7 प्रा० सुणइ 7 हि सुने (सुन)

धुन (ना) = सं० धुनोति 7 प्रा० धुणइ 7 हिं० धुने (धुन)

(३) ना—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे—जान (ना)

जान (ना) = सं० जानाति (ज्ञा) 7 प्रा जाणइ 7 हिं० जाने (जान)

(४) 'न्' का मध्यागम—जैसे बाँध (ना)

बाँध (ना) = सं० बध्नाति ब(न्ध्) 7 प्रा० बन्धइ 7 हिं० बाँधे (बाँध)

(५) च्छ—विकरणयुक्त धातु जैसे—पूछ (ना)

पूछ (ना) = सं पृच्छति (प्रछ्) 7 प्रा० पुच्छइ 7 हिं० पूछे (पूछ)

∠ सं० टङ्क ('टङ्क' मुद्रा से निर्मित) √डूब (मा) ∠ प्रा० √बुड्ड (बुड् - वर्ण विपर्यय) बोलियों में कहीं 'बूड़ना' प्रयोग भी मिलता है), डँस (मा) — √ डस ∠अप० √डँस डस ∠सं० √दश् + दर (मा) ∠प्रा० डर (हे० श० ४१९८, √ढौक ढक (मा) ∠ प्रा० ढक्क (हे० श० ४२१) √ढूढ (मा) ∠ अप० ढुढ √ताक (मा) ∠ सं० √ तर्क (सम्भवत यह नाम-धातु है) √थक (मा) ∠ सं० √स्तम् (संस्कृत में 'स्तमित' शब्द मिलता है) । √नहा (मा) ∠ प्रा० नहा ∠ सं० √स्ना (सं० स्नापित पा० नहापित) पूछ (मा) ∠ प्रा० ∠ पुच्छ ∠ सं० √पृच्छ् √पढ़ (मा) ∠ प्रा० पढ ∠ सं० √पठ फूल (मा) ∠ प्रा० फुल्ल (हे० श० 'फुल्लइ'—४१८७) √बढ़ (मा) ∠ प्रा० वड्ढ ∠ सं० √वर्ध, √बाँट ∠ प्रा० √वँट सं० √वण्ट √बोल (मा) ∠ प्रा० √बोल्ल (हे० श० ४२) ∠ सं० √ब्रू (?), √बो (मा)∠प्रा०√वप ∠ सं० √वप् √मर (मा) ∠ प्रा० √मर ∠ सं० √मृ √मूस (मा) ∠ प्रा मुस्स (मुस्सइ—हे श० ४१७७) √माँज (मा) ∠ प्रा० √मज्ज ∠ सं० मृज् √मस (मा) ∠ प्रा० √मस ∠ सं० मद् √रख (मा) ∠ प्रा० √रक्ख ∠ सं० √रक्ष √ले (मा) ∠ प्रा० √ले ∠ सं० √ली (?) √लूट (मा) ∠ प्रा० √ लुंठ ∠ सं० √लुण्ठ √सुन (मा) ∠ प्रा० √सुण शिणु ∠ सं० √श्रु √सह (मा)∠प्रा० √सह∠सं० सह √हट (मा) ∠अप० √हट्ट मट्ट∠स० भ्रष्ट ('भ्रश् का विशेषण) हार (मा) ∠ प्रा० हार ∠ सं० हार् (हृ-णिजन्त)

२ उपसर्गयुक्त धातुएँ —

उपज (मा) ∠प्रा० उप्पज्ज∠सं० उत्+ पद् (सं० उत्पद्यते∠प्रा० उप्पज्जइ) ∠उखड़ (मा)∠प्रा० उक्खड∠सं० उत्+ खद् उग (मा)∠प्रा० उग्ग∠सं०उत्+ √गम् उतर (मा)प्रा० उत्तर∠सं०उत् + √तृ निरख(मा) ∠प्रा० निरक्ख ∠सं०निर्+√ईक्ष परख (मा) ∠प्रा परक्ख ∠सं परि+√ईक्ष पेख (मा) ∠प्रा० पेक्ख∠स प्र+ √ईक्ष निहार (मा) ∠प्रा०निहाल ∠सं० नि+√भाल् (निभालयति) ∠पैठ (मा)∠प्रा० पइट्ठ ∠सं प्रविष्ट (पू०का०कृदन्त) पौढ़ (मा) ∠सं०प्र+ √लम्ब् पसर (मा) ∠सं०प्र +√सृ पहर (मा)∠प्रा० पहिर (पहिरइ)∠सं० परि+ √धा पखार (मा) ∠प्रा पक्खाल ∠ सं प्र + √क्षाल् बेच (मा)∠प्रा √विक्क ∠स०वि +√क्री सँभाल-सम्हार (मा)∠प्रा० संभाल∠सं०सं+√भाल (सम्भालयति) सौंप (मा)∠प्रा समप्प∠सं सं+अर्प

हिन्दी की तद्भवसिद्ध धातुओं का रूप बहुत बदल गया है। प्रा०भा० आ० भाषा से म भा०आ० भाषाओं में आते-आते ही धातुओं को अनेक ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा था। अस्, भव जैसी बहुत थोड़ी

धातुएं ही ऐसी होंगी जो इन परिवर्तनों से मुक्त होंगी। प्रा० भा० आ० भाषाओं में आते-आते तो परिवर्तनों का प्रभाव और भी बढ़ गया। इसी से 'समप्पइ' सौंपे' रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। यह दशा केवल 'सौंपे' की ही नहीं है अपितु इसके अनेक भाई-बन्धुओं की भी है। प्राकृत-काल में प्राचीन भा० आर्य भाषा की क्रिया के गण भेद को जिस भ्रान्ति का सामना करना पड़ा था उसका परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश-काल तक सभी धातुएँ प्रथम गण (भ्वादि गण) के समान हो गयी थी —इस भ्रान्ति को बड़े-बड़े धुरन्धर संस्कृत-पण्डित भी काबू में न कर सके क्योंकि यह लोक-भ्रान्ति थी और बड़ी दृढ़ता से धीरे-धीरे हुई थी अतएव बड़े-बड़े वयाकरण भी इसके सामने झुककर इसे स्वीकार करने के लिए विवश हो गये। क्रिया के गणों पर आघात होने से उनके विकरण भी समाप्त हो गये फिर भी संस्कृत की अनेक धातुओं के विकरणयुक्त रूप धातु-रूप में गृहीत होकर हिन्दी में भी चले आये। नीचे के कुछ उदाहरणों में ऐसी धातुएं देख सकते हैं—

(१) य—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे नाचना जूझना बूझना समझना।

नाच (ना) =सं० नृत्यति (नृत्) ∠प्रा० नच्चइ ∠ हि० नाचे (धातु नाच') अर्थात् त्य=च्च=च।

जूझ (ना)=सं० युध्यति (युध्) ∠प्रा० जुज्झइ ∠ हि जूझे (धातु 'जूझ) अर्थात् ध्य=ज्झ=झ।

बूझ (ना)=सं० बुध्यते (बुध्) ∠प्रा० बुज्झइ ∠ हि० बूझे (धातु 'बूझ') अर्थात् ध्य=ज्झ=झ।

समझ (ना)=सं० संबुध्यते (सं०+ बुध) ∠प्रा० सबुज्झइ ∠ हि० समझ (धातु समझ) अर्थात् ध्य=ज्झ=झ।

(२) नो—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे—चुन (ना) सुन(ना) धुन (ना)

चुन (ना)=सं०चिनोति (चि) 7 प्रा० चिणइ, चुणइ 7 हि० चुने (चुन)

सुन (ना)=सं०शृणोति (श्रु) 7 प्रा० सुणइ 7 हि० सुने (सुन)

धुन (ना)=सं० धुनोति 7 प्रा० धुणइ 7 हि० धुने (धुन)

(३) ना—विकरणयुक्त धातुएं—जैसे-जान (ना)

जान (ना)=सं० जानाति (ज्ञा) 7 प्रा जाणइ 7 हि० जाने (जान)

(४) 'न्' का मध्यागम—जैसे बाँध (ना)

बाँध (ना)=सं० बध्नाति ब(न्ध्) 7 प्रा० बन्धइ 7 हि० बाँधे (बाँध)

(५) छ—विकरणयुक्त धातु जैसे-पूछ (ना)

पूछ (ना)=सं० पृच्छति (प्रछ्) 7 प्रा० पुच्छइ 7 हि० पूछे (पूछ)

प्राकृत की धातुओं में ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन के अतिरिक्त उपमा और वाच्य सम्बन्धी परिवर्तन भी हुए हैं। प्राकृत की कर्तृनिष्ठ धातुओं की व्युत्पत्ति संस्कृत के कर्तृवाच्य के रूपों से न होकर कर्मवाच्य के रूपों से हुई है। इनमें से कई भविष्यत् काल के रूप हैं। संस्कृत के णिजन्त से भी हिन्दी में अनेक साधारण सिद्ध धातुएँ आ गयी हैं किन्तु णिजन्त या प्रेरणार्थक रूप में नहीं प्रायः सकर्मक धातु रूप में ही। ध्यान रखने की बात है कि संस्कृत कर्मवाच्य के रूपों ने कर्तृवाच्य में आकर अपने अर्थ को भी कुछ परिवर्तित कर दिया। जैसे—

(१) संस्कृत आत्मनेपद से हिन्दी अकर्मक क्रिया—सं० अभ्यज्यते (नहलाया या लेपन किया जाता है) 7 प्रा० अब्भंगइ (अपने को लेपता है) 7 हि० भीम (बा० भीग बोलियों में 'भीज)। सं० तप्यते (तपाया जाता है) 7 प्रा० तप्पइ (अपने को तपाता है) 7 हि० तपे (तपता है गरम होता है धातु तप)।

(२) भविष्यत् काल से बनी हुई धातु—सं० द्रक्ष्यति 7 प्रा० दिक्खइ 7 हि० देखे (देख)।

(ख) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुए —

यह कहा जा चुका है कि संस्कृत की कुछ णिजन्त धातुएं हिन्दी में सिद्ध धातुओं के रूप में चली आयी हैं। इनमें से प्रेरणा का अर्थ लुप्त हो गया है। इनका प्रयोग हिन्दी में अन्य सकर्मक क्रियाओं की भाँति ही होता है। इनके संस्कृत के सिद्ध रूपों में प्रेरणार्थक बनाने के लिए पुनः 'आ' या 'वा' लगाना पड़ता है जैसे पठ् (सं०) पाठयति (पढ़ाता है—णिजन्त)। 'पढ़' धातु हिन्दी में सकर्मकवत् प्रयुक्त होती है। इसका प्रेरणार्थक रूप 'पढ़वा' (ना) होता है। इसी प्रकार हिन्दी में मार (ना) धातु सकर्मक ही है। इसका प्रेरणार्थक रूप मरवा' (ना) बनता है। हार(ना) पसार (ना),तपा (ना) गढ़ा (ना) बढ़ा (ना) तार(ना) आदि हिन्दी धातुए हमें संस्कृत के णिजन्त रूपों से प्राप्त हुई हैं, किन्तु उनमें केवल सकर्मक धातु-रूप ही शेष पड़ता है। इनमें 'आ' या 'वा' जोड़कर प्रेरणार्थक रूप बनाये जाते हैं।

(ग) (१) तत्सम धातुओं का पुनः व्यवहार—

रच् चल् गम् युद्ध सर् वह् बह आदि अनेक तत्सम धातुए हिन्दी में प्रयुक्त होती हैं किन्तु उनके काल-रूप हिन्दी में अपने ढंग से बनते हैं।

(२) अर्द्धतत्सम धातुए —

अरज (अर्ज) गरज (गर्ज) तज (त्यज्) बरज (वृज्) सरप (सर्प) आदि कुछ अर्द्धतत्सम धातुओं का प्रयोग भी हिन्दी में आज-दिन होता है। ये धातुए सीधी संस्कृत से ली गयी हैं। कुछ तो लिखने की असावधानी से कुछ बोलने की असावधानी से और किसी हद तक अज्ञान के कारण संस्कृत की तत्सम धातुए अर्द्धतत्सम रूप में गृहीत हो गयी हैं। अर्द्धतत्सम धातुओं के बहुत थोड़े उदाहरण

ऐसे मिलमें जिनका हिन्दी में माने का मार्ग म० भा० आ० भाषाओं में होकर हो। संस्कृत और प्राकृत में वर्तमान काल के रूपों की हिन्दी रूपों से तुलना करने पर यह बात समझ में आ सकती है—

अरज (ना)=सं अर्जति 7 अज्जइ हि आधुनिक प्रयोग अरजे'(अरज)।

गरज (ना)=सं गर्जति 7 प्रा गज्जइ ᐨ हि गाजे आधुनिक प्रयोग 'गरज' (गरज)।

तज (ना)=सं त्यजति 7 प्रा तजइ 7 हि तजे (तज)।

बरज (ना)=सं वर्जति 7 प्रा बरजइ > हि आधुनिक प्रयोग'बरजे'(बरज)।

अरप (ना)= सं अर्पयति 7 प्रा अप्पेइ, अपभ्रंश अप्पइ ? आधुनिक प्रयोग—'अरपै' (अरप)।

(घ) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं —

हिन्दी में ऐसी अनेक धातुओं का प्रयोग होता है जिनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है जैसे टोह (ना) टोक (ना) ठोक (ना) ठेल (ना) झपट (ना) पटक (ना) बटोर (ना) भड़ (ना) सान (ना) पूँछ (ना) आदि। ये शब्द वस्तुतः जन भाषा के हैं जो शिक्षित समाज में भी स्वीकृत हो गये हैं इसलिए इनके स्रोतों का पता लगाना दुष्कर है जब तक कि इनके प्रयोगों का कोई लिखित रूप प्राचीन काल में न मिल जावे। इनकी व्युत्पत्ति का केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

२ साधित धातुएं—

प्रेरणार्थक धातुएं-हिन्दी की साधित धातुओं के अनेक भेद हैं। उनमें से प्रमुख भेद णिजन्त प्रेरणार्थक धातुओं का है। यह कहा जा चुका है कि संस्कृत की णिजन्तधातुएं प्राकृत काल में प्रेरणा का अर्थ खोने लगी थीं और हिन्दी तक आते आते इनका व्यवहार सकर्मक धातुओं के रूप में होने लग गया। उदाहरण के लिए 'मार्'(ना)धातु को ले सकते हैं जो प्रेरणा के अर्थ को छोड़ कर सकमक धातु के रूप में ही व्यवहृत होने लगी। संस्कृत की 'णिजन्त' प्रक्रिया के विलुप्त होने पर हिन्दी ने अपनी निजी प्रेरणार्थक पद्धति अपनायी जिसका विवरण इस प्रकार है—

(i) 'वा' के योग से—मूल धातु में 'वा' के योग से हिन्दी की प्रेरणार्थक धातु बनायी जाती है। धातु का प्रथम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। यदि धातु एकाक्षरीय होती है अर्थात् एक व्यंजन और दीर्घस्वर वाली होती है तो धातु और वा' के बीच में 'ल' का आगम होता है, जैसे—

(i) करवा (ना) मढ़वा (ना) चढ़वा (ना) आदि।

(ii) पी—पिलवा (ना), सो—सुलवा (ना) दे-दिलवा (ना) खा-खिलवा (ना)।

सूचना—'बे' धातु के साथ में मध्य 'स' का आगम नहीं होता।

(१) 'आ' तथा वा की उत्पत्ति—संस्कृत में णिच् प्रत्यय के लिए धातु में एक प्रत्यय आप् का भी योग होता था। इसी से 'आ' का आविर्भाव हुआ है जैसे-'मरति' का णिच् मारयति' है। यहाँ मर् म 'आय्' का आगम हुआ है। चलना' से 'चलाना चलाने में आय् से व्युत्पन्न आ' का योग हुआ है।

(ii) णिच् के लिए संस्कृत धातुओं म दूसरा प्रत्यय 'आप्' लगता है, जैस—स्थाति' से स्थापयति'। इस आप् से हिन्दी वा' की व्युत्पत्ति हुई है। 'सुलाना से सुलवाना आदि रूप इसी के योग से बनते हैं।

(iii) 'ल' हिन्दी प्रे रणार्थक धातु रूपों में 'ल्' का आगमन कहाँ से हुआ यह कहना कठिन है। इसकी उत्पत्ति के विषय में केलॉग* का विचार है कि संस्कृत म 'पा' धातु के साथ-'आप्' के स्थान पर-'आल्' जोड़कर पालय्' णिजन्त-रूप बनता है। संभवतः प्राकृत ने इस प्रणाली का अधिक उपयोग किया हो और हिन्दी मे प्रे रणार्थक प्रत्यय के साथ यह भी स्वरान्त धातुओं में गृहीत हुआ हो यथा—'पी से पिलवाना 'खा' से खिलवाना 'दे' से दिलवाना।

सूचना—प्राय सभी नाम धातुओं के प्रे रणार्थक रूप बनते हैं।

(ख) नाम धातु—

संज्ञापद तथा क्रियामूलक विशेषण (Participle adjective) जब धातु रूप में प्रयुक्त होकर क्रियाओं का निर्माण करते है तब ऐसी धातुओं को 'नाम धातु' अभिधा दी जाती है। 'नाम धातु' का उपयोग प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में भी होता था। संस्कृत की अनेक नाम-धातुएं हिन्दी को उत्तराधिकार में मिली हैं। इ मायते चपलायते पण्डितायते आदि क्रिया रूपों में इ म चपल पण्डित आदि शब्द (संज्ञा और विशेषण दोनों) धातु रूप में प्रयुक्त हुए है। यह प्रथा अन्य भारोपीय भाषाओं में भी मिलती है। अंग्रेजी में ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं।

प्राकृत-काल में भी इस पद्धति का निर्वाह हुआ है और संस्कृत के भूतकालिक कृदंतों से अनेक नाम-धातुए निष्पन्न हुई हैं। इसलिए इनका भंडार बढ़ता ही रहा है। उदाहरण के लिए संस्कृत के उपविष्ट कृष्ट पिष्ट शब्दों को ले सकते हैं। ये शब्द नाम धातु के रूप में न केवल प्राकृत ने ही अपनाये वरन् हिन्दी में भी समादृत हुए। इनकी परंपरा का अनुमान लगाया जा सकता है—उपविष्ट (मू० का० कृ०) से प्रा० 'बइट्ठइ (बैठता है) क्रिया बनी। इसीने हिन्दी की 'बैठे क्रिया का जन्म

*केलॉग—'ए ग्रामर ऑव दि हिन्दी लैंग्वेज पृ० ११०

हुआ। इसमें 'पठ' धातु है जो भूतकालिक कृदन्त है। संस्कृत के 'कृष्ट' शब्द से प्राकृत ने 'कड्ढइ' क्रियारूप बनाया जो हिन्दी में 'काढ़' रूप में आ गया और इसने 'काढ़' धातु हिन्दी को दी। 'पिष्ट' शब्द ने प्राकृत की 'पिट्टइ' क्रिया को जन्म दिया जिससे हिन्दी 'पीटै' बना और उससे 'पीट' नाम धातु प्राप्त हुई।

हिन्दी ने अनेक संज्ञा और सर्वनाम शब्दों में 'आ' लगाकर नाम धातुओं की सृष्टि करली है जैसे—अपना + आ (ना) = अपनाना गरव (गर्व) + आ (ना) = गरवाना लाठी + आ (ना) = लठियाना झिझक + आ (ना) = झिझकाना। नाम धातुएं जब अकर्मक रूप में बनती हैं तो उनमें 'आ' नहीं भी लगता जैसे—'गरब' (ना), चिपट (ना) लहर (ना) बैठ (ना) आदि। प्राय सकर्मक नाम-धातुएं बनाने के लिए ही नामों (संज्ञा कृदन्त) में 'आ' लगाया जाता है। कहीं कहीं 'इया' या 'इया' प्रत्यय से भी नाम धातुएं बनती हैं जैसे—बात से बतिया (ना) लात से लतिया (ना) तथा साठा से सठिया (ना)। खिसियाना भुखियाना दुखियाना अटियाना आदि क्रियाओं में भी नाम-धातु की सीमा स्पष्ट है।

भारतीय शब्दों से तो नाम-धातु बनती ही है विदेशी शब्दों से भी नाम धातु बनायी जाती है। उदाहरण के लिए फारसी के 'गरम' और 'शरम' शब्दों से क्रमशः गरमा (ना) और शरमा (ना) धातुएं बनती हैं।

संस्कृत के तत्सम और अर्ध-तत्सम संज्ञा एवं विशेषण शब्दों से भी हिन्दी में नाम-धातुएं निर्मित होती हैं किन्तु शब्द का आदि दीर्घ वर्ण ह्रस्व हो जाता है जैसे—क्षोभ से छुभा (ना) आलाप से अलापना आकुल से अकुला (ना)।

हिन्दी नाम धातुओं के अकर्मक और सकर्मक दोनों ही रूप मिलते हैं। अकुला (ना) शरमा (ना) आदि अकर्मक रूप हैं अलाप (ना) अपना (ना) पटक (ना) आदि रूप सकर्मक हैं। इसके अतिरिक्त इनके प्रेरणार्थक रूप भी होते हैं जैसे—गठा (ना) पिटा (ना) कढ़ा (ना) आदि। जब नाम धातु किसी के आचरण की सूचना देती है तब उसका अकर्मक प्रयोग होता है, जैसे—पथरा (ना) = पत्थर के समान आचरण करना जैसे—'रोगी की आँखें पथरा गयीं। इसी प्रकार 'भुखियाना' शब्द को ले सकते हैं जिसका अर्थ है 'भूखे के समान आचरण करना'। 'सठियाना' भी इसी प्रकार का प्रयोग है।

(ग) (i) मिश्रित एवं (ii) प्रत्यय युक्त धातुएं

(i) मिश्रित धातुएं—

मिश्रित धातुओं को संयुक्त धातुएं भी कह सकते हैं। ये या तो धातुओं के संयोग से या एक धातु से पूर्व कोई संज्ञा क्रियाद्योत विशेष्य अथवा कृदन्त पद जोड़कर बनायी जाती हैं। हिन्दी में पहले प्रकार की धातुओं के उदाहरण बहुत कम

मिलते हैं किन्तु संयुक्त नाम से अभिहित पदों में दूसरी श्रेणी के (धातुओं से पूर्व कृदन्त क्रिया-जात विशेष्य अथवा संज्ञा-पद जोड़कर बनाए हुए) ही उदाहरण मिलते हैं जैसे—'बाँट देना', कह रखना सह सकना' भुला मना आने देना 'उठ जाना कर जाना' 'उठ बैठना' आदि।

(ii) प्रत्ययपुक्त धातुए —

किसी सिद्ध अथवा नाम धातु म प्रत्यय लगा कर हिन्दी में कुछ धातुए बनायी गयी हैं। वसे ऐसी धातुए सभी प्रा भा० आ० भाषाओं में मिलती हैं किन्तु हिन्दी में इसकी प्रचुरता है। इस धातु का अर्थ मूल या नामधातु के अर्थ म कुछ भिन्न भी हो जाता है। इन धातुओं का वर्गीकरण प्रत्ययों के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है—

(1) क्-प्रत्यय-युक्त धातुए —

अटक (ना) खटक (ना) चटक (ना) भटक (ना) मटक (ना) लटक (ना) मटक (ना) पटक (ना) फटक (ना) गटक (ना) छिटक (ना) झटक (ना) ठिटक (ना) गपक (ना) चिपक (ना) छिपक (ना) लपक (ना) टपक (ना) बपक (ना) झपक (ना), कहक (ना) महक (ना) चहक (ना) डहक (ना) दहक (ना) बहक (ना) महक (ना) लहक (ना) पिचक (ना) बिचक (ना) हिचक (ना) झिझक (ना) बिलक (ना) कसक (ना) बिसक(ना) थिरक (ना) झमक (ना) छमक (ना) चुसक (ना) कुलक (ना) मुलक (ना) ससक (ना) भड़क (ना) धड़क (ना) तड़क (ना) कुड़क (ना) छिड़क (ना), झिड़क (ना) तिरक (ना) खिरक (ना) दरक (ना) धड़क (ना) रड़क (ना) फड़क (ना) कड़क (ना) चमक (ना) भटक (ना) ठमक (ना) चमक (ना) धमक (ना) रमक (ना) ठमक (ना) दमक (ना) ठुमक (ना) झमक (ना) फुदक (ना) कुदक (ना) उमक (ना) थूक (ना) आदि।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि उक्त धातुए संयुक्त पद हैं। क' प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कृ' से मानी जाती है। अतएव ये धातुए इस प्रकार निष्पन्न हुई बतायी जाती हैं*—

थूक (ना) ∠ म० भा आ० थुक्कर ∠ सं० थूत्+√कृ।

थूक (ना) ∠ सं थूत्+√कृ।

टपक (ना) ∠ प्रा० टप्प ∠ सं० तप्य-(तर्प ?)+√कृ।

(ii) -'ट'-प्रत्यय-युक्त धातुए —

'ट' की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी जाती है किन्तु यह केवल अनुमान प्रतीत होता है—

---

*देखिये टनर से वि पृ १२८ तथा १३४

ट ∠ प्रा० वट्ट ∠ सं० वृत्त
घिसट (ना) ∠ स० घर्ष+वृत्त
झपट (ना) ∠ स० वप+वृत्त
झपट (ना) ∠ सं० झम्प+वृत्त

(iii) –'ड़'-प्रत्यय-युक्त धातुएँ जैसे—

मकड़ (ना) पकड़ (ना) पिछड़ (ना) भिड़ (ना) झगड़(ना) रगड़ (ना)।
पछाड़ (ना) ∠ पच्छा + ड़ ∠ स० पश्चात् + ?

(iv) –'र' प्रत्यय-युक्त धातुएं जैसे—

पुकार (ना) ठहर (ना)

(v) –'स' प्रत्यय-युक्त धातुएँ जैसे—

टहस(ना) बहस (ना) दहस (ना)

इन धातुओं के संबंध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जहाँ इनका अर्थ और प्रयोग असंदिग्ध है इनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। जिस प्रकार 'ट' की व्युत्पत्ति के लिए 'वृत्त' का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार 'ड़' की व्युत्पत्ति के लिए 'कृत' और 'वृत्त' दोनों का अनुमान लगाया जाता है। 'र' और 'स' की व्युत्पत्तियाँ भी संदिग्ध ही हैं। मेरी समझ में न तो 'र' म० भा० आ० के 'अर' या 'आर' से उत्पन्न हुआ है और न शायद 'स' 'स्थ' अस्स' 'इस्स' से। इसी प्रकार जिन शब्दों के साथ ये प्रत्यय लगे हुए हैं, वे भी संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले ही हैं।

(घ) आवृत्तिमूलक एवं अनुकरणात्मक धातुए—

आवृत्तिमूलक धातुएँ सामान्यतया ध्वनि या गति की अभिव्यक्ति करती हैं और नाम धातुओं की कोटि में रखी जा सकती हैं। ये प्राय दो अक्षरों (syllables) की होती हैं। दूसरे अक्षर में पहले की ही आवृत्ति होती है अर्थात् जो व्यंजन और स्वर पहले में होते हैं वही दूसरे में होते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि इन दोनों अक्षरों में से प्रमुख कौन-सा है और सहायक कौन-सा है? नीचे कुछ आवृत्तिमूलक धातुओं के उदाहरण दिये जाते हैं जिनको स्वर-भेद की दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है—

(i) अ-स्वरयुक्त—

खटखटाना	=	खटखट	+	आ (ना)
धड़धड़ाना	=	धड़धड़	+	आ (ना)
लड़लड़ाना	=	लड़लड़	+	आ (ना)
महमहाना	=	महमह	+	आ (ना)

चहचहाना = चहचह + आ (ना)
कहकहाना = कहकह + आ (ना)
महमहाना = महमह + आ (ना)
छमछमाना = छमछम + आ (ना)
झनझनाना = झनझन + आ (ना)
फड़फड़ाना = फड़फड़ + आ (ना)
थरथराना = थरथर + आ (ना)
बड़बड़ाना = बड़बड़ + आ (ना)
भसभसाना = भसभस + आ (ना)
थपथपाना = थपथप + आ (ना)

(ii) इ-स्वर-युक्त

किलकिलाना = किलकिल + आ (ना)
खिलखिलाना = खिलखिल + आ (ना)
टिलटिलाना = टिलटिल + आ (ना)
बिलबिलाना = बिलबिल + आ (ना)
चिनचिनाना = चिनचिन + आ (ना)
पिनपिनाना = पिनपिन + आ (ना)
फिनफिनाना = फिनफिन + आ (ना)
मिनमिनाना = मिनमिन + आ (ना)
किटकिटाना = किटकिट + आ (ना)
गिड़गिड़ाना = गिड़गिड़ + आ (ना)
पिलपिलाना = पिलपिल + आ (ना)
टिनटिनाना = टिनटिन + आ (ना)
हिनहिनाना = हिनहिन + आ (ना)

(iii) उ-स्वर-युक्त—

गुनगुनाना = गुनगुन + आ (ना)
तुलतुलाना = तुलतुल + आ (ना)
कुलकुलाना = कुलकुल + आ (ना)
गुलगुलाना = गुलगुल + आ (ना)
फुसफुसाना = फुसफुस + आ (ना)
मुरमुराना = मुरमुर + आ (ना)
भुपभुपाना = भुपभुप + आ (ना)
फुरफुराना = फुरफुर + आ (ना)

भुरभुराना	=	भुरभुर	+	आ (ना)
सुरसुराना	=	सुरसुर	+	आ (ना)
बुकबुकाना	=	बुकबुक	+	आ (ना)
धुकधुकाना	=	धुकधुक	+	आ (ना)

इन सभी धातुओं का आदि वर्ण ह्रस्व होता है और प्रत्यय दीर्घ। अन्त्य व्यंजन निश्चित रूप से आकारान्त होता है। इनमें अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की धातुएं सम्मिलित हैं। हिनहिना (ना) पिलपिला (ना) भुरभुरा (ना) आदि धातुएं अकर्मक हैं तथा मुसमुसा (ना) थपथपा (ना) आदि सकर्मक हैं। इनके प्रेरणार्थक रूप प्राय नहीं बनते।

यद्यपि इन धातुओं में ध्वनि आवृत्ति होती है किन्तु अन्तिम वर्ण (व्यंजन) दीर्घ आ-युक्त होता है। जब ऐसी धातुओं का प्रथम अक्षर (syllable) सानुनासिक होता है तो अनुनासिक अनुस्वार में परिवर्तित हो जाता है जैसे—झंझना (ना) टंटना (ना)। इससे द्वितीय अक्षर की प्रमुखता का परिचय मिल जाता है।

इन धातुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी धातुएं भी मिलती हैं जो दो भिन्नाक्षरों (different syllables) के योग से बनती हैं, जैसे—तिलमिला (ना) कुसमुसा (ना) सकपका (ना) कचपचा (ना) सिटपिटा (ना), खदबदा (ना) झिलमिला (ना) तड़पड़ा (ना) गड़बड़ा (ना) हड़बड़ा (ना) बिरमिरा (ना) लटपटा (ना) आदि। जिस प्रकार समानाक्षरों वाली धातुओं से ध्वनि क्रिया एवं गति का बोध होता है उसी प्रकार भिन्नाक्षरीय धातुओं से भी किन्तु दोनों से अर्थ की प्रतिपत्ति भिन्न होती है।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की क्रियाओं में ६ स्तर या रूप थे। उनमें से इच्छार्थक तथा अतिशयार्थक रूपों का लोप हो गया। हिन्दी क्रिया में परस्मैपद क्लीब रूप आत्मनेपद तथा प्रेरणार्थक रूपों को कुछ भिन्न प्रकार से स्वीकार किया गया। इस परिवर्तन से परिवर्तित रूप में हिन्दी-क्रिया का अधिकार-क्षेत्र संस्कृत क्रिया की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। यह अधिकार हिन्दी-क्रिया को बड़ी सरलता से ही मिल जाता है। हिन्दी क्रिया की यह उपलब्धि कुछ तो प्राकृत रूपों के कुशल उपयोग से हुई है और कुछ इसकी अपनी ही धातुओं में बटत-बढ़त से हुई है। दोनों प्रकार की धातुओं के संयोग से भी यह उपलाभ हुआ है। अतएव हिन्दी क्रिया के आधुनिक रूप का पर्यवेक्षण आवश्यक है। हिन्दी क्रिया के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं जो प्रमुखतः दो विचारों से संबद्ध हैं—नियतदिशा तथा अनियत दिशा। अकर्मक क्रियाएँ अनियत दिशा की ओर संकेत करती हैं किन्तु सकर्मक क्रियाएं, नियत

दिशा की ओर इंगित करती है। नियत और अनियत दिशा-बिन्दुओं के बीच क्रिया रूपों का स्थान इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

अनियत दिशा बिन्दु —३ —२ —१ • +१ +२ +३ +४ नियत दिशा बिन्दु

मीमांसा-(च) (छ) (च) (क) (ख) (ग) (घ) (ङ)

(क) [•]—शून्य क्रिया के उस रूप की सूचना देता है जिसमें शान्ति या निश्चलता है। यह क्रिया रूप कर्ता की सत्ता की सूचना तो देता है किन्तु उसकी किसी क्रिया की सूचना नहीं देता। इसको क्लीव अकर्मक क्रिया कह सकते हैं। होना रहना इसी प्रकार की क्रियाएं हैं।

(ख) [+१]—इस स्तर की क्रिया अकर्मक है। इस क्रिया से ऐसे कर्ता की सूचना मिलती है जो क्रियावान् तो है किन्तु उसकी क्रिया उसी तक सीमित है। उससे कोई अन्य वस्तु या व्यक्ति प्रभावित नहीं होता जैसे सोचना थकना फिरना।

(ग) [+२]—यह स्थान सकर्मक क्रिया का है। इससे न केवल क्रिया वान् कर्ता का ज्ञान होता है वरन् ऐसे क्रियावान् कर्ता का जिसकी क्रिया (action) बाह्य वस्तु या व्यक्ति को प्रभावित करती है, जैसे-मारना खाना पीना।

(घ) [+३]-इस स्तर की क्रिया सकर्मक प्रेरणार्थक होती है जिससे ऐसे कर्ता का ज्ञान होता है जो दूसरी वस्तु या व्यक्ति से क्रिया कराता है जैसे-सुनाना पढ़ाना फिराना आदि।

(ङ) [+४]—यह स्तर द्विगुण प्रेरणार्थक क्रिया का है। हिन्दी में ऐसी क्रियाओं का बाहुल्य है। इस क्रिया का कर्ता ऐसा आचरण करता है कि उससे दूसरा व्यक्ति या पदार्थ तीसरे व्यक्ति या पदार्थ के साथ आचरण करता हुआ प्रकट होता है जैसे—फिरवाना पिसवाना।

(च) [—१]—क्लीव से अनिश्चित दिशा की ओर जाने पर ऐसी क्रिया सामने आती है जिससे ऐसे कर्ता का पता लगता है जो न केवल अकर्मण्य है वरन् किसी अन्य के कर्तृत्व से प्रभावित है।

एक ओर यह क्रिया क्लीव पद से भिन्न है और दूसरी ओर सकर्मक से भिन्न है। इन दोनों के बीच में इसका स्थान है। संस्कृत व्याकरण में इसे 'भाव'

या सहा' कहा जाता है। हिन्दी की 'बनना' क्रिया इसी प्रकार की है। 'मकान बनता है' में बनता है से यही भाव व्यक्त होता है।

ख—(—२)—इस स्तर की क्रिया के कर्ता से किसी कर्तृत्व की सूचना न मिलकर, उसके प्रभावित होने की ही सूचना मिलती है जैसे—धोयी जाय।

ग—(—३)—क्रिया का अन्तिम स्तर अकर्मक प्रेरणार्थक है। इसका कर्ता किसी व्यक्ति या पदार्थ को दूसरे से प्रभावित कराता है, जैसे—पिटवाना मरवाना।

उक्त क्रिया-रूपों में से अकर्मक (सजीव कर्तृत्व) एवं सकर्मक सबसे अधिक सरल हैं। अन्य रूपों की व्युत्पत्ति उन्हीं में कुछ जोड़कर या बीच में परिवर्तन करके सिद्ध हो जाती है। अतएव क्रिया के अकर्मक रूप और सकर्मक रूप के निर्माण का रहस्य जानना अत्यावश्यक है।

ध्यान रखने की बात है कि कुछ धातु-रूप केवल अकर्मक-रूप में कुछ केवल सकर्मक-रूप में और कुछ, जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, दोनों रूपों (अकर्मक-रूप तथा सकर्मक-रूप) में मिलते हैं। पहले वर्ग की धातुओं को शुद्ध धातु नाम दिया जा सकता है और दूसरे वर्ग की धातुओं को मिश्रित या उभयनिष्ठ कहा जा सकता है। उभयनिष्ठ धातुओं के आविर्भाव का कारण यह है कि दो पृथक्, किन्तु कहा जाय तो, मिथुन क्रियाएँ प्राचीन धातु से बनाई गयी हैं और प्रत्येक आधुनिक मूल क्रिया शब्द प्राचीन क्रिया के भिन्न शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जैसा कि आगे दिखाया जायगा।

अकर्मक धातुएं प्रेरणार्थक रूप में हिन्दी में सकर्मक का काम करती हैं, जैसे 'बनना' अकर्मक है, किन्तु 'बनाना' जो 'बनना' का प्रेरणार्थक रूप है सकर्मकवत् प्रयुक्त होती है।

संस्कृत में क्रियाओं का एक वर्ग ऐसा भी है जो संज्ञाओं से व्युत्पन्न होता है। कभी-कभी विशेषण भी क्रियावत् प्रयुक्त कर लिये जाते हैं। वे संज्ञा पद या क्रियामूलक विशेषण जिनका प्रयोग क्रिया-पद बनाने के लिए धातु-रूप में किया जाता है नाम धातु कहलाते हैं। नाम धातुओं के उपयोग की परम्परा बहुत प्राचीन है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की सिद्ध धातुओं में बहुत-सी मूलतः नाम-धातु हैं। अनेक नाम धातुओं के साथ उनके प्रयोग की प्रथा भी हिन्दी को प्रा भा आ भा से उत्तराधिकार में मिली है।

मध्य भारतीय आर्य भाषा काल में संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त-रूपों से भी अनेक नाम धातुएं निष्पन्न हुई हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के 'बैठ' आदि को ले सकते हैं। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

सं उपविष्ट 7 उवइट्ठ उवइट्ठ। अपभ्र० बइट्ठ [हि० बैठ (ना)]
सं० कृष्ट 7 प्रा कड्ढइ 7 हि काढ (-ना)।

सं पिष्ट 7 प्रा पिट्ठ पिट्ठ 7 हि-पीट (ना)।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल में भी नाम या विशेषण में 'आ' जोड़ कर अनेक नाम-धातुएं बनायी गयी हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में प्रेरणार्थक में 'आय' और 'आप' प्रत्यय लगते थे। हिन्दी आ प्रत्यय उन्हीं का काम कर रहा है। उदाहरण मे हैं — चला (-ना) अठा (-ना) सधा (-ना) चपता (ना) रपटा (-ना) सठिया (-ना) ललचा (-ना) मटका (-ना) आदि।

हम इन सब क्रिया-पदों को मूलतः अकर्मक और सकर्मक दो ही भेदों म विभक्त कर सकते हैं।

अकर्मक क्रियाएं जहाँ तक उनके मूल शब्द का सम्बन्ध है अधिकांशतः प्राचीन उद्भव हैं अतएव वे प्राकृत रूप को सुरक्षित रखे हुए हैं। ये अनेक क्रिया-रूपों में न फँसकर वर्तमान काल में 'भ्वादि' की भाँति ही रूप धारण करती हैं भू-वर्ग की कुछ क्रियाएँ नीचे दी जाती हैं—

धातु	संस्कृत	पालि	प्राकृत	हिन्दी
भू	भवति	भवति होति	भोदि होदि होइ	हो (होइ)
चल	चलति	चलति	चलइ	चल
लग्	लगति	लगति लग्गति	लग्गइ	लगे
कम्प्	कम्पति	कंपति (कंपइ)	कंपइ, कम्पइ	कंपि
भ्रम्	भ्रमति	भमति भमइ	भमइ	भमे भँवे भरमे

१ कुछ धातु-रूपों के क्लीव में अकर्मक या अकर्मक सम्मिलित हैं। इसका प्रेरणार्थक रूप में उपयोग करके सकर्मक के स्थान की पूर्ति की जाती है अतएव अकर्मक क्रिया 'बनना' बनाना होकर जो वास्तव में अकर्मक प्रेरणार्थक है, सकर्मक में प्रयुक्त हो जाती है। उन कुछ धातुओं का जो सकर्मक क्लीव प्रयोग की आवश्यकता नहीं रखती, किन्तु आवश्यकता होने पर आत्मनेपद अकर्मक में ही प्रयोग कर लिया जाता है जैसे—'कहना' से कहलाना।

ऊपर की क्रियाओं के संबंध में विशेष रूप से कुछ कहना नहीं है किन्तु यह है जैसे—चला(-ना) शर्मा (-ना) गर्मा(-ना) मटका(-ना) सठिया(-ना), झठिया (-ना) ललचा(-ना), रपटा(-ना) हथिया(-ना) आदि।

)

बात ध्यान रखने की है कि संस्कृत धातुओं का आधुनिक रूप ध्वनि परिवर्तन के नियमों के आवरण से हुआ है। 'स्था' धातु के अनेक काल-रूपों को देखकर हमें परिवर्तन का कुछ अनुमान हो सकता है।

	स्था	संस्कृत	पालि	प्राकृत
१	लट	तिष्ठति	तिट्ठति ठाति	चिट्ठदि, ठाअइ, ठाइ
२	लोट्	तिष्ठ	तिट्ठ	चिट्ठ ठाहि
३	भविष्यत्	स्थास्यति	ठस्सति	ठाहिइ
४	तुमन्	स्थातु	ठातु	चिट्ठदु
५	भूतकालीन विशे	स्थितं	ठिट्ट	ठिप
६	त्वा	स्थित्वा	ठत्वा, ठत्वान	ठिप

'स्था' से पालि में जो 'ठा' रूप ग्रहण किया था वह आज भी जीवित है। यह दूसरी बात है कि वह मूर्धन्य महाप्राण के स्थान पर दन्त्य महाप्राण हो गया है। हिन्दी में इन अनेक रूपों में केवल 'था' रह गया है जो स्त्रीलिंग में 'थी' और 'थी' तथा पुल्लिंग में 'था' और 'थे' रूप में प्रयुक्त होता है। भ्वादि गण के अतिरिक्त अन्य गणों की संस्कृत धातुओं ने भी अपनी अनेक विशेषताएं किस प्रकार छोड़ दी हैं यह बात नीचे के उदाहरणों से प्रकट हो सकती है—

धा०—सं० (लट् रूप)	पा०	प्रा०	हि०
१ या (हि० जा)	— याति-याति	— जाति जामदि	— जाइ, जाए
२ स्वप् (सो)	— स्वपिति-सुपति—	सुवई सुवइ	— सोइ सोए
३ नृत् (नाच)	— नृत्यति-नच्चति—	णच्चइ	— नाचइ नाचे
४ शक (सक)	— शक्नोति शक्यति सक्कति-सक्कइ		— सकइ सके

'नाच' के समान दिवादि गण की धातुओं से व्युत्पन्न अनेक क्रियाओं में दिवादिगण का स्वाभाविक 'य' संभवतः धातु में मिल जाने से सुरक्षित रहा है। यद्यपि 'सक' में भी पालि और प्राकृत दोनों सु-गण की विशेषता के कुछ अवशेष व्यक्त करती हैं किन्तु हिन्दी ने इस विशेषता का विसर्जन करके 'सक' का वर्तमान रूप 'भू' के रूप की भांति धारण किया है। इसी से अनुमानित संस्कृत 'शकति' की परंपरा में हिन्दी ने 'सके' को स्वीकार किया है।

७ उद्+मृ=भू वि उन्मृत 7 प्रा उम्मरिम्रो 7 हि उमरो उमरा (उमर उमरना)

८ उद्+स्था=भू वि उत्थित 7 पा उट्ठिदो 7 प्रा उट्ठिग्रो उट्ठिम्रो 7 हि उठ्यो उठा (उठ, उठना)

सूचना-हिन्दी में यह बड़ी सामान्य धातु है। संस्कृत ने ही इस 'उत्था' रूप में स्वीकार कर लिया था जैसे-उत्थित उत्थातु उत्थान आदि रूपों में।

९ रह् (छोड़ना त्यागना अलग होना) 7 भू वि रहित (संस्कृत में इसका प्रचलन नहीं है) 7 प्रा रहिम्रो 7 हि रह्यो, रहा (रह, रहना)

'पड़े रह्यो' में 'रह्यो' भू का वि से बनी हुई क्रिया है।

२ शुद्ध सकर्मक धातुएं –

इनके रूप उसी प्रकार बनते है जिस प्रकार शुद्ध अकर्मक धातु रूप बनते हैं। नीचे कुछ ऐसी धातुओं के उदाहरण दिये जाते है जो संस्कृत में भू दिव् तुद तथा 'चुर्' गण की हैं—

१ सं० खाद् (हि खा)=खादति 7 पा प्रा खाइ (खायइ) 7 हि खाइ।

२ सं० चर्व (हि चाब चब)=चर्वति 7 प्रा चब्बइ 7 हि चाबे चबे।

३ सं० पठ् (हि पढ़)=पठति 7 प्रा पढइ 7 हि पढ़इ पढ़े।

४ सं० प्रच्छ (हि पूछ)=पृच्छति 7 प्रा पुच्छइ 7 हि- पूछइ, पूछे।

५ सं० मार्ग तथा मृग (माँग)=मार्गति मार्गयति 7 प्रा मग्गइ 7 हि माँगइ, माँगे।

६ सं० रक्ष् (हि-राख)=रक्षति 7 प्रा रक्खइ 7 हि रखइ राखइ रखे राखे।

७ सं कथ् (हि कह)=कथयति 7 प्रा कहइ 7 हि- कहइ कहे।

जो धातुएँ भ्वादि गण की नहीं हैं और जिनकी रूपात्मक विलक्षणता को किसी सीमा तक प्राकृत ने सुरक्षित रख छोड़ा है, उनके रूपों को हिन्दी ने 'भू' धातु-रूपों के समान ही स्वीकार किया है। अधिकांश उदाहरणों में व वर्तमान के उन्हीं धातु-रूपों को ग्रहण करती हैं जो प्राकृत में मिलते है और सभी रूपों में उन धातु-रूपों का निर्वाह होता है, जैसे—

१ ज्ञा (हि जान)=सं जानाति 7 प्रा जाणाति, जाणइ 7 हि जानइ, जाने।

२ कृ (हि कर)=सं०करोति 7 प्रा करइ 7 हि करइ करे।

३ श्रु (हि सुन)=सं॰ शृणोति 7 प्रा सुणइ 7 हि सुनइ सुने।

४ आप् (पु हि अप्प अप)=सं॰आप्नोति 7 पा आपुणाति आपुनाति प्रा अप्पुणइ 7 हि अपनाय।

५ प्र+आप (हि पाव)=सं॰ प्राप्नोति 7 प्रा पाउणइ पावइ 7 हि पावइ पावे।

६ ग्रह (हि गह)=सं॰ गृह्णाति 7 प्रा गेण्हइ, गण्हइ 7 हि गहइ गहे

संस्कृत की कुछ स्वरान्त धातुओं में हिन्दी में विलक्षण परिवर्तन हो गया है जैसे—

दा (हि दे)=ददाति 7 प्रा देइ 7 हि देइ देवे दे।

आकारान्त धातुओं के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें धातु का अन्त्य 'आ' 'इ' या 'ए' में बदल जाता है।

१ दा (हि दे)=सं॰ ददाति 7 प्रा देइ 7 हि दइ देवे।

२ पा (हि. पी)=सं॰ पिबति 7 प्रा पियइ 7 हि पियइ पिय।

सूचना—संस्कृत की ईकारान्त धातुएं भी क्रिया रूपों में अपने असली रूप को खो बैठी थीं। हिन्दी ने प्राकृत में आये हुए धातु-रूप को ही स्वीकार किया है जैसे—

भी (हि डर)=बिभेति 7 प्रा भेइ एइ 7 हि भेइ भेवे

सूचना—कुछ लोगों का विश्वास है कि 'न' से 'ल' नहीं हो सकता किन्तु कुछ अन्य शब्द भी इसकी सिद्धि के लिए उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं जैसे-संस्कृत नीम 7 प्रा मीसो 7 हि मीसो सीसा। 'पर में ले गया' प्रयोग में 'ले' की व्युत्पत्ति 'नी' से मानना ही उचित ठीक पड़ता है।

७ आ+गम् (हि आजा आ)=आगच्छति 7 आवच्छइ 7 आवइ 7 आए।

८ स आगत 7 पा आगतो 7 प्रा आगओ आअओ 7 आग या—

९ उद्+डी (हि उड़)=उड्डयते उड्डीयते 7 प्रा उड्डेइ 7 उड़।

१० या (हि जा)=सं॰ याति 7 पा याति 7 प्रा जाति जाअदि 7 अप जाइ, जाअइ 7 हि. जाइ (जाय), जाए।

११ आ+या (हि आजा)=आयाति 7 प्रा आजाति आजाअइ 7 अप आजाइ, आजाअइ 7 हि आजाइ (आजाय), आजाए।

आ+√या का एक रूप यह भी होता है—

आयाति 7 पा आयाति 7 प्रा आआइ, आइ 7 हि आए।

सूचना—(i) हिन्दी में 'प्रायाति' और 'प्रायच्छति' दोनों के रूप 'आए' में एक हो जाते हैं, यद्यपि 'आयाए' और आए' रूप भिन्न हैं।

(ii)—ईकारान्त धातुओं में हिन्दी शब्द केवल समस्त क्रियाओं से ही अवतीर्ण हुए हैं और उनमें धातु का अन्तिम स्वर बिल्कुल लुप्त हो गया है जब कि आकारान्त धातुओं में अन्तिम स्वर के 'इ' या 'ए' में बदलने की प्रवृति दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी की 'देखना' क्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत धातु 'दृश्' है इसका 'दृश्यति' रूप वर्तमान में प्रयोग में नहीं आता। इसके स्थान पर 'पश्यति' प्रयुक्त होता है। भविष्यत् काल में इसका संस्कृत रूप 'द्रक्ष्यति' तथा पालि रूप 'दक्खति' होता है। प्राचीन पालि रचनाओं में भविष्यति में यही रूप प्रयोग में आता है। बाद में 'दक्खति' का प्रयोग वर्तमान काल के लिए होने लगा और भविष्यत् काल में इसके स्थान पर द्विगुण भविष्यत् रूप 'दक्खिस्सति' का प्रयोग होने लगा। दक्खति' को भूल से वर्तमान रूप मान कर माने 'देक्खइ' जैसे अपभ्रं श रूपों का विकास हुआ। इससे हिन्दी शब्द रूप 'देख' तथा 'देखे' विकसित हुए।

पिशेल का अनुमान है कि संस्कृत नाटकों में 'प्रेक्ष' धातु से बने हुए 'पेक्ख' शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है। प्रतिलिपिकारों की भूल से 'पेक्ख' शब्द ही 'देक्ख' में बदल गया और इसी देक्ख' से हिन्दी 'देख' बन गया। उधर 'पेक्ख' से 'पोख' बन गया। 'पिशेल' की यह बात साधारण प्रतीत नहीं होती।

यहाँ तक हमने सामान्य शुद्ध क्रियाओं के अकर्मक या सकर्मक रूप की मूल विशेषताओं को उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया। अब मिश्र क्रियाओं के कठिन विवेचन की ओर मुड़ना है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि इन क्रियाओं के दो रूप हैं—एक रूप सकर्मक क्रियाओं का है जो कभी-कभी प्रेरणार्थक भी हैं दूसरा रूप अकर्मक क्रियाओं का है।

यह कहा जाता है कि हिन्दी की अकर्मक क्रियाओं के रूप umlaut या निर्बल स्वरों के स्थानापन्न होने से बनते हैं किन्तु इस मत से मेरा मतभेद है। हिन्दी क्रियाओं के अकर्मक तथा सकर्मक रूप दो प्रकार से भिन्न होते हैं—या तो धातु के अन्त्य व्यंजन के परिवर्तन से अथवा केवल स्वर के परिवर्तन से। दूसरे प्रकार की प्रचुरता ही सिद्ध होती है।

यह ठीक है कि अकर्मक धातुओं के अतिरेक के कारण नियमित आत्मनेपद का प्रयोग हिन्दी में प्रायः नहीं होता है।

मिश्रित क्रियाओं में से कुछ में केवल स्वर 'ए' भेद होता है और वह भेद यह है कि अकर्मक धातु का स्वर सर्वत्र ह्रस्व होता है जैसे 'अ' 'इ' 'उ' जबकि उसी के सकर्मक रूप में 'आ' 'ए' तथा 'ओ' और कभी-कभी 'ई' या 'ऊ' भी होता है। नीचे के उदाहरणों से दोनों का भेद समझा जा सकता है—

अजीव क्रियाएं	परस्मैपदीय क्रियाएँ
कटना	काटना
फिरना	फेरना
खुलना	खोलना
सिपना	सीपाना
गुथना	गूथना
घुटना	घूँटना घोटना
बंधना	बाँधना
रंधना	राँधना
घिरना	घेरना
भँजना	भाँजना
छिदना	छेदना
पिटना	पीटना

सूचना—हिन्दी में कुछ धातुएं ऐसी भी हैं जिनमें केवल अकर्मक धातु का स्वर ही ह्रस्व नहीं है, वरन् उनके सकर्मक रूप में भी स्वर ह्रस्व ही रहता है जैसे— घिसना।

(१) पत्थर घिसता है (अकर्मक)।

(२) मैं पत्थर घिसता हूँ (सकर्मक)।

हिन्दी में शब्दों का एक ऐसा समूह भी है जिनकी अकर्मक और सकर्मक धातुओं में ह्रस्व और दीर्घ का भेद इतना प्रमुख नहीं है जितना अल्प व्यंजन का भेद प्रमुख है। ऐसी धातुओं के अजीव रूप के अन्त में 'ट' (अघोष मूर्धन्य) तथा परस्मैपदीय रूप के अन्त में 'ड़' (नकार मूर्धन्य) आता है जैसे—

अजीव	परस्मैपद
१ फटना (फूटना)	फाड़ना

२ टूटना — तोड़ना (टोड़ना)

३ फटना — फाड़ना

४ फूटना — फोड़ना

५ जुटना — जोड़ना

सूचना—ध्यान रखने की बात है कि 'जुतना' का परस्मैपदीय प्रयोग 'जोतना' होता है।

(१) त्रुट् (i)—सं त्रुट्यते 7 प्रा तुट्टइ 7 हि टूटे (हि. धातु 'टूट')

(ii)=सं त्रुटयति त्रोटयति 7 प्रा तोडइ 7 हि तोड़े (हि धातु 'तोड़')

(२) त्रुट् (i) सं त्रुटति त्रुट्यति 7 प्रा तुट्टइ 7 हि तूटे व टूटे (हि. धातु 'तूट' व 'टूट')

(ii) स त्रोटयति 7 प्रा॰ तोडयइ 7 हि तोड़े (हि धातु 'तोड़')

(३) स्फट (i)=सं स्फोटति स्फुटति 7 पा फुटति 7 प्रा फुट्टइ फुडइ 7 हि फुटे फूटे (हि धातु 'फुट' 'फूट')

(ii) सं स्फोटयति (प्रे र.) 7 प्रा फोडइ 7 हि फोड़े (हि. धा 'फोड़')

(५) युद्—मेरी समझ में 'कठना' 'बैठना' आदि की भाँति 'जुटना' भी 'युज् धातु के भूतकालिक विशेषण' युक्त' के प्राकृत रूप 'जुट्ट' से बना है। प्रा 'जुट्टइ 7 हि जुटे (हि धा जुट)। इसी के प्रेरणार्थक रूप 'जोडयइ' से 'जोड़े' बना (हि. धा॰जोड़)। जोन बीम्स का अनुमान है कि बोली में कोई 'जुट या 'जुट्' धातु रही होगी जो मूल धातु 'युज्' से व्युत्पन्न हुई होगी और उसीसे बने हुए 'जुटति' या 'जुडति' शब्द का प्रयोग क्लीब रूप में होता होगा। प्रेरणार्थक रूप में 'जोटयति' रहा होगा जिससे 'जोड़' धातु का अनुमान किया सकता है। यह अनुमान अधिक तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी में अकर्मक धातु और सकर्मक धातु का भेद दोनों स्वर भेद में ही निहित होता है। हिन्दी में यह भेद बहुत सामान्य है। इस भेद को नीचे दिये हुए उदाहरणों से समझा जा सकता है—

(१) तृ (i)=सं तरति 7 प्रा तरइ 7 हि. तरे (हि. क्लीब धातु 'तर')

(ii)=सं तारयति 7 पा तारेति 7 प्रा तारेइ 7 हि तारे (प्रे धा तार)

नोट—'उतर' (सं 'उत्तृ') धातु का प्रयोग हिन्दी में अकर्मक और सकर्मक दोनों रूपों में होता है जैसे—(i) वह नदी उतरा (सकर्मक) तथा (ii) वह घोड़े से उतरा (अकर्मक)। इसका प्रेरणार्थक रूप 'उतारना' होगा। सं॰ उत्तारयति 7 प्रा उत्तारयइ 7 हि उतारे (प्रे हि धा उतार)।

(२) मृ = सं म्रियते 7 पा मरति 7 प्रा मरइ 7 हि मरे (हि. धातु, 'मर')

प्रे र० (ii) सं मारयति 7 प्रा मारेइ 7 हि मारे (हि धा 'मार')

(३) सृ = (i) सं सरति 7 प्रा० सरइ 7 हि सरे (धा सर')

(ii) सं सारयति 7 प्रा सारेइ 7 हि सारे (धा 'सार')

सूचना— 'हृ' धातु कुछ विलक्षण है। हिन्दी में उसके—

(i) हरना' (ii) और 'हारना' प्रयोग होते हैं।

(i) सं हरति 7 प्रा हरइ 7 हि हरे ('हर')।

(ii) सं० हारयति 7 प्रा हारेइ 7 हि हारे ('हार')।

इन दोनों में क्रिया का सकर्मक प्रयाग है। स्वर-भेद का उक्त नियम यहाँ लागू नहीं होता।

४ स्फर् तथा स्फुर् = (i) सं स्फरति स्फुरति 7 प्रा फुरइ 7 हि. फुरना या फिरना। विद्वानों ने 'फिरना' का संबंध 'स्फिर्' धातु से जोड़ा है—सं स्फिरति 7 प्रा फिरइ 7 हि. फिरे (धा 'फिर)। इसीका प्रे रणार्थक धातु-रूप 'फेर' है जिससे 'फेरना' 'फेरा' आदि क्रिया-रूप बनते हैं।

५ घुलना-घोलना—इनमें से पहली क्रिया का प्रयोग अकर्मक रूप में और दूसरी का सकर्मक रूप में होता है। इन दोनों का संबंध संस्कृत की 'घूर्ण्' धातु से जोड़ा जाता है। घूर्ण का अर्थ है हिलना मिलना। इसी से मिलती-जुलती धातु 'घण्' है जिसका वर्तमान रूप पालि में 'घोणते' या 'घुणते' बनता है। इसका प्राकृत रूप 'घोलइ' या 'घुलई' बनता है और प्रे रणार्थक रूप 'घोलेइ' ('स घोणयति') तथा हि घोले (धा घोल) होता है।

६ पत् = (i) सं पतति 7 प्रा पडइ 7 हि पड़े (धा पड़)।

प्रे र० = (ii) सं पातयति 7 प्रा. पाडेइ 7 हि पाड़े (धा पाड़)।

७. सद् (सड़ना) = (i) सीयते 7 प्रा सडइ 7 हि सड़े (धा सड़)।

प्रे र० (ii) सादयति 7 प्रा साडेइ 7 हि साड़े या सड़ाए (धातु 'सड़ा')।

८. नम् = (i) सं नमति नमते। संस्कृत में यह धातु क्लीब और परस्मै पदीय दोनों रूपों में प्रयुक्त होती है जैसे—(i) स नमति तुम्यम् (पर)

(ii) लता नमति। सं नमति या नमते 7 पा नमति 7 प्रा णमइ 7 हि नमे नवे (हि. धा० नम नव)।

}

प्रेर०=(i) सं नमयति 7 प्रा णमेइ 7 नमए, नवाए।

(ii) नामयति 7 प्रा णामेइ 7 पु हि. नाएउ 7 नमाए, नवाए।

९ कृष=सं कर्षति कृषति/\पा कड्ढति प्रा करसइ 7 अपभ्रं कड्ढइ करसइ 7 हि काढ़े करसे (या काढ़ करस)।

यह काढ़' धातु हिन्दी में सकर्मक है। इसका अकर्मक रूप (उदासीन रूप) कढ़ है जिसकी व्युत्पत्ति 'रूठ', बैठ आदि हिन्दी धातुओं की भाँति 'कृष्' के प्राकृत भूत कालिक विशेषण 'कड्ढ' से हुई प्रतीत होती है। इससे 'कढ़ता है' 'कढ़ा' आदि क्रिया-रूप बनते हैं।

१० निष्कृष्=(i) सं निष्कर्षति 7 पा रिक्कड्ढति प्रा णिक्कस्सइ 7 हि निकस (निकस')।

(ii) निष्कषति 7 पा रिक्कड्ढति 7 प्रा णिक्कासेहि 7 हि, निकासे ('निकास')।

'निकसना' और निकासना' दोनों का प्रयोग हिन्दी में क्रमश अकर्मक और सकर्मक रूप में होता है जैसे—कटोरी से रस निकसता है' 'लड़का घर से निकसता है' में निकसना क्रिया का प्रयोग अकर्मक है। मैंने उसे निकासा' में निकासना' क्रिया सकर्मक है।

सूचना—संभव है कि 'निकस' धातु संस्कृत के 'निष्क्रम' से सम्बद्ध हो। प्राकृत में 'म' को 'स' होने के कुछ उदाहरण मिलते हैं जैसे 'भ्रमति' से प्राकृत में 'भुलइ' हो जाता है उसी तरह निष्क्रमति' से प्रा० 'णिक्कसइ' होकर हिन्दी में 'नीकसे' या निकसे' हो गया। इसी का प्रेरणार्थक रूप 'निकासा' हो गया। 'निकासने' के अर्थ में निस+कास् (निष्कास्) का प्रयोग भी होता है। इससे हिन्दी धातु 'निकास' बनती है। सं निष्कासयति 7 प्रा निक्कासेइ 7 हि निकासे (धातु 'निकास') निकास' धातु का प्रयोग सकर्मक रूप में होता है। हिन्दी में अकर्मक रूप में 'निकस' धातु प्रयुक्त होती है। आधुनिक हिन्दी में 'निकास' और निकस' धातुओं के प्रयोग लुप्त हो गये हैं। हाँ, 'निकास' संज्ञा का प्रयोग खड़ी बोली में आज भी होता है। जैसे-'पानी का निकास किधर है।

धातु-प्रसार में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन को व्यक्त करने तथा अकर्मक या सकर्मक धातुओं के प्रयोग को दिखाने में नीचे लिखी धातु-सूची बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है—

(१) तप्=(i) सं तपति, पा० तपति > प्रा तवइ > हि तवे (हि धा तव)–अकर्मक।

(ii) सं तप्यते > प्रा तवइ > हि. तवे (हि. धा तव')–अकर्मक।
ताप्=सं तापयति या तापेति > प्रा तावइ > हि तावे (धा 'ताव')–सकर्मक।

(२) सिप्=(i) सं सिम्पति > प्रा सिपइ, सिप्पइ > हि सीपे (सकर्मक 'सीप')–सकर्मक।

(ii) सं सिप्यते > पा सिप्पति प्रा सिप्पइ > हि. सिपे (सिप) अकर्मक।

(३) कृत्=(i) सं कर्त्तते > प्रा कट्टइ > हि. कटे (धा कट)–अकर्मक।
=(ii) सं कर्त्तयति > प्रा कट्टइ काटेइ > हि काटे (काट)–सकर्मक।

(४) ग्रन्थ् ग्रन्थ=(i) सं ग्रन्थाति ग्रन्थाति > प्रा गंठइ > हि गांठे (धा गांठ) —सकर्मक

(ii) सं ग्रथ्यते > प्रा गंठइ > हि गठे (गठ)–अकर्मक। 'गठ' धातु अकर्मक है तथा 'गांठ' सकर्मक है।

सूचना—'ग्रथ' से भूतकालिक विशेषण ग्रथित' बनता है। फिर इसका विकास इस प्रकार होता है—

सं ग्रथित > प्रा गुत्थो > हि. गुथा—(धातु गुँथ) तथा गूथा (धातु 'गूँथ')।

(i) माला 'गुथती' है—अकर्मक।

(ii) माली माला 'गूथता' (गूँथता) है—सकर्मक।

गुथना' और 'गूथना' की भाँति 'गुठना' और 'गूठना' (गौंठना) प्रयोग भी क्रमश क्लीब एवं परस्मैपद के रूप में होते हैं।

(५) गुण्ठ=(i) सं गुण्ठते > प्रा गुठइ > हि गुठे (अकर्मक)।
(ii) सं गुण्ठति > प्रा गुठइ > हि गूठे (सकर्मक)।

(६) टल्=(i) सं टलति > प्रा टलइ (?) > हि टले (अकर्मक)।
प्र र० टाल्=(ii) सं टालयति > पा टालेइ (?) > हि टाले (सकर्मक)।

(७) तुल=(i) सं.तोलति तुलयति तोल्यति > प्रा तुलेति > प्रा० तुलइ > हि. तोले (तोल) सकर्मक।
=(ii) सं तुल्यते > प्रा तुल्लइ > हि. तुले (

(८) स्तम्भ्=(i) स्तभ्नोति स्तभ्नाति > प्रा
—सकर्मक

(ii) सं स्तभ्यते 7 प्रा थमइ 7 हि. थँभे (थँम)—अकर्मक।

सूचना—'स्तंभ्' धातु से भूतकालिक विशेषण स्तब्ध बनता है जिसका प्रा० रूप 'थड्ढ' 7 हि. 'ठाढ़ा' बना है। खड़ी बोली में 'ठाढ़ा' शब्द प्रयुक्त नहीं होता। यह ब्रज मारवाड़ी आदि का शब्द है। हिन्दी में आजकल 'खड़ा' शब्द इसके स्थान पर प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

स्कम्=सं स्कब्ध (भू० का वि) 7 पा० 'खड्ढ'। यही हिन्दी में खड़ा' रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में इसके साथ होना' तथा करना' सहायक क्रियाओं का प्रयोग होता है, जैसे-'खड़ा होता है' खड़ा किया' आदि।

(९) नि+वृत् (निवृत्)=सं निवर्तते 7 प्रा० णिअत्तइ (णिवट्टइ) 7 हि. निबटे, निबड़े (धा० निबट, निबड़) अकर्मक।

सूचना—'निबड़ना' शब्द का संबंध निपत्' धातु से भी जोड़ा जा सकता है जिसका अर्थ है समाप्त' होना 'खत्म होना'। व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है—

निपत्=(i) सं निपतति 7 प्रा० णिवडइ 7 हि. निबड़े।

=(ii) सं निपातयति 7 प्रा० णिवाडेइ 7 हि. निबाड़े या निबड़ाय निबराये निबटाये (सकर्मक)। प्रयोग देखिये —

'बू द बू द सौं घट भरे, टपकत निबड़े तोय।"

(१०) वि+घट=(विघट)=(i) सं विघटते 7 पा० विघटति 7 प्रा० विघडइ 7 हि. बिगड़े (धा० बिगड़)—अकर्मक।

=(ii) सं विघटयति 7 पा० विघाटेति 7 प्रा० विघाडेइ 7 हि बिगाड़े (धा बिगाड़)सकर्मक।

हिन्दी में अनेक बहुत-सी सामान्य क्रियाएँ ऐसी हो सकती हैं जिनका संबंध किसी प्राकृत धातु से निश्चित रूप से नहीं जोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी क्रियाएं भी हैं जिनका स्रोत प्राकृत में मिलता है किन्तु संस्कृत में प्रचलित धातुएँ, नहीं मिलतीं जिन से उनका संबंध जोड़ा जा सके। संभवत ये आर्यों की लोक भाषा के साथ-साथ उसमें सुरक्षित न रहकर भी आज तक जीवित चली आ रही हैं। कुछ धातुएं धातु पाठ में तो मिल जाती हैं किन्तु साहित्य में नहीं मिलतीं। नीचे कुछ ऐसी क्रियाओं के उदाहरण दिये जाते हैं—

पा० मद्दति 7 प्रा० मद्दइ (?) 7 हि. मादे (धा० माद')।

प्रा० सड्ड (?) 7 हि. सड़े ('सड़')—अलीक प्रयोग।

अंग्रेजी load क्रिया को हिन्दी की इस क्रिया के साथ रखकर दोनों के सामान्य स्रोत का अनुमान किया जा सकता है। संदिग्ध अथवा अज्ञात अन्येय क्षीण स्रोत वाली धातुएं नीचे दी जाती हैं—

१ खोद=(i) (सं ?) 7 पा० खोडेति (?) 7 प्रा० खोडइ (?) 7 हि. खोदे (धा० खोद)।

खुद=(ii) (सं ?) पा खोडेति (१) 7 प्रा खोडेइ (?) 7 हि. खुदे (धा० खुद)।

२ (i) भिट=संभवतः यह धातु स्पृश्' धातु के भूतकालिक विशेषण 'स्पृष्ट' से लोक भाषा में 'फिट्ट', 'भिट्ट' हो कर 'भिट' बना हो। 'भिटना' का अर्थ अब भी 'स्पर्श' करना या छूना होता है जैसे 'तुम गंदे आदमी से क्यों भिटते हो ?'

(ii) भेट, भेंट=भेंटना का अर्थ भी 'मिलना' 'स्पर्श करना' आदि होता है। विवाह के अवसर पर मिलाप-भेंट' प्रसिद्ध है। उसमें एक दूसरे से मिलते हैं। इस शब्द का प्रयोग बराबर वालों से मिलना होता है जबकि भिटना का प्रयोग बचने योग्य से मिलने के अर्थ में होता है और यह केवल 'स्पर्श' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'भिट अकर्मक धातु है और भेंट' भी अकर्मक ही है। दोनों में स्वर-भेद भी है और अर्थ—भेद भी है। जिस किसी धातु से इसकी व्युत्पत्ति मानी जाये, अन्तर स्पष्ट है।

३ भिड़=(i)सं० भिद्यते 7 प्रा० भिडइ, (? 7 हि० भिडे भिड़े (भिड़)।
भेड़=(ii) सं० भेदयति 7 प्रा० भेडइ, भेडेइ, भेडेइ (?) 7 हि० भेडे भेड़े (भेड़)।

संस्कृत 'भिद्' धातु के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ 'भीतर घुस जाना' या 'प्रविष्ट हो जाना' भी है जैसे- आँखों में रस भिद गया है। यह अर्थ आज तक चला आ रहा है। इसका अर्थ भिड़ जाना' भी हो गया है। दो प्रयोगों से अर्थ को समझा जा सकता है— (१) दोनों सेनाएँ एक दूसरे से भिड़ गयीं। (२) सब लोग इतने भिड़कर खड़े हो गये कि साँस घुटने लगा।

इन दोनों प्रयोगों में 'भिड़ना का अर्थ अति सामीप्य है किन्तु पहले प्रयोग में 'समीप से लड़ना' भी स्पष्ट है। 'तू मुझसे क्यों भिड़ता है में लड़ना अर्थ ही

प्रचित है यद्यपि 'समीप आना' अर्थ भी इसमें सन्निहित है। इसी धातु से हिन्दी संज्ञा 'भीड़' बनी है जिसका अर्थ 'समूह' है।

अपने अकर्मक प्रयोग में 'मिटना' और 'भिड़ना' एक ही अर्थ देते हैं जैसे—'कोटा लिखने से मिट गया। 'किवाड़' भिड़ गयीं। 'मिटना' का सकर्मक प्रयोग नहीं होता। कभी कभी सकर्मक प्रयोग में 'मिट' धातु 'मेट' रूप में ही प्रयुक्त होती है। 'भिड़' धातु का अकर्मक प्रयोग ही होता है जैसे—'योद्धा से योद्धा भिड़ गया'। भिड़ का सकर्मक प्रयोग 'भिड़ा' में होता है जैसे—वह राम को मुझसे भिड़ाता है। 'भिड़ना' से भिड़ाना सकर्मक तथा 'भिड़वाना' प्रेरणार्थक रूप बनते हैं। 'भेड़' का प्रयोग सकर्मक रूप में होता है—जैसे'उसने किवाड़ भेड़ीं'। 'भेड़ना' का दूसरा सकर्मक रूप 'भिड़ाना' तथा प्रेरणार्थक 'भिड़वाना' होता है।

४ मिट=(i) सं॰मृष्टे 7 प्रा॰ मिटइ (?) 7 हि॰ मिटे (मिट) अकर्मक।

मेट=(ii) सं॰ मार्ष्टि 7 प्रा॰ मेटइ (?) 7 हि॰ मेटे (मेटा) सकर्मक।

'मेटा' का एक रूप 'मिटा' भी बनता है अतएव सकर्मक रूप में 'मेटना' और 'मिटाना' दोनों क्रिया-पद काम में आते हैं। बीम्स आदि विद्वानों ने मिट' को 'भृश्' धातु से संबद्ध किया है, किन्तु मुझे यह 'मृज् धातु से व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। 'मृद्' का अर्थ 'बिगाड़ना' साफ करना मिटाना होता है और 'मृष्' का 'पकड़ना', मलना' आदि होता है। 'मिटना' में 'मृज्' धातु ही है क्योंकि उसके 'मार्ष्टि', 'मृष्टे' रूप ही अपने संबंध की घोषणा करते हैं।

५ पिट—सं॰ पिष्ट (भू कि) 7 पा पिट्ट 7 प्रा पिट्ट (पिट्टिम एव बेवं लिलवालेहि) 7 हि॰ पिट (क्लीब-अकर्मक)।

पीट=इसका स्रोत भी 'पिष्ट' ही है। यह सकर्मक प्रयोग है।

इसका प्रेरणार्थक प्रयोग 'पिटवा' (पिटवाना) होता है। 'पिटा' (पिटाऊँगा) जैसे प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

कुछ लोग 'पिट' और 'पीट' शब्दों को 'पीड' से संबंधित करते हैं किन्तु 'ड' से 'ट' के परिवर्तन का कोई आधार नहीं मिलता है।

'पिट' का संबंध 'पिष्ट' (भू कि) से जोड़ना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। पिष् धातु से 'पिस' और 'पीस' धातुएं हिन्दी में प्रयुक्त होती हैं। 'पिस अकर्मक प्रयोग है 'पीस' सकर्मक प्रयोग है तथा इनके प्रेरणार्थक रूप 'पिसा' और 'पिसवा' बनते हैं। इनसे 'पिसाना' एवं 'पिसवाना' क्रियाएं बनती हैं।

६ भेट भोट—कुछ विद्वान इसको संस्कृत 'वी' से संबंधित करते हैं और

'सीखते है 'सेटइ' की कल्पना करते हैं। मेरी समझ में ये धातुएं 'मुट्' या 'सुट्' से ही व्युत्पन्न हुई हैं। 'मुट्' धातु से 'मोटति' तथा मुट्यति' रूप बने हैं जिनसे 'मोट' की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जा सकती है—

मोटति > प्रा० मोटइ > हि० मोटे (धा० मोट)।

मुट्यति > प्रा० मुट्टइ > हि मोटे (धा० मोट)।

'मुठ' धातु से भी व्युत्पत्ति मिलती-जुलती ही है।

मुठति मुठ्यै > प्रा० मुठइ > हि मुठे मोटे मोटे (धा० मोट)।

'मोट' धातु के प्रेरणार्थक रूप 'मुटा' 'मुटवा' (मुटाना मुटवाना) बनते हैं। 'मोट' से ही स्वर परिवर्तन की प्रक्रिया से मेट' हो गया प्रतीत होता है।

हिन्दी की कुछ थोड़ी सी धातुएं चकारान्त भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति के संबंध में कुछ मत-भेद है। बेच खेंच (खींच) पहुँच आदि। संभवत ये धातुएं संस्कृत के भू० का० विशेषणों से व्युत्पन्न हुई हैं यथा—

१ बेच > संस्कृत विक्रीत।

२ खींच खैंच > संस्कृत कृष्ट।

३ पहुँच (पहुँत—कबीर) सं प्रभूत।

जिस प्रकार 'पहुँच' में 'त' से 'च' का परिवर्तन हुआ है उसी प्रकार 'खींच' (खैंच) तथा 'बेच' में क्रमश: 'ट' और 'त' से 'च' का परिवर्तन हुआ है।

संभवत बोलियों में प्राकृत काल में भी इन विशेषणों में कहीं 'त' और 'ट' के स्थान पर 'च' रहा हो किन्तु ऐसे प्रयोगों के प्रमाण साहित्य में नहीं मिलते।

हिन्दी की कुछ आधुनिक धातुएं 'जकारान्त' हैं। जिस प्रकार संस्कृत के 'त्य' से हिन्दी 'च' का जन्म हुआ है उसी प्रकार संस्कृत के 'द्य' से हिन्दी 'ज' का उदय हुआ है जैसे—

(१) भेज—सं भिद्यते > प्रा भिज्जइ > भिजे परस्मैपदीय 'भेजे'। हिन्दी मे 'भेज' धातु का ही प्रयोग मिलता है 'भिज' का नहीं।

(२) बज—सं वाद्यते > पा वज्जते प्रा वज्जइ > हि. बाजे (आधुनिक हिन्दी में 'बजे' होता है) अकर्मक।

प्रेर० सं वादयति > पा वादेति > प्रा वाजेइ > हि. बजाए (धा बजा) सकर्मक।

(३) उपज—सं उत्पद्यते > उप्पज्जइ, उपज्जइ > उपजे (धा० उपज) अकर्मक।

उपजा—उत्पादयति > प्रा उप्पाजेइ > हि उपजाए (धा उपजा) सकर्मक।

(४) बीज=पं० सिव्यते 7 प्रा० 'सिज्जइ' हि० सीझे (धा० सीज) अकर्मक।
सिजा=सं० सेवयति 7 प्रा० सेअमइ 7 हि० सिजाये (धा०सिजा) प्रेरणार्थक सकर्मक।

शुद्ध अकर्मक धातुएँ संस्कृत क्लीब क्रियाओं के प्राकृत वर्तमान काल के रूप से तथा प्राकृत की आत्मनेपदीय क्रिया के भूतकालिक विशेषण से बनी हैं तथा प्राकृत ने क्रिया के सब अंगों के लिए एक ही रूप स्वीकार किया और वही रूप प्राय अपरिवर्तित दशा में आज हिन्दी में भी चला आ रहा है। इन तीनों प्रक्रियाओं के प्रकार क्रमश 'हो' 'बैठ' और 'उठ' हैं।

हिन्दी की शुद्ध सकर्मक धातुएँ प्राकृत की परस्मैपदीय क्रियाओं के वर्तमान काल से बनती हैं और वे भले ही संस्कृत के भ्वादि गण की न भी हों तथा प्राकृत में उनके रूप 'भू' की भांति चलते हों या न चलते हों हिन्दी में तो अवश्य ही 'भू' की भांति ही चलते हैं। प्राकृत धातु का एक ही रूप प्राय सब कालों में सुरक्षित रहता है। हिन्दी धातु ने प्राकृत की इसी पद्धति को अपनाया है। 'पढ़' 'कर' आदि धातुओं के रूप इसके साक्षी हैं।

मिश्रित धातुओं में प्रमुखत दो प्रक्रियाएं दृष्टिगोचर होती हैं। यदि प्राचीन भाषाओं में धातु स्वत परस्मैपदीय होती है तो हिन्दी की सकर्मक क्रिया उसी से व्युत्पन्न होती है और उस दशा में हिन्दी की अकर्मक क्रिया संस्कृत आत्मनेपदीय क्रिया के प्राकृत रूप से बनती है जैसे-'छुट'। यदि प्राचीन धातु क्लीब हो तो हिन्दी अकर्मक भी उसी से व्युत्पन्न होती है। साथ ही यहां सकर्मक रूप प्राचीन प्रेरणार्थक से व्युत्पन्न होता है जैसे-'टुट', 'ताड़' या 'मर' 'मार'।

हिन्दी की प्रत्येक क्रिया के संबंध में यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि बहुत सी हिन्दी क्रियाओं के रूप-स्रोत संदिग्ध हैं।

ध्यान रखने की बात है कि हिन्दी में सब धातुओं के लिए एक ही प्रकार के प्रत्यय प्रयुक्त हैं। अकर्मक-सकर्मक धातुओं का अन्तर केवल धातु से ही मालूम हो सकता है। हिन्दी की अनेक बोलियों अथवा मध्यकालीन कविताओं में अकर्मक धातु में भी प्राय दीर्घस्वर मिल जाता है जैसे—

'बीज' 'भीज' आदि में किन्तु सकर्मक क्रिया में प्रेरणार्थक प्रत्यय लगाने से भ्रम के लिए अवकाश नहीं है जैसे 'बीतना' तथा 'बिताना' में।

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि हिन्दी में दो प्रकार की क्रियाएं रह जाती हैं—अकर्मक जैसे मोहन चलता है और सकर्मक 'मैं पुस्तक पढ़ता हूं', 'तू राम को पढ़ाता है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी क्रिया भी व्यवहार में आती

है और वह है प्रेरणार्थक जैसे - मैं राम को पढ़वाता हूँ' 'राम मोहन को कथा सुनवाता है' आदि ।

नीचे कुछ अकर्मक सकर्मक तथा प्रेरणार्थक क्रियाएं दी जाती हैं जिनसे उनके सामान्य रूप का ज्ञान हो सकता है—

अकर्मक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
गिरना	गिराना	गिरवाना
पड़ना	पाड़ना (गिराना)	पड़वाना
लेटना	लिटाना	लिटवाना
×	देना	दिलाना, दिवाना दिलवाना
×	लेना	लिवाना
चलना	चलाना	चलवाना
×	पीना पिलाना	पिलवाना
चढ़ना	चढ़ाना	चढ़वाना
लदना	लादना	लदाना लदवाना
×	पढ़ना पढ़ाना	पढ़वाना
×	रखना राखना रखाना	रखाना, रखवाना
सोना	सुलाना	सुलवाना
होना (हुवाना)	×	×
रहना	×	×
×	देखना दिखाना	दिखवाना
×	करना	कराना करवाना
पिसना	पीसना	पिसाना पिसवाना
हिलना	हिलाना	हिलवाना
फूलना	फुलाना	फुलवाना
×	सुनना सुनाना	सुनवाना
×	सीखना सिखाना	सिखवाना
मिलना	मिलाना	मिलवाना

घिसना	घीसना	घिसाना घिसवाना
बनना	बनाना	बनवाना
फिरना	फेरना, फिराना	फिरवाना
×	सीना	सिलाना सिलवाना
फँसना	फाँसना फँसाना	फँसवाना
×	चखना, चखाना	चखवाना

क्रियाओं की इस 'टेबिल' को देख कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी धातु-पद दो स्वरों तक के हैं जबकि संस्कृत में वे केवल एक स्वर के ही होते थे। यह नियम प्राकृत में ही टूट गया था। इस संबंध में हिन्दी ने प्राकृत का अनुसरण किया है। जिस प्रकार प्राकृत में व्यंजनांत धातु नहीं होती उसी प्रकार हिन्दी में भी व्यंजनांत धातु नहीं है। यद्यपि आजकल ह्रस्वस्वरान्त शब्दों को व्यंजनान्त मानने की प्रवृत्ति से ह्रस्वस्वरान्त धातुएं भी व्यंजनान्त हो जानी चाहिये किन्तु लिखने में ह्रस्वस्वर की सत्ता विलुप्त नहीं हुई है। अतएव हिन्दी धातु-पद ह्रस्वस्वरान्त तथा दीर्घ स्वरान्त दोनों प्रकार के हैं। इनमें अकर्मक तथा सकर्मक दोनों प्रकार के धातु-पद हैं।

'हो' 'सो' जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी के सभी अकर्मक धातु-पद ह्रस्वान्त हैं किन्तु हिन्दी के सकर्मक धातु पद ह्रस्वान्त और दीर्घान्त होने के अतिरिक्त उभयान्त भी हैं जैसे रख चख पीस आदि सकर्मक धातु-पद ह्रस्वान्त हैं तथा चला घुमा लिटा फिरा आदि सकर्मक धातुएँ दीर्घान्त हैं, किन्तु कुछ सकर्मक धातुओं के अन्त में ह्रस्व और दीर्घ दोनों चलते हैं जैसे—

सुन (सुनना)	सुना (सुनाना)
रख (रखना)	रखा (रखना-रखवाली करना)
पढ़ (पढ़ना)	पढ़ा (पढ़ाना)
फेर (फेरना)	फिरा (फिराना)

हिन्दी में एकस्वरीय धातुएं भी हैं, किन्तु उनमें सदैव दीर्घस्वर ही मिलता है जैसे पी दे ले खो धो हो जा रो आदि। इनमें से अन्तिम तीन अकर्मक धातुएँ हैं।

प्रेरणार्थक क्रियाएं हिन्दी में संस्कृत की पद्धति पर नहीं बनती हैं। यहाँ उनका अपना ढंग है। केवल अकर्मक रूप में रहने वाली धातुएं हिन्दी में बहुत थोड़ी हैं। 'हो' 'रह' आदि में उनके रूप को देखा जा सकता है। इन धातुओं के प्रेरणार्थक

रूप नहीं बनते क्योंकि इनसे सकर्मक धातुपद नहीं बन सकते हैं। जिन अकर्मक धातुओं के सकर्मक धातु-रूप भी बनते हैं उनसे प्रेरणार्थक रूप भी बनते है। उदाहरण के लिए 'हिल' अकर्मक धातु है। इसका सकर्मक रूप 'हिला' बनता है। इसका प्रेरणार्थक रूप हिलवा' बनेगा। इसी प्रकार 'सो' (सोना) अकमक धातु है इसका सकर्मक रूप सुला (सुलाना) बनता है अतएव इसका प्रेरणार्थक रूप सुलवा (सुलवाना) बनेगा।

हिन्दी में सकर्मक धातु पदों से ही प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनती हैं। जिन अकर्मक धातु-पदों से सकर्मक धातुपद नहीं बन सकते उनसे प्रेरणार्थक क्रियाएँ भी नहीं बन सकती हैं जैसे—'हो' धातु से सकमक धातुपद नहीं बनता इसलिए इससे किसी प्रेरणार्थक क्रिया के बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार का उदाहरण 'रह' धातु है।

ध्यान रखने की बात है कि सकर्मक क्रियाए दो प्रकार की होती हैं— १ एक-कर्मक (एक कर्मवाली) जैसे—*मैं गीत सीखता हूँ मोहन पुस्तक पढ़ता है* मैं गीत सुनाता हूँ हरि पुस्तक देखता है तथा २ द्विकर्मक (दो कर्मवाली) जैसे—मैं मोहन को गीत सिखाता हूँ, वह मोहन को पुस्तक पढ़ाता है, राम मुझको गीत सुनाता है गीता सोहन को पुस्तक दिखाती है आदि।

पीछे बताया जा चुका है कि सकर्मक धातुएँ तीन प्रकार की होती हैं— ह्रस्वस्वरान्त दीर्घस्वरान्त तथा उभयान्त। दीर्घस्वरान्त तथा उभयान्त अकर्मक धातुपदों से केवल एक ही प्रेरणार्थक क्रियापद बनता है किन्तु ह्रस्वान्त सकर्मक धातुपद से प्रायः दो-दो प्रेरणार्थक क्रियापद बनते हैं।

२ दीर्घान्त सकर्मक धातु-पद एवं प्रेरणार्थक क्रियापद

सुना (सुनाना)	सुनवा (सुनवाना)
हिला (हिलाना)	हिलवा (हिलवाना)
मिटा (मिटाना)	मिटवा (मिटवाना)
फुला (फुलाना)	फुलवा (फुलवाना)

पहले कहा जा चुका है कि अकर्मक और सकर्मक के अतिरिक्त हिन्दी में एक प्रेरणार्थक क्रिया भी होती है, किन्तु हिन्दी में उसके बनने का ढंग अपना है। संस्कृत की अनेक प्रेरणार्थक क्रियाएँ हिन्दी में सकर्मक हो गयी है।

हिन्दी में ऐसी अकर्मक क्रियाओं की बहुलता है। अकर्मक धातुओं का प्रथम वर्ण प्रायः ह्रस्व होता है। यद्यपि ऐसी अकर्मक धातुए भी है जिनका प्रथम वर्ण

दीर्घ होता है जैसे 'खीज', रूठ' 'लोट' आदि किन्तु य धातुएं या तो संस्कृत के के भूतकालिक विशेषण से व्युत्पन्न हैं अथवा किसी नाम (संज्ञा) से । हिन्दी की कुछ धातुएं एक ही स्वर वाली हैं और वह स्वर दीर्घ है। इनमें से अधिकांश धातुएं सकर्मक ही हैं अकर्मक थोड़ी ही हैं जैसे—

सकर्मक	अकर्मक
पी धो खो ले दे	सो हो, रो चू
पै हो बो	

कहा जा चुका है कि 'हो' 'सो' 'रो' जैसे अपवादों को छोड़कर हिन्दी की सभी अकर्मक धातुएं ह्रस्वान्त हैं किन्तु सकर्मक धातुएं ह्रस्वान्त और दीर्घान्त होने के अतिरिक्त उभयान्त भी हैं। इस टेबिल से इस भेद को समझ सकते हैं—

ह्रस्वान्त सकर्मक धातु	दीर्घान्त सकर्मक धातु	उभयान्त
रख चख छील पीस	धो फुला हिला	रख—रखा
	मिला बता	पढ़—पढ़ा
	भुना ले दे	फेर—फिरा
		सीख—सिखा
		देख—दिखा

कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी धातुएं एकाक्षरीय नहीं रह गयी हैं। हिन्दी में 'भू' जैसी 'पी' 'दे' 'सो' 'मै' 'खो' 'धो' 'हो' 'रो' आदि एकाक्षरीय धातुएं भी हैं और 'तड़प' 'मटक' 'भटक' 'सरक' 'फिसल' झलझला 'टिमटिमा' जैसी अनेकाक्षरीय धातुएं भी हैं।

ऐसी अकर्मक धातुएं जिनको प्रेरणार्थक प्रत्यय के साथ भी सकर्मक न बनाया जा सके हिन्दी में 'हो' 'रहा' आदि बहुत थोड़ी सी ही हैं, अन्यथा चलना से चलाना के ढंग से कितनी ही अकर्मक क्रियाएं सकर्मक हो जाती हैं। संस्कृत की प्रेरणार्थक क्रियाओं का स्थान हिन्दी की अनेक सकर्मक क्रियाओं ने लिया है। समझने की सुविधा के लिए अकर्मक सकर्मक और प्रेरणार्थक क्रियाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अकर्मक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
झड़ना	झाड़ना	झड़ाना झड़वाना
गड़ना	गाड़ना	गड़ाना गड़वाना

दबना	दाबना	दबाना दबवाना
डसना	डासना	डसाना, डसवाना
टसना	टासना	टसाना टसवाना
सधना	साधना	सधाना सधवाना
मरना	मारना	मराना मरवाना
छँटना	छाँटना	छँटाना छँटवाना
थमना	थामना	थमाना, थमवाना
लदना	लादना	लदाना, लदवाना
कटना	काटना	कटाना कटवाना
फँसना	फाँसना	फँसाना फँसवाना
छपना	छापना	छपाना छपवाना
चरना	चरना	चराना चरवाना
छुटना	छुटाना	छुटवाना
रटना	रटाना	रटवाना
चलना	चलाना	चलवाना
पिसना	पीसना	पिसाना पिसवाना
पिलना	पेलना	पिलाना पिलवाना
ढिलना	ढीलना	ढिलाना ढिलवाना
छिपना	छीपना	छिपाना, छिपवाना
खिंचना	खेंचना (खींचना)	खिंचाना खिंचवाना
सिंचना	सींचना	सिंचाना, सिंचवाना
भिंचना	भींचना	भिंचाना भिंचवाना
मिचना	मीचना	मिचाना मिचवाना
छिनना	छीनना	छिनाना छिनवाना
घिरना	घेरना	घिराना घिरवाना
पिटना	पीटना	पिटाना पिटवाना
फिरना	फेरना	फिराना फिरवाना
घिसना	घिसना	घिसाना घिसवाना

सिखना	सिखाना	सिखाना, सिखवाना
हिलना	हिलाना	हिलवाना
मिलना	मिलाना	मिलवाना
निभना	निभाना	निभवाना
घुटना	घूटना	घुँटाना घुँटवाना
फुकना	फूकना	फुकाना फुकवाना
ठुकना	ठोकना	ठुकाना ठुकवाना
घुपना	घूपना	घुपाना घुँपवाना
रुकना	रोकना	रुकाना, रुकवाना
खुदना	खोदना	खुदाना खुदवाना
गुँठना	गोंठना गूँठना	गुठाना गुँठवाना
मुँदना	मूँदना	मुँदाना मुँदवाना
घुसना	घोसना	घुसाना घुसवाना
खुलना	खोलना	खुलाना खुलवाना
कुटना	कूटना	कुटाना कुटवाना
मुड़ना	मोड़ना	मुड़ाना मुड़वाना
मुँड़ना	मूँड़ना	मुँड़ाना मुँड़वाना
ढुलना	ढोलना	ढुलाना ढुलवाना
लुटना	लूटना	लुटाना लुटवाना
फुड़ना	फाड़ना	फुड़ाना फुड़वाना
चुँटना	चोंटना चूँटना	चुँटाना चुँटवाना
तुलना	तोलना	तुलाना तुलवाना
कुढ़ना	कुढ़ाना	× कुढ़वाना
झुरना	झुराना	× झुरवाना
झुकना	झुकाना	× झुकवाना
धुपना	धुपाना	× धुपवाना
फूटना	फोड़ना	फुड़ाना फुड़वाना
टूटना	तोड़ना	तुड़ाना तुड़वान

छूटना	छोड़ना	छुड़ाना छुड़वाना
×	छूना	× छुआना
चूना	×	चुवाना
रूठना	रुठाना	× रुठवाना
मूतना	मुताना	× मुतवाना
जूझना	जुझाना	× जुझवाना
घूमना	घुमाना	× घुमवाना
फूलना	फुलाना	× फुलवाना
कूदना	कुदाना	× कुदवाना
सूखना	सुखाना	× सुखवाना
×	टूँगना	टुँगाना टुँगवाना
×	मूँदना	मुँदाना मुँदवाना
×	पूछना	पुछाना पुछवाना
×	सूँघना	सुँघाना सुँघवाना
रेंकना	रेंकाना रिकाना	× रिकवाना
खेसना	खिसाना	× खिसवाना
×	खेंचना	खिंचाना खिंचवाना
भेटना	भुटाना	× भेटवाना
रोना	रुलाना	× रुलवाना
सोना	सुलाना	× सुलवाना
×	बोना	बुवाना ×
×	पोना	पुवाना ×
×	ढोना	ढवाना ×

परिशिष्ट

(क) हिन्दी-पद-क्रम

यह मानी हुई बात है कि भाषा का चरम अवयव वाक्य है। वाक्य में अनेक पद प्रयुक्त होते हैं जो आपस में संबंधित होते हैं। प्रत्येक पद का वाक्य में स्थान होता है इसीलिए कभी-कभी वह शब्द होते हुए भी पद अभिधा का अधिकारी होता है जैसे—'राम घर जाता है' में 'जाता है' क्रियावान् पद है, किन्तु राम और 'घर' भी अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित होने से 'पद' अभिधा को धारण किये हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि चिह्नहीन शब्द भी 'पद' रूप में प्रतिष्ठित होता है।

हिन्दी की पद-योजना प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की पद-योजना से भिन्न है क्योंकि उन भाषाओं में विभक्तियों का प्रयोग होता था अतएव पद ज्ञान विभक्तियों को देख कर ही हो जाता था। इसी कारण शब्दों के आगे-पीछे के प्रयोग का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। जिस प्रकार संस्कृत में 'रामो गृह गच्छति' शुद्ध था उसी प्रकार गच्छति रामो गृहम् 'गृहं रामो गच्छति' अथवा 'गच्छति गृहं रामः' प्रयोग भी शुद्ध है। पूर्वापरता का कोई प्रतिबन्ध पद योजना को शासित नहीं करता। पदों की इतनी स्वतंत्रता संस्कृत गद्य में नहीं थी किन्तु ऐसे प्रयोग गद्य में भी वर्जित नहीं थे। विशेषता यह थी कि पद अपनी इतनी स्वतंत्रता में भी-अर्थ परिवर्तन नहीं होने देता था। हिन्दी गद्य में पद को यह स्वतंत्रता-नहीं मिली है। एक पद दूसरे के आगे-पीछे पहुँच कर अर्थ-परिवर्तन कर लेता है। जहाँ पद अर्थ परिवर्तन नहीं करता वहाँ वह अपने ही स्थान पर होता है और पद-प्रयोग क्रम से शासित होता है।

सामान्यतया हिन्दी वाक्य में कर्ता पहले और क्रिया अन्त में आती है। इन दोनों के मध्य में ही अन्य पद प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं प्रश्नवाचक वाक्यों में प्रश्नवाचक शब्द का प्रयोग सबसे पहले होता है। कुछ पद बलाघात लेकर वाक्य में अपनी स्थिति आगे पीछे भी बना लेते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में बलाघात की सीमा देखी जा सकती है—

(i) कौन रोटी खायगा ?

(ii) रोटी कौन खायेगा ?

(iii) खायेगा कौन रोटी ?

हिन्दी वाक्यों में पद-क्रम को समझने के लिए निम्नलिखित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें अर्थ परिवर्तन की अनेक परिस्थितियाँ भी सामने आयी हैं।

१ वाक्यों में उद्देश्य या कर्ता को सामान्यतया पहले और विधेय या क्रिया को अन्त में रखने का विधान है, जैसे—बालक खाता है।

सूचना—कर्ता या क्रिया चाहे एक हो या अनेक दोनों अपने ठीक स्थान पर आते हैं और जब अनेक हों तब अंतिम कर्ता या क्रिया के पहले 'और' 'या' आदि समुच्चायक अव्यय लगाये जाते हैं जैसे—

(i) राम या घनश्याम आया है।

(ii) निर्मला आयी बैठी और रोयी।

२ प्राय उद्देश्य के विस्तार को उद्देश्य के पहले और विधेय के विस्तार को विधेय के पहले रखने का विधान है, जैसे—

(i) मोला छात्र धीरे-धीरे पढ़ रहा है।

(ii) दीन बालक चुपचाप सोता है।

३ कर्म कारक को सकर्मक क्रिया के पहले और गौण कर्म को मुख्य कर्म के पहले रखते हैं, जैसे—

(i) राम ने दरिद्रों को वस्त्र दिये।

(ii) शास्त्री जी ने अपने सेवक को मधुर शब्द कहे।

४ करण संप्रदान अपादान और अधिकरण—ये चार कारक कर्ता और कर्म के मध्य उलटे क्रम से प्रयुक्त होते हैं अर्थात् पहले अधिकरण फिर अपादान फिर संप्रदान और बाद में करण जैसे—

(i) राम ने घर में सन्दूक से मोहन के लिए अपने हाथ से पुस्तक निकाली।

सूचना—एक साथ अनेक अधिकरण आने पर पहले कालाधिकरण का प्रयोग किया जाता है जैसे—

(i) रात में घर में सन्नाटा छा रहा था।

(ii) शीत में भी आकाश में मेघ छा रहे हैं।

५ वाक्य में सामान्यतया सम्बोधन का प्रयोग सबसे पहले होता है, जैसे—

(i) हे राम मेरी भी सुधि लीजिये।

(ii) दीनानाथ कहाँ गये?

६ संबंधी के पहले संबंध, विशेष्य के पहले विशेषण और क्रिया के पहले क्रियाविशेषण का प्रयोग किया जाता है, किन्तु विधेय विशेषण और उपाधिसूचक विशेषण विशेष्य के बाद में आते हैं जैसे—

(i) सिंह का वीर सैनिक अच्छे घोड़ों को जानता है।

(ii) राम का पुत्र सुशील है।

(iii) रामबली उपाध्याय आयमे हैं।

सूचना—(क) विशेषण का विशेषण उसके पहले आता है जैसे—

(i) मोहन का पुत्र अत्यन्त सुन्दर है।

(ii) यहाँ बहुत अच्छा घोड़ा आगया है।

(iii) बड़ा भारी वृक्ष सड़क पर पड़ा है।

(ख) संबंधी का विशेषण संबंध के पहले नहीं आना चाहिये, किन्तु भ्रम की आशंका न होने पर यह क्रम रह सकता है जैसे—

(i) आश्रम की शीतल मन्द और सुरभित वायु श्रम का अपहरण करती है।

(ii) सरोवर के निकट शाल्मली का एक बड़ा भारी वृक्ष था,

वा—(सरोवर के निकट एक बड़ा भारी शाल्मली का वृक्ष था)।

(ग) जब एक ही विशेष्य के कई विशेषण एक साथ आयें तो अंतिम विशेषण के पहले और 'वा इत्यादि समुच्चयवाचक अव्यय प्रयुक्त होते हैं जैसे—

(i) महाराज यह पुरुष सकलशास्त्रवेत्ता राजनीतिज्ञ वक्ता चतुर, सकल कलाभिज्ञ महाकवि और गुणी है।

(घ) 'केवल सिर्फ प्रधानता, कठिनता से इत्यादि शब्द जिसके पहले आते हैं उसकी विशेषता बतलाने लगते हैं। इनका प्रयोग करते समय विशेष ध्यान की आवश्यकता है, अन्यथा अनर्थ हो सकता है, जैसे—

(i) केवल राम पत्र को पढ़ सकता है।

(ii) राम केवल पत्र को पढ़ सकता है।

(ङ) यदि एक संबंधी के कई अधिकारी हों तो संबंध के चिह्न को संज्ञा रहने पर अंतिम अधिकारी के आगे और सर्वनाम रहने पर सभी अधिकारियों के आगे आते हैं जैसे—

(i) यह माधुरी और सरला की माँ है।

(ii) यह मेरा और तुम्हारा घर है।

(च) संबंध के समानाधिकरण में कई संज्ञाओं के रहने पर भी संबंध का चिह्न केवल अंतिम संज्ञा के आगे आता है, जैसे—

(i) यह गोयल साहब स्वामीय कलक्टर और मजिस्ट्रेट की चिट्ठी है।

(छ) क्रिया की पूर्ति (पूरक) उसी के पहले आती है जैसे—

(i) लड़का चोर निकला।

(ii) मोहन चन्द्र बन गया।

• (ज) प्रश्नवाचक शब्द को उसी के पहले रखना चाहिये जिसके विषय में मुख्यतः प्रश्न किया जाता है जैसे—

(i) वह कौन आदमी है ?

(ii) राम कैसी रोटी बनाता है ?

(iii) मोहन कौन से घर पर पड़ गया ?

(iv) क्या राम रोटी बनाता है ?

इन वाक्यों में प्रश्नवाचक शब्द के स्थान भेद के कारण अर्थ भेद हो गया है।

(ख) यदि पूरा वाक्य ही प्रश्न हो तो प्रश्नवाचक शब्द वाक्य के आरंभ में रखा जाता है जैसे—

(i) क्या आपको नहीं करना था ?

(ii) क्या आपने सोचा नहीं था ?

सूचना—कभी-कभी वाक्य में प्रश्नवाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता तो प्रश्न सूचक चिह्न से ही काम चल जाता है।

(i) मुझे ठहरना होगा ?

(ii) कुछ पूछना चाहते हो ?

(ग) (क) पूर्वकालिक क्रिया समापिका क्रिया के पहले आती है, जैसे—

(i) राम खाकर पढ़ता है ?

(ii) मोहन सोकर पढ़ता है

(ख) पूर्वकालिक और समापिका दोनों क्रियाएं अपने-अपने विस्तारों को अपने से पहले रखती है जैसे—

(i) सीता होटल में भोजन करके पुस्तकालय में अच्छी तरह पुस्तकें पढ़ती है ।

(ii) राम ध्यानपूर्वक पुस्तक पढ़कर संक्षिप्त रूप में लिख लेता है ।

(ग) यदि पूर्वकालिक और समापिका दोनों क्रियाओं का एक ही विस्तार हो तो उसे पूर्वकालिक क्रिया से पूर्व ही रखा जाता है जैसे—

धर्मेन्द्र ने कॉलेज में मेरी पुस्तक लेकर पढ़ी ।

६. विस्मयादिबोधक शब्द को प्राय वाक्य के आरंभ में रखा जाता है, जैसे—

(i) वाह ! आपने तो कमाल कर दिया ।

(ii) छिः ! उसने राम को मार डाला ।

१ वाक्य-गत पदों में जो पद जिसके साथ अन्वित हो उसको यथासंभव उसी के पास रखना चाहिये जैसे—

(i) देवमन्दिर घर के आगे है।

(ii) मोहन के पीछे और श्याम के आगे राम धीरे-धीरे चला गया।

सूचना—ऊपर क्रम-निर्णय के जितने नियम दिये गये हैं वे मुख्य हैं किन्तु उनका निर्वाह सभी भाँति नहीं होता। कारण ये हैं—

(१) वाक्य के जिस पद की प्रधानता दिखानी होती है उसे पहले रखते हैं। इससे अन्य वाक्यांशों में भी क्रम-परिवर्तन हो जाता है जैसे—

(i) क्रिया कर्ता से पहले—

जाता तो हूँ मैं आप क्यों दुःखी होते हैं ?

(ii) पूर्वकालिक क्रिया कर्ता से पहले—

(अ) मुझे देखकर वह कमरे में घुस गया।

(आ) साँप देखकर सभी डर जाते हैं।

(iii) कर्म पहले—

(अ) तुम्हीं को वह बुला रहा है।

(आ) उसीको मैं मारूँगा।

(iv) करण पहले—

(अ) छुरी से उसने हाथ भी काट लिया।

(आ) घी से वह नहा लिया।

(v) सम्प्रदान पहले—

(अ) आपके लिए मैंने काफी जोर से लिख दिया है।

(आ) तुम्हारे लिए मैं क्या नहीं कर सकता ?

(vi) अपादान पहले—

(अ) झूले से वह गिरी कि सखियों ने उसे बीच ही में सँभाल लिया।

(आ) छत से गिरते ही उसके प्राण निकल गये।

(vii) सम्बन्ध पहले—

(क) मेरी तो आपसे कोई पुस्तक नहीं पड़ी।

(ख) राम का तो वह सगा भाई है।

(viii) अधिकरण पहले—

(क) तिल में तेल है।

(ख) बातों में कुछ सार है।

(ix) अन्य शब्द संबोधन से पहले—

सुनते हो बच्चो ! अभी आना है।

(x) क्रियाविशेषण पहले—

अभी-अभी मैंने भोजन किया है।

(xi) क्रियाविशेषण कर्म के पहले—

यह भली भाँति आपको पहचानता है।

(xii) विषय विशेषण पहले—

सच्चे और निडर तो तुम्हारे सभी काम समझे जाते हैं।

(xiii) और तो उसका भीतर निकला, मोहन का क्या अपराध है ?

२. कविता में अनेक पदों और विभक्ति-चिह्नों ... का भी स्थान परिवर्तन हो जाता है जैसे—

जो प्राणी भी प्रभु ब्रज के नाम जो बैठे न
तो पाने की न मधुरस में बात ही न बनाने ॥

(द्विजराम)

पदों की पूर्वापरता से अर्थ में जो परिवर्तन आ जाता है यह हिन्दी भाषा की अपनी विशेषता है। हिन्दी की इस विशेषता को उर्दू ने भी स्वीकार किया है।

हिन्दी में यह विशेषता विकास क्रम से आयी है। पद-क्रम-संबंधी विशेषता का बीज अपने अति सूक्ष्म रूप में भले ही संस्कृत भाषा में ही निहित रहा हो किन्तु चिह्नरहित शब्दों को भी सचिह्न शब्दों के समान ही उचित स्थान की उपलब्धि हिन्दी के जनतन्त्रीय स्वरूप की गरिमा है। यह विशेषता किसी देन की भाँति नहीं आ पड़ी है वरन् इसका धीरे-धीरे विकास हुआ है।

विभक्ति-प्रयोग में निरपेक्षता की प्रवृत्ति तो पालि युग से ही आ गयी थी। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति का विकास हुआ जिसकी चरम स्थिति हमें आज अपनी भाषा में दिखायी दे रही है। क्रिया पदों में भी इस निरपेक्षता का साक्षात्कार होता है।

कुछ लोग इस प्रवृत्ति के विकास में फारसी का योग मानते हैं जो मेरी समझ से नहीं है। कुछ अन्य लोग इस विकास में उर्दू का योग घोषित करते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि से तो उर्दू स्वयं इसके लिए हिन्दी की ऋणी है क्योंकि उर्दू का विकास हिन्दी से हो तो हुआ है।

(ख) भाषा और चिह्न

भाषा के रूप को समझने-समझाने में कुछ चिह्नों का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इनको स्थूलरूप में विराम चिह्न कहते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में इन चिह्नों के प्रयोग की प्रथा नहीं थी। जब लेखक के मन में आती थी तब वह थोड़ा स्थान देकर उससे पूर्णविराम का काम ले लेता था। कभी-कभी तो भाषा में इस स्थान (अवकाश) का भी लोप कर दिया जाता था। इससे पाठक की बोध-शक्ति की परीक्षा भी चलती थी।

हिन्दी में विराम चिह्नों के विकास का इतिहास हिन्दी-लेखकों के अंग्रेजी अनुकरण की कहानी में निहित है। भाषा की अर्थमूलक स्पष्टता में इन चिह्नों का प्रमुख योग होता है।

विराम-चिह्नों के क्षेत्र में हमने अंग्रेजी का अनुकरण अवश्य किया है, किन्तु हिन्दी की प्रकृति में वह कहीं अन्धानुकरण ही दृष्टिगोचर होता है। अन्धानुकरण के अनेक कारणों में से एक लेखक की भ्रान्ति भी हो सकती है। विराम-चिह्नों के ज्ञान के अभाव से भाषा में अर्थ भ्रम की अनेक परिस्थितियाँ बन जाती हैं जो कभी-कभी बड़ी भयंकर सिद्ध होती हैं।

भाषा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाषा का स्वरूप निर्माण वाक्यों में होता है अतएव भाषा में वाक्य का सर्वाधिक महत्त्व है। भाषा के दो रूप होते हैं—(१) भाषित और (२) लिखित।

जब बोलने वाला बोलता है तो उसका ध्यान इस बात पर अवश्य रहता है कि सुनने वाले उसकी बात को ठीक-ठीक समझें। इसलिये वह कहीं जोर देकर बोलता है और कहीं ठहर कर। आशय यह है कि सामने वाला बोलते समय सुनने वाले या सुनाने वालों को अपनी बात समझाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है। वह अपने आशय के प्रेषण में हाथ मुंह आँख, भौंह आदि के संकेतों का भी उपयोग कर लेता है।

भाषा के लिखित स्वरूप में लेखक को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। फिर भी उसने कुछ चिह्न निर्धारित कर लिये हैं जो उसका अभिप्राय समझने में पाठक की सहायता करते हैं। इन चिह्नों का प्रयोग वाक्य में होता है और प्रमुखतः इसके तीन उपयोग हैं —

(१) ठीक-ठीक विराम (ठहराव) के साथ पढ़ने में सहायता मिलती है

(२) पदों, वाक्यांशों और खण्ड-वाक्यांशों का पारस्परिक सम्बन्ध सूचित होता है तथा

(३) उनके अर्थ की सही अवगति होती है।

ये चिह्न दो कोटियों में प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

(क) विराम – (ठहराव) चिह्न

(१) अल्पविराम (Comma) ( )-जितना समय 'एक' के उच्चारण में लगता है उतना ही समय इस चिह्न पर ठहरने में लगाना चाहिये।

प्रयोग —

इस चिह्न का प्रयोग अधिक नहीं किया जाता। इसके प्रयोग के कुछ नियम ये हैं —

(1) यदि कई शब्द पद वाक्यांश या लघुवाक्य एक ही अवस्था में हों तो अन्तिम को छोड़ कर शेष के साथ अल्पविराम लगाया जाता है किन्तु अन्तिम के पहले प्रायः और या इत्यादि समुच्चायक अव्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे :—

(अ) राम श्याम और मोहन ने भवन निर्माण में अपना पूरा योग दिया।

(आ) धर्म और कला की शिक्षा प्राप्त कर प्राचीन काल का शिष्य जितेन्द्रिय सत्यवादी परोपकारी दयालु और विवेकी हो जाता था।

(इ) उनका यहाँ रहना लोगों से मिलना सामाजिक गति-विधियों से परिचित रहना और फिर राजनीति में सक्रिय भाग लेना भयावह है।

(ई) यदि आप अपने पुत्र को पढ़ाने का समुचित प्रबन्ध न करेंगे तो वह आलसी बन जायेगा उसका समय व्यर्थ जायेगा उसकी उन्नति बाधित होगी और वह समाज में मूर्ख नाम से अनादृत होगा।

(उ) इस बात को भला कौन नहीं जानता कि माता पिता गुरु आदि सभी बड़े पूज्य हैं।

(ऊ) जहाँ अर्थ में बाधा पड़ने की संभावना हो वहाँ अल्पविराम अर्थ को स्पष्ट कर देता है, जैसे—राजा देश का हो या विदेश का उसका प्रमुख कर्तव्य प्रजा में विद्या का प्रचार और प्रसार करना है।

(ऋ) संबोधन के बाद में और यदि संबोधन वाक्य के बीच में हो तो उसके पहले भी अल्पविराम का उपयोग किया जाता है जैसे—

(i) बालको, बड़ों का आदर करो।

(ii) चाहे राम आये या न आये, मोहन तुम्हें तो आना ही होगा।

(ऋ) यदि दो परस्पर अन्वित पदों को कोई पद वाक्यांश या लघु वाक्य के बीच में आकर अलग कर दे तो उनके दोनों ओर अल्पविराम प्रयुक्त होता है, जैसे—

(i) रामदीन, जिसे सब जानते हैं बहुत भोला लड़का है ।
(ii) मेरा घर आपके पदार्पण से आपकी बुढ़ाई, पवित्र हो जायेगा ।
(iii) उसी दिन तो जब मैं पुस्तक में संशोधन कर रहा था, आपसे भेंट हुई थी ।

(स) नित्य सम्बन्धी शब्दों के प्रत्येक जोड़े को दूसरे शब्द के लुप्त होने पर अल्पविराम का प्रयोग आवश्यक होता है जैसे—
 (1) यदि आप मार्ये मोहन को लेते आइये । ('तो'-लुप्त है ।)
 (ii) वह जहाँ जाता है बैठा रहता है । ('वहाँ'-लुप्त है ।)

(ल) 'वह' 'यह' के लुप्त होने पर अल्पविराम का प्रयोग किया जाता है जैसे—
 (i) कब छुट्टी मिलेगी (यह) मैं कह नहीं सकता ।
 मनुष्य जो करता है (वह) सुख के लिए करता है ।

(ए) किसी की उक्ति के पहले अल्पविराम का प्रयोग किया जाता है, जैसे—
 राम ने कहा 'मैं परसों जाऊंगा ।"

सूचना—ऐसी जगह अल्पविराम के बदले निर्देशक-चिह्न का प्रयोग भी किया जाता है जैसे—
 राम ने कहा— 'मैं परसों जाऊंगा ।"

(ऐ) यदि कोई उपवाक्य 'वरन्' 'पर' 'परन्तु' 'किन्तु' 'लेकिन' इसलिये 'तो भी' 'कारण' या इसी प्रकार के किसी अन्य शब्द या संस्कार से प्रारंभ हो तो उसके पहले अल्पविराम लगाया जाता है जैसे—
 (i) माँ बालक को व्याकरण के नियम नहीं सिखाती वरन् बात समझा देती है ।
 (ii) पहले-पहल केवल बोली हुई भाषा का प्रचार था पर पीछे से विचारों को स्थायी रूप देने के लिये कई प्रकार की लिपियाँ निकाली गयीं ।
 (iii) लिखित प्राकृत का विकास रुक गया, परन्तु कथित प्राकृत विकसित अर्थात् परिवर्तित होती गयी ।
 (iv) बेसन की चीजें खाने में तो अच्छी लगती हैं, परन्तु वे पेट को खराब कर देती हैं ।
 (v) आज 'आसुवाच' की मूल भाषा का पता नहीं लगता क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय प्रयोगों में उसकी एकरूपता नष्ट हो गयी है ।

(vi) राम रो रहा है, कोई नहीं सुनता ।

(vii) हिमालय भारत के किसी एक प्रदेश की निधि नहीं है समग्र देश की निधि है ।

(viii) आप दौड़-धूप न कीजिये किसी फल की आशा नहीं है ।

(घी) वाक्य के आरम्भ में आने वाले पद या वाक्यांश में पहले के किसी विषय के आने की सम्भावना हो तो अल्पविराम का प्रयोग किया जाता है, जैसे—

(i) हाँ एक-एक गुण का अभ्यास करके लोग अपने को गुणालंकृत कर सकते हैं ।

(ii) बस एक सत्य का आश्रय ग्रहण करने से अन्य गुण अपने आप आने लगते हैं ।

(iii) मोहन ने सोहन को अवश्य ही पट्टी पढ़ा दी है अन्यथा वह ऐसी बातें न करता ।

(घी) हाँ और 'नहीं' जब स्वतन्त्र स्वीकार वाचक या निषेधवाचक अव्यय के रूप में प्रयुक्त हों तो उनके बाद भी अल्पविराम का प्रयोग किया जाता है जैसे—

(i) हाँ मैंने उसको समझा दिया है ।

(ii) नहीं सीता को विशेष मैं कुछ नहीं कहा ।

(म) ठहराव के कारण अन्य स्थानों पर भी अल्पविराम का उपयोग किया जा सकता है जैसे—

(i) क ख ग घ इत्यादि ।

(ii) दूसरा पाँचवाँ और सातवाँ भाग ही उपयोगी है ।

(iii) चिन्मय प्रकाशन चौड़ा रास्ता जयपुर ।

२ अर्द्ध विराम (Semi-colon) — ( )

जहाँ यह चिह्न होता है वहाँ अल्पविराम की अपेक्षा कुछ अधिक काल तक ठहरना होता है ।

प्रयोग—

(क) जहाँ अल्पविराम की अपेक्षा कुछ अधिक काल तक ठहरना हो वहाँ अर्द्धविराम' का उपयोग होता है ।

जहाँ एक वाक्य या वाक्यांश के साथ दूसरे का दूर का सम्बन्ध बताना हो वहाँ इस चिह्न का प्रयोग होता है जैसे—

(i) व्यवसाय बन्द है वाणिज्य बन्द है कृषिकाम बन्द है चारों ओर हा-हा-कार हो रहा है ।

(ii) पृष्ठ संख्या ३००, आकार मझोला, छपाई और कागज उत्तम, जिल्द बंधी हुई मूल्य ३) रुपया।

(iii) वे मेरी चिट्ठी साफ हजम कर गये डकार तक न ली।

(क) विभिन्न समुदायों के पश्चात् (अंतिम को छोड़ कर) अर्द्ध विराम और एक ही समुदाय की विभिन्न वस्तुओं के नामों के पश्चात् (अंतिम को छोड़ कर) अल्पविराम का प्रयोग होता है, अंतिम समुदाय और एक समुदाय की अंतिम वस्तु के नाम से पूर्व 'और' 'या' आदि 'संयोजक' या 'विभाजक' का प्रयोग होता है जैसे—

राम श्याम और घनश्याम सीता नीता और सुलेखा पटवारी कानूनगो और तहसीलदार तथा पुलिसमैन, थानेदार और डी० एस० पी०, सब चर चले गये।

(ग) एक वर्ग के व्यक्तियों या एक वर्ग की वस्तुओं की कार्य प्रणाली, अवस्था स्थिति आदि का पार्थक्य या भेद दिखाने के लिए भी अर्द्ध विराम का प्रयोग किया जाता है जैसे—

(i) राम श्याम और घनश्याम तो चले गये दिनेश मोहन और गोपाल अभी नहीं हैं।

(ii) रामायण गीता और भागवत में तो यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है हां कामायनी में नहीं है।

(घ) एक वाक्य में कही गयी बात का दूसरे वाक्य की बात से विरोध दिखाने के लिए भी दोनों के बीच में अर्द्ध विराम का प्रयोग किया जाता है, जैसे—

(i) आप नहीं जानते, न सही वे तो जानते हैं।

(ii) आप कहते जाइये, सुनाते जाइये किन्तु वह मानने वाला नहीं है।

सूचना—(अ) बहुत से विद्वान् अर्द्ध विराम की जगह अल्पविराम या पूर्ण विराम से ही काम ले लेते हैं जैसे—

(i) आपका दोष नहीं है। दोषी मैं हूं।

(ii) राम जाता है, श्याम जाता है किन्तु घनश्याम नहीं जाता।

(आ) कुछ विद्वान् पर परन्तु, किन्तु इसलिए, क्योंकि लेकिन तो भी कारण आदि के पहले भी अर्द्ध विराम का ही प्रयोग करते हैं।

३ अपूर्ण विराम (Colon)—(:)

जिस स्थान पर यह चिह्न आता है वहां अर्द्ध विराम की अपेक्षा कुछ अधिक काल तक ठहरना होता है। अकेले अपूर्ण विराम से विसर्ग का भ्रम होता है इसलिए उसके आगे एक छोटी लकीर लगा कर इस (:—) रूप में लिखते हैं।

प्रयोग—

जब किसी वक्तव्य या बात को पृथक रूप से बताना होता है तो उसके पूर्व

(ii) तेरी उल्फत की चिनगारी ने जालिम एक जहाँ फूँका—
इधर चमकी उधर चमकी-उधर सुलगी-यहाँ फूँका-वहाँ फूँका।

(५) यदि बोलने में ठिठकना पड़े तो निर्देशक चिह्न का प्रयोग किया जाता है जैसे—

हमें चिन्ता है—कि—आपके दर्शन नहीं होंगे।

सूचना—नाटक-ग्रन्थों में पात्रों के नाम के बाद (उनकी उक्ति से पूर्व) निर्देशक-चिह्न (—) ही लगाया जाता है जैसे—

राम — तुम घर ही रहो सीता।

(ख) अन्य चिह्न

१ कोष्ठ (कोष्ठक-चिह्न)—Brackets ( ) { } [ ]।

प्रयोग—(क)-किसी पद, वाक्यांश या वाक्य को अथवा किसी अन्य वाक्य वाक्यांश या पद को कोष्ठक-चिह्नों के भीतर रखते हैं जैसे—

(i) बातों का क्रम (सिलसिला) ठीक है।

(ii) यह सरस्वती (प्रयाग) के पाँचवें अंक में छपा था।

(ख)-यदि कई पद, वाक्यांश या वाक्य ऊपर-नीचे लिख कर घेरे जायें तो इन [ ] { } ( ) चिह्नों से घेरते हैं।

सूचना—कोष्ठक-चिह्नों का प्रयोग अधिकांशतः गणित में होता है।

२ उद्धरण-चिन्ह (Inverted Comma)—' "

इस चिह्न को अवतरण-विराम भी कहते हैं।

प्रयोग—जिस उक्ति को अविकल रूप में उद्धृत करना हो या लेख के जिस छोटे या बड़े अंश पर विशेष ध्यान की आवश्यकता हो उसे इन चिह्नों के भीतर रखते हैं जैसे—

शिक्षक ने कहा—"बालको ध्यानपूर्वक सुनो।

सूचना—यदि एक व्यक्ति की उक्ति के अन्तर्गत दूसरे व्यक्ति की उक्ति भी आ जावे तो उसे इकहरे उद्धरण-चिह्नों के भीतर रखते हैं जैसे—

(i) गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है— 'राम ने ब्राह्मण को प्रणाम किया। उसने आशीर्वाद देते हुए कहा— 'दीर्घायु हो।'

३ योजक चिन्ह (Hyphen) (-)

(क) जब किसी समस्त शब्द को उसके खंडों में लिखा जाता है तो दो या अधिक खंडों के बीच में इस चिह्न का प्रयोग किया जाता है जैसे—

(i) राम-वन-गमन के समय लक्ष्मण उदास होकर राम के सामने खड़े हो गये।

(ii) सुख-धाम राम आपकी जय हो !

(iii) खेल-कूद प्रतियोगिता में सौ से ऊपर खिलाड़ी थे।

(ख) यदि कोई शब्द पंक्ति के अन्त में सम्पूर्ण न लिखा जा सके तो उसके किसी खंड को उस पंक्ति में लिख कर यह चिह्न लगा देते हैं और अवशिष्ट खंड दूसरी पंक्ति में लिख दिया जाता है, जैसे—

(i) दिन भर मैं पेट-भर भोज
न भी कठिनता से मिलता था।

(ii) राम ने श्याम को दो घड़ियाँ औ-
र एक कलम दी।

४ वर्जन या लोप चिह्न (——) या (ˉ) (×××)

प्रयोग—(क)-किसी लेख में जब एक या अधिक वाक्य शब्द या अक्षर अप्रकाशित रखने हों तब वर्जन-चिह्न लगाया जाता है, जैसे—

उसने कह कर........ गाली दी।

(ख) यदि किसी वर्णन का कुछ अंश लिखने से सम्पूर्ण का बोध हो जाये तो शेष के लिए वर्जन-चिह्न प्रयुक्त होता है जैसे—

(i) आगे चले बहुरि........ ——रूप्यमूक पर्वत नियराई।

(ii) उज्ज्वल बरसात वैभवा का सौन्दर्य जिसे..........।

५ लाघव चिह्न (०)

प्रयोग—जब कोई शब्द बार-बार लिखना पड़ता है और वह बड़ा भी होता है, तब उसका पहला अक्षर लिख कर उसके आगे यह चिह्न लगा दिया जाता है, जैसे—

(i) रामचरितमानस — रा० च० मा०

(ii) तुलसीदास — तु०

(iii) अध्यात्मरामायण — अ० रा०

(iv) महात्मा गांधी — म० गां०

(v) तारीख — ता०

(vi) संवत् — सं०

नाटक आदि में राम कृष्ण शकुन्तला आदि नामों को बार-बार न लिख कर उनके स्थान पर रा० कृ० श० आदि से काम चलाया जाता है। कोष-ग्रंथों और पाद-टिप्पणियों में इसका अधिक प्रयोग किया जाता है।

कभी-कभी पहला, दूसरा, तीसरा आदि के स्थान पर १ ला २ रा, ३ रा आदि का प्रयोग भी कर लिया जाता है ।

६ त्रुटिचिह्न—

प्रयोग—लेख में किसी प्रकार शब्द, पद वाक्यांश या वाक्य के छूट जाने पर त्रुटिचिह्न लगा कर छूटा हुआ अंश ऊपर या किनारे पर लिख दिया जाता है, जैसे—

दाल

बाजार से आटा ^ और चीनी लाना । दाल

७ तारकादि चिन्ह— (*, +, आदि)

प्रयोग—यदि किसी प्रकार शब्द, पद वाक्यांश या वाक्य के संबंध में कुछ अधिक लिखना हो तो उसके ऊपर या आगे यह चिह्न लगाया जाता है और पन्ने के अधोभाग में पाद टिप्पणी में वैसा ही चिह्न लगा कर तत्संबंधी बातें लिखी जाती हैं ? जैसे—

१७

निरति* उससे आगे की स्थिति है । इसको दर्शन में असंप्रज्ञात समाधि भी कहते हैं ।

---

*निरति के सादृश्य पर यह बना हुआ शब्द है ।

(ग) भारतीय भाषा-विज्ञान का इतिहास

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ योरप में हुआ। भारतीय भाषा-विज्ञान का इतिहास बहुत प्राचीन है। वैदिक भाषा से सम्बन्धित अध्ययन भारतीय भाषा-विज्ञान की प्रारम्भिक कड़ी है। यह कहना ठीक हो सकता है कि हमारे देश में भाषा के सभी पक्षों का इतना सुव्यवस्थित अध्ययन प्राचीन काल में नहीं हुआ था किन्तु हमारे प्राचीनों ने भाषा के अनेक पारिपार्श्वों को अपने ढंग से बड़ी सूक्ष्मता से निरखा-परखा था।

भाषावैज्ञानिक अध्ययन के आधुनिक स्वरूप का श्रेय पाश्चात्यों को मिलना चाहिये इसमें कोई दो मत नहीं हैं किन्तु भारतीय मनीषियों ने प्राचीन काल में भाषा-क्षेत्र में जो कार्य किया वह उनको गुरुता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

विगत दो-ढाई शताब्दियों से योरप भाषा-अध्ययन का केन्द्र बन गया है। आज इस दिशा में अमेरिका का नाम भी स्मरणीय है। वहाँ के विद्वानों ने इस युग में जो काम कर दिखाया है वह भी अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनकी कृति-प्रणाली स्तुत्य होते हुए भी सर्वथा उनकी नहीं है। उसमें भ्रान्तियाँ भी हैं और पूर्वाग्रह भी हैं। यह देख कर भारतीय भाषाविदों की आँखें खुल गयी हैं कुछ तो इस कारण कि उनकी मेधा में अनुकरणात्मक भँवराई भी है और कुछ इस कारण कि अज्ञानपन या सयानपन से पश्चिम के कुछ विद्वानों ने भारतीय मनीषा के संचय का दुरुपयोग किया है।

जो हो भाषा के अध्ययन का इतिहास बड़ा रोचक ही नहीं विस्मयकारी भी है। अतएव मुझे यह उचित ही प्रतीत होता है कि मैं इस ग्रन्थ में इस इतिहास का संक्षिप्त रूप भी प्रस्तुत कर दूँ।

मेरा लक्ष्य भाषा-विज्ञान का समग्र इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है वरन् भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित कार्यों की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करना है। देश-विदेश में हुए इस कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (क) प्राचीन कार्य तथा (ख) आधुनिक कार्य।

(क) प्राचीन कार्य

यह सिद्ध हो चुका है कि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का श्रीगणेश भारत में ही हुआ था। भारत में वेदों को अद्वितीय गौरव प्राप्त हुआ। वैदिक ऋषियों ने मंत्रों को सुरक्षित रखने के लिये कण्ठस्थ करने का निर्देश दिया। इस परम्परा ने वेदों को श्रुति' अभिधा प्रदान करायी। वेद और काल

का भेद अविस्मरणीय है और यह भेद कण्ठस्थ मन्त्रों के उच्चारण में भी भेद डाल सकता था यह प्रश्न वैदिक ऋषियों के समक्ष चिन्ता का विषय बन गया। जब वैदिक मंत्रों के उच्चारण में भेद होने लगा तो उनके मूल रूप को सुरक्षित करने की आवश्यकता भी बलवती हुई और इसी आवश्यकता ने भारत में भाषा अध्ययन के द्वार खोल दिये। यह अध्ययन सबसे पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

ब्राह्मण ग्रंथ]

कुछ वैदिक विधियों और पद्धतियों के विवेचन के लिए ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई जिनमें भाषा की कुछ समस्याओं पर भी विचार किया गया। शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से भारतीय भाषा-विज्ञान के इतिहास में ब्राह्मण ग्रंथों का नाम अविस्मरणीय है। यह ठीक है कि यह अध्ययन बहुत वैज्ञानिक नहीं है किन्तु प्रथम प्रयास के रूप में यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। यों तो इन ग्रंथों में कुछ बातें ध्वनि और व्याकरण से संबंधित भी मिलती हैं, किन्तु वे स्वतंत्र अध्ययन के रूप में नहीं हैं, केवल उदाहरण-स्वरूप हैं। वैज्ञानिक अध्ययन पद-पाठ में हुआ है।

पद-पाठ]

इनमें भाषा का कुछ अधिक वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है। इनमें वैदिक मंत्रों को पद-पद से संजोया गया है। संधि-समास के साथ उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरों का विवेचन भी किया गया है। पद-पाठ के प्रस्तोता के रूप में शाकल्य ऋषि का नाम प्रसिद्ध है। इस अध्ययन के पश्चात् प्रातिशाख्यों का स्थान है।

प्रातिशाख्य]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विकास-परंपरा में जन भाषा ही वैदिक भाषा बन गयी। धीरे-धीरे वैदिक भाषा जन भाषा से दूर होती गयी सामान्य लोगों के लिए वह दुरूह एवं दुर्बह बनती गयी। वैदिक भाषा के मौलिक उच्चारणों में सामान्य लोग अशुद्धियाँ करने लग। उदात्त अनुदात्त स्वरों का भेद लुप्त होने लगा कुछ उच्चारणों के अभाव से वेद-मंत्रों के विपरीत प्रभाव की आशंका व्यक्त की जाने लगी और अशुद्ध उच्चारण करने वाल को दोष का भागी ठहरा कर उच्चारण-शुद्धता की रक्षा का प्रयत्न किया जाने लगा। वन्ति ध्वनियों की उच्चारण-शुद्धता की भावना ने उनके वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता को प्रखर बना दिया। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई।

ये रचनाएँ विश्व में ध्वनि के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वप्रथम प्रयास हैं। इनमें वैदिक परंपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए उच्चारण-संबंधी विशेष पहलुओं से वैदिक ध्वनियों का अध्ययन किया गया है। प्रातिशाख्य का अर्थ है प्रतिशाखा से संबंधित।

यह माना जाता है कि मूल प्रातिशाख्य उपलब्ध प्रातिशाख्यों से बहुत पहले के हैं। उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि के बाद के हैं। मूल प्रातिशाख्यों में ये बातें विवेचित हुई हैं—

(१) नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के नाम से पदों के चार नाम किये गये हैं।

(२) यह भी अनुमान लगाया जाता है कि प्रातिशाख्यों में संज्ञा के विशेषण उनके सामान्य लक्षणों के विवेचन तथा स्वयं पदों के प्रारंभिक विश्लेषण का भी प्रयास किया गया है।

(३) प्रातिशाख्यों में अपनी-अपनी संहिताओं के उच्चारण-गुणों की सुरक्षा का प्रयास है जिसमें स्वराघात (उदात्त अनुदात्त आदि) तथा मात्राकाल (ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदि) के साथ वर्णोच्चारण की शुद्धता की विवेचना भी सम्मिलित है।

यह प्रसिद्ध है कि सौरभकृत ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सर्वश्रेष्ठ है। प्रातिशाख्यों के बाद निरुक्त का समय आता है।

निरुक्त

ई० पू० ८००-७००]

निरुक्त के कर्ता यास्क मुनि थे। कुछ विद्वानों ने यास्क को पाणिनि का परवर्ती और कुछ ने पूर्ववर्ती माना है। जो हो इतना स्पष्ट है कि यास्क के पूर्व वैदिक अध्ययन में काफी प्रगति हो चुकी थी। उस समय तक भाषा-शास्त्र और व्याकरण भी अध्ययन के विषय बन चुके थे। जिस प्रकार प्रातिशाख्यों की रचना शुद्ध उच्चारण की प्रेरणा से हुई उसी प्रकार निरुक्त की रचना सही अर्थ की प्रेरणा से हुई।

कहा जाता है कि अर्थ की समस्या के समाधान के लिए वैदिकों ने 'निघंटु' नाम के वैदिक शब्द-कोशों की रचना की थी। इनमें वैदिक शब्द-संग्रह मात्र था अर्थ नहीं था। यह माना जा रहा है कि यास्क के समय में इस प्रकार के पाँच निघंटु उपलब्ध थे। यास्क का निरुक्त इनमें से किसी एक पर आधृत कार्य है।

निरुक्त पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में पर्याय क्रम से शब्द-संग्रह किया गया है संभवतः इसलिए कि अर्थ की अनुपस्थिति में भी पाठक शब्दों को समझ सकें। चतुर्थ अध्याय में वेद के अत्यन्त क्लिष्ट शब्दों का चयन है। पंचम अध्याय में वैदिक देवताओं की एक सूची प्रस्तुत की गयी है।

पहले तीन अध्यायों में यास्क ने एक-एक शब्द को लेकर उन वैदिक उद्धरणों को प्रस्तुत किया है जिनमें इनका प्रयोग मिलता है। इसके बाद उनके प्रातिपदिक आदि की विवेचना के साथ उन्हें अनेक रोचक सामाजिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में रख कर उनके (शब्दों के) अनुगामी इतिहास का परिचय देने का प्रयास किया गया है। स्थान-स्थान पर मतभेदों की ओर भी संकेत किया गया है।

व्याकरण]

यास्क ने अपने निरुक्त में कतिपय व्यक्तियों एवं संस्थाओं का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि उस समय व्याकरण का अध्ययन भी समुन्नत दशा में था। आग्रायण, आग्रायस्य औदुम्बरायण आदि नाम इस बात के प्रमाण हैं। यद्यपि इनकी कोई कृति आज न तो उपलब्ध है और न किसी का ज्ञान है फिर भी व्याकरण के क्षेत्र में हुए अध्ययन का निषेध नहीं किया जा सकता।

व्याकरण के क्षेत्र में यास्क की देन मात्रा की दृष्टि में न-कुछ के बराबर है किन्तु जो कुछ उसने कहा है उससे बड़ी महत्वपूर्ण प्रेरणा मिली है। यास्क ने सबसे पहले यह प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक संज्ञा शब्द किसी-न-किसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है। पाणिनि ने आगे चलकर अपने समस्त काम को उसी सिद्धान्त पर आधारित किया।

अष्टाध्यायी के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता कि उसमे प्रतीकात्मक तथा बीजगणितात्मक प्रणाली का प्रयोग है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के पूर्व कतिपय ऐसे अध्ययन रहे होंगे जिनका अब पता नहीं है किन्तु पाणिनि ने उनको दृष्टिगत करके ही अपनी महती कृति की रचना की।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों में कुछ ऐसे पद या शब्द[1] भी प्रयुक्त हुए हैं जिनकी व्याख्या नहीं की गयी है। इससे भी यही पुष्टि होती है कि पाणिनि ने इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं समझी क्योंकि व्याकरणिक अध्ययन की धारा में इन शब्दों का प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हो चुका होगा और पाणिनि ने परम्परागत प्रयोगों के अनुसार ही उनका प्रयोग कर दिया। इसलिए उन्होंने पूर्वपरिचित शब्दों की व्याख्या एक प्रकार से अनावश्यक समझी।

आपिशलि तथा काशकृत्स्न]

पाणिनि के पूर्व आपिशलि और काशकृत्स्न की दो प्रसिद्ध व्याकरण शालाएं रही थीं जिनका उल्लेख काशिका में मिलता है। काशिका में आपिशलि का एक नियम[2] दिया हुआ है जिससे अन्यत्र यह सूचना भी मिलती है कि काशकृत्स्न

१– I. १ ६६ II. ३ ४६ II १ २ आदि

२– "आपिशलास्तुरस्तुयान्यम सार्वधातुकासु सप्तमीति पठन्ति"— काशिका ७ १ ६५

के व्याकरण में सूत्र हैं जो तीन अध्यायों में विभक्त हैं । कैयट[1] ने भी इन दोनों ही वैयाकरणों के उद्धरण देकर इनके भूतत्व को सिद्ध किया है । इन दोनों व्याकरणों के संबंधमें अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है ।

इन्द्र]

पाणिनि ने 'पौर्वात्यों' के सामान्य विवरण में इन्द्र अथवा इन्द्रपोमिन का भी नाम लिया है । इसका पता तो कथासरितसागर से भी चल जाता है कि पाणिनि ने जिस शाखा की सस्थापना की वह ऐन्द्र शाखा के नाम से प्रसिद्ध थी । कात्यायन (वररुचि), व्याडि और इन्द्रदत्त इसके प्रमुख समर्थक थे । कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि संस्कृत व्याकरण का प्राचीनतम रूप इन्द्र के व्याकरण में निहित है ।

पाणिनि के अतिरिक्त अन्य वैयाकरणों ने भी ऐन्द्र व्याकरण की उपलब्धियों को स्वीकार किया है । प्रातिशाख्य एवं कातन्त्र तक ऐन्द्र व्याकरण की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं । इन सभी ग्रन्थों का अन्तिम निर्णय यही है कि इन्द्र पाणिनि के पूर्ववर्ती थे । ऐन्द्र व्याकरण की शब्दावली बड़ी सरल एवं संक्षिप्त है जो बर्नेल महोदय को यह स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है कि इन्द्र पाणिनि के पूर्ववर्ती थे किन्तु कीलहार्न आदि कुछ अन्य मनीषी इन्द्र को पाणिनि-परवर्ती मानते हैं । उनका तर्क है कि यदि इन्द्र पाणिनि के पूर्ववर्ती होते तो पाणिनि के व्याकरण, महाभाष्य और काशिका में उनका उल्लेख कहीं तो होता । कीलहार्न का अनुमान है कि कातंत्र शाखा (ई॰ की प्रथम शती) का ही दूसरा नाम ऐन्द्र शाखा रहा होगा ।

ऐन्द्र शाखा के पश्चात् वैयाकरणों की अनेक शाखाएँ चलीं जिनमें प्रसिद्ध ये हैं—पाणिनि शाखा चान्द्र शाखा, जैनेन्द्र शाखा, शाकटायन शाखा, हैम शाखा कातंत्र शाखा सारस्वत शाखा बोपदेव शाखा जौमर शाखा तथा सौपद्म शाखा ।

१ पाणिनि शाखा

पाणिनि]

इनका समय अभी तक निश्चित नहीं है । डा॰ पेटर्सन ने इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है । पिशेल की मान्यता है कि पाणिनि का समय ईसा की पाँचवीं शती के आसपास है । मैक्समूलर ने ईसा-पूर्व ३५० के आसपास पाणिनि का होना बतलाया है तथा भंडारकर एवं गोल्डस्टकर ने भी पिशेल की मान्यता का ही समर्थन किया है ।

१-कैयट १ १ २१

मैक्समूलर के मतानुसार पाणिनि और कात्यायन समकालीन हो जाते हैं। कात्यायन वही सज्जन हैं जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। भण्डारकर तथा गोल्डस्टूकर ने पाणिनि का समय ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माना है। इन सब तर्कों का सम्यक् अध्ययन करके श्री वेलवाल्कर ने पाणिनि का समय ई० पू० ७०० और ६०० के बीच माना है।

पाणिनि को लोग शालातुरीय के नाम से भी जानते हैं। यह नाम सम्भवतः उनकी जन्मभूमि शालातुर (वर्तमान लाहौर) से संबद्ध होने के कारण पड़ा हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनकी माँ का नाम दाक्षी[1] था।

पाणिनि की व्याकरणिक रचना 'अष्टाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है जो आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय चार चार पादों में विभक्त है। इसमें लगभग चार हजार सूत्रों का संनिवेश है। विद्वानों के लिए अष्टाध्यायी बड़ी सरल प्रतीत हो सकती है किन्तु उसके सूत्र एक दूसरे से इतने अधिक सम्बद्ध और जटिल हैं कि लोग पढ़ने को हतोत्साह हो जाते हैं। यह जटिलता प्रमुखतः सूत्र शैली के कारण है। उनकी शैली पूर्ववर्ती वैयाकरणों की शैली का स्वाभाविक विकास है। पाणिनि-प्रयुक्त प्रत्याहार एवं अनुबन्ध इस शैली के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्याहारों में चौदह शिव-सूत्रों की सहायता से संस्कृत की समग्र वर्णमाला प्रस्तुत कर दी गयी है। अनुबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यही मान्यता है कि वे पाणिनि की मौलिकता के उद्घोषक हैं फिर भी कुछ लोग इसे पाणिनि द्वारा आविष्कृत पद्धति नहीं मानते क्योंकि यह पद्धति पहले से चली[2] आ रही थी। अपनी मान्यता के समर्थन में वे लोग महाभाष्य के उद्धरण भी देते हैं।

समस्त धातुएं दस गणों में विभक्त की गई हैं। पाणिनि ने अपने सूत्रों में गण के प्रथम शब्द को ही दिया है। गणों में से कुछ पूर्ण और कुछ आकृति-गण हैं।

पाणिनि-सूत्रों की सबसे बड़ी विशेषता घ घप् मुक् अनु सुप आदि प्रतीकों की स्थापना में है जो संक्षेपीकरण के निमित्त है। सूत्रों में पाणिनि ने ऐसे शब्दों को समाविष्ट नहीं किया जो पूर्ववर्ती सूत्र के रूप अथवा अर्थ से स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को 'अनुवृत्ति' नाम से अभिहित किया गया है। पाणिनि ने अपने कुछ सूत्रों को अधिकार-सूत्र कहा है। अधिकार-सूत्र स्पष्टीकरण के लिये पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से बार बार दुहराया जाता है।

---

१ देखिये पतंजलि महाभाष्य (कीलहार्न द्वारा सम्पादित Vol I पृ० ७५)

२ महाभाष्य — ७ १ १८ अथवा

"पूर्वसूत्रनिर्देशश्चायम् पूर्वसूत्रेषु येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते।"

पाणिनि ने कुछ परिभाषाओं का प्रयोग भी किया है जिनमें स कुछ मौलिक एवं कुछ पूर्व-प्रचलित थीं। उन परिभाषाओं का मर्म उन्होंने अपने परवर्ती व्याकरणों के लिए छोड़ दिया है।

धातुपाठ, गणपाठ एवं उणादि सूत्र भी पाणिनिकी प्रमुख रचनाएं हैं। कुछ लोग उणादि सूत्र को शाकटायन की कृति मानते हैं किन्तु उन पर पाणिनीय प्रणाली की गहरी छाप इस मान्यता का प्रतिवाद करती है। हाँ कुछ सूत्र प्रक्षिप्त हो सकते हैं। पाणिनि के बाद बहुत महत्त्वपूर्ण नाम कात्यायन का है।

कात्यायन]

कात्यायन ने पाणिनि की कृति पर वार्तिक लिखा है जिसमें उन्होंने पाणिनि के कुछ नियमों को शुद्ध किया है और कुछ को स्पष्ट किया है। कात्यायन की दो प्रमुख रचनाएं हैं प्रथम वाजसनेयी प्रातिशाख्य है जिसमें उन्होंने वाजसनेयी संहिता के व्याकरण और उसकी लेखन-प्रणाली पर विचार किया है। इसके अन्तर्गत कात्यायन ने पाणिनि के उन्हीं सूत्रों पर विचार किया है जो विषय स सम्बद्ध हैं। इतर कृति में पाणिनि के दोष-दर्शन का प्रयत्न है।

ऐसी बात नहीं है कि पाणिनीय नियमों के प्रति कात्यायन का सन्देह और विरोध केवल सन्देह और विरोध के लिए नहीं है वरन् उन्होंने सन्देहों को दूर करने का प्रयत्न भी किया है। कात्यायन के कुछ वार्तिक गद्य में हैं और कुछ श्लोकबद्ध। पाणिनि की आलोचना करते समय कात्यायन ने कहीं कहीं शब्दावली भी बदल दी है जैसे 'अच्' के लिए 'स्वर' तथा 'हल्' के लिए 'व्यंजन' आदि। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कात्यायन का सम्बन्ध किसी अन्य व्याकरण शाखा से था। संभवतः इसीसे पतंजलि ने उन्हें 'दाक्षिणात्य' कहा है।

अपने प्रातिशाख्य में कात्यायन ने शाकटायन तथा शाकल्य का उल्लेख भी किया है। पाणिनि ने भी इन पूर्ववर्तियों का उल्लेख किया है। वार्तिक में वाजप्यायन व्याडि[1] और पौष्करसादि का उल्लेख किया गया है जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। महाभाष्य के उल्लेखों में कात्यायन के उत्तराधिकारियों के भी नाम आये हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं है। कात्यायन के बाद पतंजलि का नाम उल्लेखनीय है।

पतंजलि]

इनका समय १५० ई० पूर्व माना जाता है। पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इन्हें विद्वत्ता के कारण प्रभूत सम्मान मिला था। इनकी प्रमुख कृति महाभाष्य

१ महाभाष्य में व्याडि की पुस्तक 'संग्रह' का उल्लेख मिलता है।

है था। पाणिनि की अष्टाध्यायी की भाँति आठ अध्यायों में विभक्त की गयी है जो चार चार पादों में विभक्त है। प्रत्येक पाद एक से लेकर नौ आह्निकों[1] में विभक्त है।

महाभाष्य में पाणिनि के उन सूत्रों की चर्चा हुई है-(१) जिन्हें कात्यायन ने अपने वार्तिक के लिए चुना था (२) और जिन्हें पतंजलि ने अपूर्ण और सुधार-योग्य समझा था।

पाणिनीय शाखा के इतिहास में पतंजलि का महाभाष्य प्रथम युग की प्रथम कृति है। पाणिनि कात्यायन और पतंजलि ने व्याकरण के अध्ययन को नियमित एवं वैज्ञानिक बनाने का यश प्राप्त किया है। इनकी विशेषता यह है कि इनमें से प्रत्येक ने जीवित भाषा को अध्ययन का विषय बना कर 'व्याकरण' को अपने ज्ञान से भावित किया। ये तीनों 'मुनित्रयम्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके बाद चन्द्रगोमिन का स्थान बताया जाता है।

चन्द्रगोमिन]

ये बौद्ध थे। इन्होंने मुनित्रयम् की कृतियों का गहन अध्ययन किया था। इसी अध्ययन के आधार पर इन्होंने महाभाष्य के बाद की भाषा का अध्ययन किया। इनकी व्याकरण-रचना का एक अभिप्राय बौद्धों के लिए ब्राह्मण-तत्त्वों से विमुक्त व्याकरण का सृजन था। वैयाकरणों की परंपरा में कश्मीर के जयादित्य को जिनके साथ वामन का नाम भी जुड़ा हुआ है, विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

जयादित्य तथा वामन]

चीनी यात्री इत्सिंग ने कश्मीर के जयादित्य का उल्लेख वृत्ति-सूत्रकार (वृत्ति-सूत्र नाम के व्याकरण का लेखक) के रूप में किया है। यह कृति काशिका[2] की निकटवर्तिनी है। बहुत से विद्वान् तो 'काशिका' और 'वृत्ति-सूत्र' को एक ही व्यक्ति की रचना मानते हैं। कहा जाता है कि जयादित्य ६६० ई० के आसपास विद्यमान थे। इनके बाद वैयाकरणों में बौद्धाचार्य जिनेन्द्रबुद्धि का नाम आता है।

---

१ आह्निकों' शब्द भी मिलता है।

२-'काशिका' जयादित्य और वामन की संयुक्त कृति है। विद्वानों का विचार है कि इसके प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य तथा शेष तीन वामन द्वारा विरचित हैं। 'काशिका' पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखी गयी सुन्दर व्याख्या है। सूत्रों द्वारा व्याख्या की भी अनुवृत्तियाँ की गई हैं। संकेत तथा उदाहरणों के साथ नियमों का बोध कराया गया है। चन्द्रगोमिन द्वारा किये गये समस्त विकासों को पाणिनीय पद्धति में समन्वित करना ही 'काशिका' की रचना का उद्देश्य था।

जिनेन्द्रबुद्धि]

इन्होंने अपने को 'श्री बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' कहा है। इनकी कृति का नाम 'काशिका-न्यास' है जिसे 'काशिका-विवरण-पञ्जिका' भी कहा गया है। यह 'काशिका' पर लिखी हुई टीका है। इसकी पद्धति काशिका-जैसी ही है। इसमें नवीनतम विकासों का सन्निवेश है। इनके पश्चात् भर्तृहरि का नाम स्मरणीय है।

भर्तृहरि]

इनकी मृत्यु अनुमानतः ६५० के आसपास हुई थी। इनकी व्याकरण-दर्शन से संबंधित प्रसिद्ध कृति 'वाक्यपदीय' है। यह छन्दोबद्ध रचना है जो तीन काण्डों में विभक्त है – ब्रह्म या आगम कांड, वाक्य कांड तथा पद या प्रकीर्ण कांड। इसमें बहुत से वैयाकरणों का भी नामोल्लेख है। इनके अनुवर्तियों में कैयट प्रसिद्ध हैं।

कैयट]

इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रदीप' है जिसमें इन्होंने भर्तृहरि की शैली को अपनाया है। इस बात को इन्होंने अपनी भूमिका में भी स्वीकारा है। इन्होंने 'प्रदीप' में महाभाष्य का स्पष्टीकरण बड़ी सफलता से किया है। कैयट के अनुगामियों में नागोजि भट्ट, नारायण तथा ईश्वरानन्द प्रमुख हैं। पहले और तीसरे ने 'प्रदीप' पर टिप्पणी और दूसरे ने 'विवरण' लिख कर पाणिनीय स्कूल के कार्य को आगे बढ़ाया। इन तीनों व्यक्तियों से पूर्व दक्षिणदेशीय हरदत्त का नाम भी उल्लेखनीय है।

हरदत्त]

इनकी प्रसिद्ध कृति 'पदमंजरी' है जो कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' पर आधृत मानी गयी है। विद्वानों का मत है कि 'काशिका' पर यह भी एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है। इनके कई सदी बाद विमल सरस्वती का आविर्भाव हुआ।

विमल सरस्वती]
(१३५० ई०)

इनकी कृति का नाम 'रूपमाला' है जो कौमुदी-शैली में है। इसमें पहले तो प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा पर विचार किया गया है। फिर चार वर्गों में स्वरसंधि, प्रकृतिभाव, व्यंजन और विसर्ग-संधि का विवरण है। तत्पश्चात् रूपों (Declensions) का विवरण है। बाद में निपात, स्त्री-प्रत्यय और कारक लिये गये हैं। धातुओं से सम्बन्धित वर्ग सबसे बड़ा है। इसके पश्चात् 'कृत्' और 'तद्धित' का विवेचन है। अन्त में समास-विवेचन है। कौमुदी-परंपरा के प्रणेताओं में रामचन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है।

रामचन्द्र]

ये महोदय पन्द्रहवीं शती में विद्यमान थे। इनकी प्रसिद्ध कृति 'प्रक्रिया-कौमुदी' है। यह कृति 'रूपमाला' के करीब सौ वर्ष बाद की है। विद्वानों का मत है कि भट्टोजि की 'सिद्धान्त-कौमुदी' के लिए 'प्रक्रिया-कौमुदी' एक आदर्श प्रस्तुत करती है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इस पर लिखी गयी टिप्पणियों से लगाया जा सकता है।

भट्टोजि]

इनकी 'सिद्धान्त-कौमुदी' को भला कौन-सा संस्कृत-पाठक नहीं जानता होगा। संस्कृत व्याकरणों में यह बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह कृति पाणिनि-व्याकरण की व्याख्या है किन्तु अष्टाध्यायी से अधिक लोकप्रिय हुई है। इसमें समस्त उपलब्ध व्याकरणिक सामग्री का उपयोग किया गया है। कुछ विद्वानों ने हेमचन्द्र के शब्दानुशासन को सिद्धान्त-कौमुदी का आदर्श बतलाया है। इस पर उन्होंने 'प्रौढ़-मनोरमा' नाम से एक टीका भी लिखी जिसका संक्षिप्त रूप 'बाल मनोरमा' है। भट्टोजि ने पाणिनि के धातुपाठ, लिंगानुशासन आदि पर छोटी-छोटी टीकाएं लिखने के अतिरिक्त अष्टाध्यायी की एक बड़ी टीका भी लिखी है जो 'शब्द कौस्तुभ' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी योजना 'काशिका' की पद्धति पर की गयी है।

२ चान्द्र शाखा

वैयाकरणों के इस वर्ग का परिचय हमें 'भर्तृहरि' के वाक्यपदीय में मिलता है। इसके प्रवर्तक चन्द्रगोमिन थे।

चन्द्रगोमिन]

विद्वानों का मत है कि चन्द्र अथवा चन्द्रगोमिन काशिका-लेखकों के पूर्ववर्ती रहे होंगे क्योंकि काशिकाकारों ने चन्द्र के कुछ ऐसे सूत्रों को अपना लिया है, जिनका पाणिनि और कात्यायन की कृतियों में अभाव है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्र का समय ४५० ई० के आसपास रहा होगा। समस्त विवरण इस निष्कर्ष की ओर प्रेरित करते हैं कि चन्द्रगोमिन बौद्ध थे।

इनके व्याकरण का लक्ष्य पाणिनि कात्यायन और पतंजलि के व्याकरणों को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करना था। परिष्कृति के लिए इन्होंने संक्षिप्तता का आश्रय लिया और अतिसंक्षिप्तता के चक्कर में वैदिक स्वरपाठ से संबंधित पाणिनि के नियमों को भी छोड़ गए। फिर भी ये धातुपाठ में वैदिक धातुओं को सम्मिलित करने के लोभ का संवरण न कर सके। वास्तव में केवल पैंतीस सूत्र ही मौलिक हैं जिनका उपयोग काशिका में किया गया है। इनके समस्त सूत्रों की संख्या इकत्तीस सौ है। इनके व्याकरण में कुल छै अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं। पाणिनि के प्रथम दो अध्यायों का उपयोग ही समस्त ग्रन्थ में

मिलता है। चन्द्रगोमिन व्याकरणिक सामग्री को इस क्रम से व्यवस्थित करना चाहते थे कि स्वमि आदि से संबंधित नियम एकत्र हो जायें। इनकी शब्दावली में पाणिनि का अनुकरण है फिर भी कहीं-कहीं परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं।

छै अध्यायों में प्रस्तुत सूत्रों के अतिरिक्त चन्द्रगोमिन ने तीन भागों में उणादि सूत्रों दसवर्गों में धातुपाठ तथा लिंगकारिका अथवा लिंगानुशासन, गणपाठ उपसर्गवृत्ति तथा वर्णसूत्रों को भी एकत्र किया है। उणादि की विवरण-पद्धति में पाणिनि का अनुकरण है।

धर्मदास]

इन्होंने चन्द्रगोमिन के व्याकरण पर एक टीका लिखी जिसके साथ इन्होंने स्वयं चन्द्रगोमिन द्वारा लिखी गयी वृत्ति को भी सम्मिलित कर लिया।

धर्मदास की टीका के अतिरिक्त चन्द्रगोमिन के व्याकरण पर कुछ अन्य टीकाएं भी लिखी गयीं। उनमें से कुछ तिब्बती भाषा में अनूदित मिली हैं। संभवतः बौद्धों के समय में व्याकरण पर कुछ और कार्य भी हुआ होगा किन्तु उसकी विशेष जानकारी अभी तक नहीं मिली है।

३ जैनेन्द्र शाखा

इस शाखा का नाम जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर जिन अथवा महावीर तथा इन्द्र के सम्मिलित नाम से संबद्ध किया गया है। कहा गया है कि इन्द्र ने जिन से प्रश्न किया और उन्होंने उत्तर में व्याकरण बतलाया। इसी कारण व्याकरण का नाम 'जैनेन्द्र' पड़ा। इसी के नाम से यह शाखा विख्यात हुई। यह शाखा या स्कूल जैन्न संप्रदाय से कुछ पहले प्रारंभ हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण का समय पांचवीं शती का उत्तरार्द्ध *माना गया है। इस व्याकरण के लघु और बृहत्* दो रूप मिलते हैं। लघुरूप में लगभग तीन हजार सूत्र और बृहत् में सात सौ सूत्र अधिक है। इनकी शब्दावली एवं विषय-व्यवस्था में भी कुछ अन्तर है।

अभयनन्दी तथा सोमदेव]

लघुरूप का विवरण अभयनन्दी ने दिया है और बृहत् रूप का अनुकरण सोमदेव ने अपनी 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नाम की टीका में किया है। सोमदेव ने इसका रचना-काल १२०५ ई० बतलाया है।

जैनेन्द्र व्याकरण में पाणिनि और वार्तिक को मिलाकर ऐसा गड़बड़ घुटाला किया गया है कि इसकी मौलिकता सन्देहास्पद हो गयी है। इसमें पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों तथा वैदिक व्याकरण के भागों को छोड़ दिया गया है।

देवनन्दी]

'पंचवस्तु' इन्हीं की कृति बतलायी जाती है। यह जैनेन्द्र व्याकरण का ही लघु एवं सरल रूप है। इसमें अभयनन्दी-द्वारा दिये गये लघुरूप के सूत्रों का अनुसरण किया गया है।

जैनेन्द्र शाखा एवं जैनेन्द्र व्याकरण के इतिहास के संबंध में अभी तक बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। बहुत सी बातों और नामों के सम्बन्ध में संशय व्यक्त किया जाता है। देवनन्दी आदि नाम इसी संशय के उत्पादक हैं।

४ शाकटायन शाखा

शाकटायन]

इन्होंने शाकटायन शाखा का प्रवर्तन किया किन्तु इन शाकटायन में उन शाकटायन का भ्रम नहीं होना चाहिये जिनकी चर्चा निरुक्त और अष्टाध्यायी में की गयी है। 'शब्दानुशासन' इन्हीं शाकटायन की रचना है जिसका उद्देश्य श्वेताम्बर जैनों को व्याकरण सिखाना था। शाकटायन के सूत्र पाणिनि के सूत्रों से मिलते जुलते हैं।

यह 'शब्दानुशासन' चार अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर ३२०० सूत्र हैं। विषय-व्यवस्था में कौमुदियों का अनुसरण किया गया है।

'शब्दानुशासन' के अतिरिक्त शाकटायन की दूसरी प्रमुख रचना 'अमोघवृत्ति' है। परिभाषा सूत्र गणपाठ, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा लिंगानुशासन भी शाकटायन की कृतियाँ मानी गयी हैं।

शाकटायन सम्प्रदाय की व्याकरणिक रचनाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है १ शाकटायन की कृतियाँ २ उनसे सम्बन्धित टीकाएँ तथा ३ टीकाओं पर लिखी गयी टीकाएँ तथा सरल व्याकरणिक रचनाएँ। शब्दानुशासन की सबसे अच्छी टीका 'न्यास' है जिसका उल्लेख माधवीय धातुवृत्ति' में किया गया है।

५ हैम या हेमचन्द्र शाखा

हेमचन्द्र]

इनकी प्रसिद्ध व्याकरणिक रचना 'शब्दानुशासन' है। हेमचन्द्र (जन्म सन् १०८८ ई०) की व्याकरण शाखा धार्मिक परम्परा से सम्बन्धित है। धार्मिक परम्परा की शाखाओं में यह अन्तिम और अति महत्वपूर्ण है। अष्टाध्यायी की

भाँति इसमें भी चार चार पादों के आठ अध्याय हैं। कुल सूत्रों की संख्या लगभग साढ़े चार हजार है। अन्तिम अध्याय में उस समय की प्राकृत भाषा का वर्णन है। सब सूत्रों का एक चौथाई इसी अध्याय में संनिविष्ट है। अन्य अध्यायों में विषय विभाजन प्राय कौमुदी-पद्धति पर हुआ है। हेमचन्द्र ने इस व्याकरण की रचना जैन राजा कुमारपाल के लिए की थी। इस ग्रन्थ में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के वचनों के सार के साथ हेमचन्द्र ने निजी कथ्य का समावेश किया है। अपने इस ग्रन्थ पर हेमचन्द्र ने 'बृहद्वृत्ति' नामक टीका भी लिखी है।

देवेन्द्र सूरि]

इन्होंने शब्दानुशासन पर एक टीका लिखी है जिसका नाम 'हेम लघुन्यास' है।

विनयविजयगणि]

इन्होंने सत्रहवीं शती के मध्य भाग में 'हैम-लघु प्रक्रिया' के नाम से एक साधारण व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इसके पच्चीस वर्ष बाद इन्होंने स्वयं 'हैम-प्रकाश' नाम से इसकी टीका लिखी।

इसके अतिरिक्त इसके आधार पर कुछ और छोटे-छोटे व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये। पन्द्रहवीं शताब्दी (टीकाकारों के समय) तक यह शाखा इसी रूप में चलती रही। तदुपरान्त अधिक लोकप्रियता को प्राप्त न होने से इसका ह्रास होने लग गया।

६ कातन्त्र शाखा

शर्ववर्मन]

इन्होंने कातन्त्र शाखा की स्थापना की और व्याकरण की कई पुस्तकों में संशोधन किया तथा पाणिनि के व्याकरण में भी कुछ परिवर्तन किये और पाणिनि के चार हजार सूत्रों को अपने सवा दो हजार सूत्रों में निचोड़ कर रख दिया। इस प्रकार शर्ववर्मन ने 'कातन्त्र' (लघुपुस्तिका) नाम को सार्थक बना दिया। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं और फिर उन टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी गयीं किन्तु इनके सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी मिल पायी है। इस व्याकरण शाखा की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसका विस्तार कश्मीर, बंगाल और लंका तक हुआ।

७ सारस्वत शाखा

अनुभूतिस्वरूपाचार्य]

ये सारस्वत शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कहा जाता है कि इनको व्याकरण सूत्रों का ज्ञान सीधे सरस्वती देवी से हुआ था। उन सूत्रों पर इन्होंने एक वार्तिक लिखा। इनकी इस कृति का नाम सारस्वत प्रक्रिया है। इस कृति पर पुन्यराज

अमृतभारती क्षेमेन्द्र चन्द्रकीर्ति माधव, वासुदेवभट्ट भवदेव मेघरत्न धनेश्वर जगन्नाथ, काशीनाथ भट्टगोपाल सहजकीर्ति हुमविजयगणि आदि ने टीकाएं लिखीं। इस शाखा की विशेषता है 'कथन की संक्षिप्तता'। इसका विस्तार उत्तर भारत—गुजरात नागपुर उदयपुर बीकानेर दिल्ली तथा बंगाल-तक हुआ। यह शाखा १२५० ई० के बाद प्रारंभ होती है।

८ बोपदेव शाखा

बोपदेव]

इन्होंने 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण की रचना की। इसमें पाणिनि का व्याकरण संक्षिप्त एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया गया। यह शाखा ई० की १४ वीं शती के आसपास विद्यमान थी।

९ जौमर शाखा

जुमरनन्दी
तथा
क्रमदीश्वर]

ये महोदय जौमर शाखा के संस्थापक थे कुछ लोग संक्षिप्त सार के लेखक क्रमदीश्वर को इस शाखा का प्रवर्तक मानते हैं। कहा जाता है कि क्रमदीश्वर ने अपनी रचना में बृहत् व्याकरणों का संक्षिप्त रूपान्तर किया है। 'संक्षिप्त सार' की रचना भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका' के आधार पर की गयी है।

१० सौपद्म शाखा

पद्मनाभदत्त]

ये मैथिल ब्राह्मण थे। इन्हीं को इस शाखा का संस्थापक माना जाता है। इन्होंने 'सौपद्म' व्याकरण की रचना की जो पाणिनि पर आधारित है। संस्कृत व्याकरण की महत्त्वपूर्ण शाखाओं में यह अंतिम और महत्त्वपूर्ण शाखा मानी जाती है।

ख आधुनिक कार्य

आधुनिक युग में भाषाओं का अध्ययन कोश व्याकरण ध्वनि अर्थ विकास आदि अनेक भूमिकाओं पर वैज्ञानिक ढंग से किया गया। भारतीय भाषाओं को अनेक पक्षों में रख कर विद्वानोंने अध्ययन का विकास किया। इस विकास में विदेशी

विद्वानों (विशेषत पाश्चात्य) का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाओं से संबंधित भाषावैज्ञानिक कार्यकी धारा भारतीय स्मृति-युग के प्रारंभ से ही बहने लगी थी। इस धारा में कोलब्रुक केन बीम्स बी ट्रम्प डा एल एच ग्रेडाय डा० ए० एफ रूडल्फ हार्नेले सरजार्ज अब्राहम ग्रियर्सन सर राल्फ लिली टर्नर ब्लूम फ्लाक प्रादि पाश्चात्य विद्वानों की लेखनी का स्मरणीय योगदान रहा है।

आधुनिक युग में देश की प्राय सभी प्रमुख भाषाओं पर देश विदेश के भाषाविदों ने काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार का भाषा-वैज्ञानिक कार्य देश में इस युग में हुआ है उसका प्र रणा-स्रोत पश्चिम है। नीचे विभिन्न भारतीय भाषाओं पर कार्य करने वाले विद्वानों और उनके कार्यों का विवरण दिया गया है।

१ वैदिक एव संस्कृत भाषा

डब्ल्यू० डी० ह्विटनी]

इन्होंने सन् १८८५ ई० में 'रूट्स वर्ब-फोर्म्स एण्ड प्राइमरी डेरीवेटिव्ज' नाम की पुस्तक लिखी तथा सन् १८८६ ई० में 'संस्कृत ग्रामर' नाम की कृति प्रस्तुत करके व्याकरण के अध्ययन को प्रेरित किया।

मैकडानेल]

इन्होंने सन् १९१६ ई० में वैदिक ग्रामर' तथा सन् १९२७ ई० में 'संस्कृत ग्रामर फोर स्टूडेंट्स' लिखकर वैदिक भाषा और संस्कृत भाषा के व्याकरणिक अध्ययन को आगे बढ़ाया।

डा० लक्ष्मण स्वरूप
वी० के० राजवाडे,
तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा

इन विद्वानों ने यास्क के 'निरुक्त' पर कार्य किया।

वाघेकर तथा
विश्वबन्धु शास्त्री

इन्होंने वैदिक भाषा पर कार्य किया।

जी० बी० पल्सुले]

इन्होंने 'ए कन्कोर्डेन्स ऑफ संस्कृत धातुपाठ्स' (संस्कृत धातुपाठों का सादृश्य) को सन् १९५५ में प्रकाशित कराया।

डॉ० ई० डी० कुलकर्णी]

इन्होंने कुछ संस्कृत क्रियाओं का अध्ययन किया।

डा० सुकुमार सेन]

इनकी कृति 'हिस्ट्री एण्ड प्री हिस्ट्री ऑफ संस्कृत (संस्कृत का इतिहास और प्राग्-इतिहास) सन् १९६० ई० में मैसूर विश्वविद्यालय में व्याख्यानमाला के रूप में प्रस्तुत हुई ।

डा० कपिलदेव शास्त्री]

इनकी रचना 'संस्कृत अर्थविचार' अपने ढंग की अनूठी है।

डा० सूर्यकान्त शास्त्री]

इन्होंने 'संस्कृत का व्याकरणात्मक कोश' लिख कर संस्कृत व्याकरण और कोश को एकत्र करने का सुन्दर प्रयत्न किया ।

डा० सुमित्र मंगेश कत्रे]

इनके सम्पादकत्व में 'ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर संस्कृत कोश' नामक कार्य डक्कन कालेज पूना में बड़ी द्रुतगति से हो रहा है

डब्ल्यू० एस० एलन]

इन्होंने प्राचीन भारत में स्वन विचार (Phonetics in Anci nt India) लिख कर प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ी ।

फ्रेंकलिन एडगर्टन]

सन् १९५३ ई० में 'बौद्धों की मिश्रित संस्कृत का व्याकरण और कोश' की रचना करके इन्हों ने भाषा अध्ययन के क्षेत्र में भारत को महत्त्वपूर्ण देन दी ।

२ मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा

ए सी. वुलनर]

इन्होंने प्राकृतों के अध्ययन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए 'इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत्स (प्राकृतों की भूमिका) की रचना की ।

आर पिशेल]

इन्होंने सन् १९०० ई० में प्राकृत बोलियों का व्याकरण लिख कर प्राकृतों के अध्ययन को गति प्रदान की ।

डा० मधुकर अनन्त महेन्दले]

इन्होंने सन् १९४८ ई० में शिलालेखीय प्राकृतों का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा ।

मनमोहन घोष]

इनकी कृति 'महाराष्ट्री प्राकृत' भी बड़े परिश्रम से लिखी गयी कृति है ।

डा० जी० बी० टागारे]

इन्होंने 'मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में नाम-रचना' लिख कर भाषा विज्ञान की ऐतिहासिक कड़ी को और आगे बढ़ाया।

डा० जी० वी० तगारे]

इनकी कृति 'अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण' ही इनका कीर्ति-स्तम्भ है। यह सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुई।

डा० सुकुमार सेन]

इन्होंने सन् १९२१ में 'मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा।

गिलहेम गायगर]

इन्होंने 'पालि साहित्य और बोली' लिख कर पालि से संबंधित कार्य को प्रेरित किया। इनके अतिरिक्त डा० ए० एम० उपाध्ये डा० ए० एम० घाटगे बापट, भिडुवेकर, पी० एल० वैद्य पी० डी० गुणे आदि विद्वानों के कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

३ आधुनिक भारतीय भाषाएँ

आधुनिक भारतीय भाषाओं पर देश विदेश के विद्वानों ने प्रभूत कार्य किया है। इनके कार्यों का विवरण विभिन्न भाषाओं के संबंध से आगे दिया जाता है।

हिन्दी

आज हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अनेक बोलियाँ हिन्दी से संबंधित हैं, इसलिए उनके अध्ययन को भी हिन्दी के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया गया है। बोली भेद की दृष्टि से कार्यकर्त्ताओं के नाम ये हैं—

हिन्दी भाषा पर काम करने वाले विद्वान्]

जी टासी लिपकॉट, एथरिंगटन एडविन, हार्नले ग्रीव्ज कोलब्रुक बीम्स केलॉग, ग्रियर्सन श्यामसुन्दरदास चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पद्मसिंह शर्मा, सुनीतिकुमार चटर्जी, कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र वर्मा चन्द्रबली पाण्डेय पादरी ग्राहम धीरेन्द्र वर्मा, उदयनारायण तिवारी बाबूमीरदार हरदेव बाहरी देवेन्द्रनाथ शर्मा।

हिन्दुस्तानी पर कार्य करने वाले विद्वान्]

फोर्बेस, प्लाट्स कोबोल जोनियर विलियम्स लिवमाइस्ट मोहीउद्दीन कादरी पद्मसिंह शर्मा आदि।

पूर्वी हिन्दी पर कार्य करने वाले विद्वान्]
हार्नले।

बिहारी पर कार्य करने वाले विद्वान्]
ग्रियर्सन, साम्पास।

ब्रजभाषा पर काम करने वाले विद्वान्]
धीरेन्द्र वर्मा हरिहर निवास द्विवेदी तथा मियाउद्दीन मिर्जा (ब्रजभाषा)।

अवधी पर कार्य करने वाले विद्वान्]
बाबूराम सक्सेना तथा रामाज्ञा द्विवेदी।

भोजपुरी पर कार्य करने वाले विद्वान्]
उदयनारायण तिवारी विश्वनाथप्रसाद तथा वाचस्पति उपाध्याय।

राजस्थानी पर काम करने वाले विद्वान्]
टेसीटरी सुनीतिकुमार चटर्जी डा॰ मेनारिया कन्हैयालाल शर्मा मैमीचन्द जैन डा॰ कन्हैयालाल सहल डा॰ सरनामसिंह शर्मा।

छत्तीसगढ़ी पर कार्य करने वाले]
हीरालाल काव्योपाध्याय।

कुमायुनी पर काम करने वाले]
हरिशंकर जोशी।

बांगरू पर काम करने वाले]
ग्राहम बेली

दक्खिनी हिन्दी पर कार्य करने वाले]
बाबूराम सक्सेना।

मैथिली पर काम करने वाले]
ग्रियर्सन जयकान्त मिश्र सुभद्र झा।

हिन्दी भाषा से सम्बन्धित प्रमुख कृतियों के नाम ये हैं—

१ ए कम्पेरेटिव ग्रामर ग्राफ माडर्न एरियन लैंग्वेजेज ग्राफ इंडिया—तीन खंड —बीम्स
२ ग्रामर ग्राव द हिन्दी लैंग्वेज — केलॉग
३ ग्रैमर ग्राव द ईस्टर्न हिन्दी — हार्नले।
४ माडर्न वर्नाक्युलर — ग्रियर्सन
५ सेविन ग्रैमर्स ग्राव द डाइलेक्ट्स एण्ड सबडाइलेक्ट्स ग्राव बिहारी लैंग्वेज — ग्रियर्सन।

६ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी — सुनीतिकुमार चटर्जी
७ हिन्दी भाषा का इतिहास — धीरेन्द्र वर्मा
८ हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास-उदयनारायण तिवारी
९ तवारीखे जबाने उर्दू – मसऊद हुसन खाँ
१० इवाल्यूशन आव अवधी
११ " दक्खिनी हिन्दी } बाबूराम सक्सेना
१२ राजस्थानी — टेसीटरी
१३ हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स — मोहीउद्दीन कादरी
१४ ब्रजभाषा — धीरेन्द्र वर्मा
१५ भोजपुरी भाषा और साहित्य — उदयनारायण तिवारी
१६ हिन्दी सेमैंटिक्स—हरदेव बाहरी
१७ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया — ग्रियर्सन
१८. हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप — सुमन'
१९ हिन्दी भाषा अतीत और वर्तमान — "
२० हिन्दी भाषा — देवेन्द्रनाथ वर्मा
२१ हिन्दी में प्रत्यय विचार — मुरारीलाल
२२ हिन्दी की तद्भव शब्दावली — डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'।
२३ हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु
२४ कृषकजीवन से संबंधित ब्रजभाषा शब्दावली—डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
२५ राजस्थानी कहावतें—डा० कन्हैयालाल 'सहल'
२६. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल

बंगला भाषा

१ बंगाली ग्रामर —
२ पुर्तगीज-बंगाली शब्दकोश
३ बंगाली-पुर्तगीज शब्दकोश } फ्रे मैनोल द असम्पकम
४ बंगाली ग्रैमर — विलियम करे (सन् १८०१)
५ अंग्रेजी—बंगला शब्दकोश
६ बंगला—अंग्रेजी शब्दकोश } एच० पी० फास्टर (१७६१-१८०२)
७. बंगला का व्याकरण अंग्रेजी में— राममोहन राय (सन् १८२६) बंगला अनुवाद १८३८ ई० में
८. बंगाली-संस्कृत-कोश—जी० सी० हाटन (सन् १८३८ ई०)--

९ मगध और बंगला में कोश — रामकमल सेन (सन् १८३४ ई०)
१० बंगला व्याकरण — श्यामाचरण सरकार (सन् १८५० ई०)
११ बंगला के साथ हिन्दुस्तानी का तुलनात्मक अध्ययन–डब्ल्यू० के (सन् १८६२)
१२ बंगला व्याकरण — मधुमेश्वर विद्याभूषण
१३ " — चिन्तामणि भाव
१४ बंगला भाषा का उद्गम और विकास —सुनीतिकुमार चटर्जी (सन् १९१७)
१५. बंगला-स्वन-विचार — , (सन् १९२१)
१६ बंगला व्याकरण — " (सन् १९३६)
१७ बंगला भाषा विज्ञान (निबंध-संग्रह) — विजयचन्द्र मजूमदार (सन् १९२०)
१८. बंगला भाषा का इतिहास — " "
१९. बंगला का ऐतिहासिक विकास — मुहम्मद शहीदुल्ला
२० बंगला पद-विचार — "
२१ मैमनसिंह की बोलियाँ तथा
२२ चिटगाँव की बोलियाँ — कृष्णपद गोस्वामी
२३ बंगला स्थान-नाम
२४ उत्तर बंगाल की बोलियाँ — शंभुचन्द्र चौधरी
२५ चिटगाँव की बोलियाँ — इनामुलहक
२६ बंगला में स्त्रियों की बोली — सुकुमार सेन (सन् १९२८ ई०)
२७ ब्रजबुली बोली — (सन् १९३०)
२८. श्री कृष्णकीर्तन की भाषा का व्याकरण — " (सन् १९३५)
२९. बंगला के नासिक्य और अनुनासिकता का ध्वनिवैचारिक अध्ययन — अब्दुल हई (सन् १९५३)
३० बंगला अर्थविचार — हेमन्तकुमार सरकार (सन् १९२६)
३१ वाचार्थ विज्ञान — विजनविहारी भट्टाचार्य (सन् १९३६)
३२ बंगला कोश — ज्ञानेन्द्रमोहन
३३ , — हरिचरण बनर्जी (सन् १९४६)
३४ चलन्तिका (कोश) — राजशेखर बसु (सन् १९४५)

मराठी

आधुनिक मराठी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारंभ श्री रामकृष्ण भंडारकर की विल्सन व्याख्यानमाला से प्रारंभ होता है। बाद में तो भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का द्वार खुल गया और कई विद्वानों के कार्य सामने आये जिनमें प्रमुख ये हैं—

१ महाराष्ट्री और मराठी — स्टेन कोनोव
२ गौडियन भाषाओं का व्याकरण — हार्नले
३ ज्ञानेश्वरी का व्याकरण — राजवाडे
४ मराठी भाषा की रचना — जूल्स ब्लाख
५ ज्ञानेश्वरी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — डा० पाम्बे
६ मराठी-अंग्रेजी कोश — मुल्सवर्थ
७ महाराष्ट्र शब्दकोश — दाते और कर्वे
८ मराठी धातु कोश — वी० के० राजवाडे
९ मराठी का व्युत्पत्यात्मक कोश — के० पी० कुलकर्णी
१० ज्ञानेश्वरी कोश — भावे।
११ पश्चियन-मराठी कोश — एम० टी० पटवर्धन
१२ मराठी मुहावरा कोश — दाते और कर्वे
१३ ज्ञानेश्वरी पर कन्नड़ प्रभाव — आर० बी० जहागीरदार
१४ मराठी भाषा उद्गम और विकास — आर० पी० कुलकर्णी
१५ मराठी ध्वन्यालोक — वी० के० मोदक
१६ ध्वनि-विचार — नारायण गोविंद कालेलकर
१७ मराठी ध्वनि एवं पद-विचार — अशोक केलकर।

गुजराती

गुजराती भाषाविज्ञान के प्रवर्तकों में सरजार्ज ग्रियर्सन टेसीटरी एवं टर्नर के नाम चिरस्मरणीय हैं। प्रमुख कार्य की विवरणिका इस प्रकार है —

१ गुजराती भाषानों इतिहास — व्रजलाल कालीदास
२ नर्म व्याकरण — नर्मद शंकर
३ नर्म कोश (गुजराती शब्दकोश) — „
४ गुजराती भाषा और साहित्य — एन० बी० दिवेटिया
५ प्राचीन गुजराती और राजस्थानी व्याकरण पर नोट — डा० टेसीटरी
६ गुजराती भाषा मां वर्णव्यवस्था — डा० टी० एन० दवे
७ उच्चारण-शास्त्र-प्रवेशिका — प्रन्नालाल पंचाल
८ अर्थ विचार — डा० सम्पैसरा
९ वाग्व्यापार — डा० भयाणी
१० गुजराती भाषानी उत्पत्ति — बेचरदास जीवराज दोशी
११ गुजराती भाषाशास्त्र ना विकासनी रूपरेखा — के० बी० व्यास
१२ गुजराती 'ध्वनिविचार' — डा० पी० बी० पंडित

पंजाबी

पंजाबी भाषा पर भी इन दिनों काफी काम हुआ है। इनमें से प्रमुख कार्यों की सूची इस प्रकार है —

१ पंजाबी ध्वनिविचार — डा० बनारसीदास जैन
२ पंजाबी व्याकरण — निउटन
३ लहँदी बोली — डा० सिद्धेश्वर वर्मा
४ लहँदी ध्वनिविचार — डा० हरदेव बाहरी
५ डोगरी — [१ गौरीशंकर २ तेजराम गजुरिया
६ पंजाबी और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण — हुनीचंद
७ पंजाबी-कोश — मायासिंह
८. पंजाबी बोली का इतिहास — प्यारासिंह 'पदम'
९ पंजाबी बोली का निकास ते विकास — प्रेमप्रकाशसिंह
१० मुल्तानी ध्वनियाँ — डा० परमानन्द बहल

उर्दू

१ पंजाब में उर्दू — मोहम्मद शेरवानी
२ तारीखे ज़बाने उर्दू — मसूद हुसेन
३ उर्दू लिसानियत — शौकत कादरी
४ फर्हंगे प्रासिफ़्यात – (कोश) — सईद अहमद
५. नूरुल लुगात — नैयर
६ ग्रैंट इंगलिश-उर्दू डिक्शनरी — अब्दुलहक
७ वाजा इस्तलहात — वहीदुद्दीन सलीम
८ फर्हंगे इस्तलहात — उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा संगृहीत
९ उर्दू शाहपारे — कादरी
१० देकन में उर्दू — नासिर हाश्मी
११ उर्दू-ए-क़दीम — शम्स अहमद

द्रविड़ भाषाएँ

१ द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण — काल्डवेल
२ तमिल शब्दकोष — मद्रास विश्व विद्यालय प्रकाशन
३ द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण की संरचना — प्रो० जूल्स ब्लाख
४ कोटा पाठ — डा० एम० बी० एमेनू
५ द्रविड़ भाषाओं की पुनर्संरचना — डा० भद्र कृष्णमूर्ति
६ तमिल उच्चारण — प्रो० जे० आर० फर्थ

७ कन्नड़ भाषा का इतिहास — बी० एम० श्रीकंटैया
८ „ „ — टी० एस० वेंकण्णैया
९. प्राचीनतम कन्नड़ शिलालेखों का इतिहास — श्री ए० एन० नरसिम्हैया
१० प्राचीन कन्नड़ का ऐतिहासिक व्याकरण — बी० एस० गद्दगी
११ कन्नड़ भाषा का उद्गम और मराठी से उसका संबंध — एस० बी० जोशी
१२ प्राचीन तमिल का स्वनग्रामविचार — सी० आर० शंकरन
१३ मलयालम का विकास — डा० ए० सी० सेखर
१४ ए प्रोग्रेसिव ग्रैमर आफ कामन तमिल — ए० एच० आर्डेन
१५ ए प्रोग्रेसिव ग्रैमर आफ द तेलुगु लैंग्वेज — „
१६ द ब्राहुई लैंग्वेज — सर० डी० एस० ब्रे
१७ द पारजी लैंग्वेज — टी० बरो
१८ कोलामी ए द्रविडियन लैंग्वेज — एम० बी० एमन्यू
१९ ए ग्रैमर आफ द कन्नड़ लैंग्वेज इन इंगलिश — एफ० किट्टेल

असमी

अभी तक असमी भाषा पर बहुत कम काम हुआ है। प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं —

१ असमी रचना और विकास]

इसके लेखक श्री बानीकान्त काकती हैं। यह कृति सन् १९४१ ई० में प्रकाशित हुई।

२ आसामी कोश]

गिरिधिकुमार बरुआ की यह कृति कोशक्षेत्र की बड़ी मूल्यवान् रचना है। आसामी में एक कोश श्री ब्राउन का भी प्रसिद्ध है।

उड़िया

१ ओड़िया भाषार इतिहास]

इसके लेखक पंडित विनायक मिश्र हैं। भाषा के इतिहास को इस कृति में बड़े ढंग से निरूपित किया गया है।

२ ओड़ियाकोश]

इसकी रचना श्री गोपालचन्द्र ने की। यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिये गये हैं।

३ ओड़िया भाषा तत्त्व]

यह पं० गोपीनाथ की बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना है। यह उड़िया का 'पायनीयर' कार्य कहा जा सकता है।

४ सरस भाषा तत्त्व]

श्री गिरिजाशंकर राय की यह कृति भाषा विज्ञान की भूमिका है जो सीखने वालों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। मूलतः यह व्याकरण है।

५ उड़िया में महाप्राणत्व]

६ मणिपार भाषा]

ये दोनों कृतियाँ श्री गोलोकविहारी दल की हैं। प्रथम तो इनका शोध प्रबन्ध है और द्वितीय भाषा की प्रकृति से संबंधित है।

७. उड़िया शिलालेख]

इसके रचयिता श्री के० बी० त्रिपाठी हैं।

कश्मीरी

कश्मीरी पर ईश्वर कौल की कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत में पाणिनि की प्रणाली पर इन्होंने एक व्याकरण लिखा है। कश्मीरी पर इनकी दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं—

१ कश्मीरी कोश]

इसे ग्रियर्सन ने पूरा किया

२ मात्रा-स्वर]

इस रचना में मात्रा-स्वरों का अनुसंधान किया गया है जिसे ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है।

कश्मीरी पर कुछ कार्य डा० ग्रियर्सन का भी है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कुछ कार्य 'बरूब' भाषा पर भी है।

सिंधी

१ सिंधी व्याकरण]

यह ट्रम्प की बड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है

२ सिंधी भाषा]

इस संबंध में टर्नर ने भी कुछ कार्य किया था।

३ 'अंग्रेजी-सिंधी' तथा सिंधी अंग्रेजी]

यह श्री शहानी की एक प्रामाणिक कोश-कृति है।